मानसिक चिकित्सा

Mansik Chikitsa

345

लेखक

By Lal ji Ram Shukla

लालजीराम शुक्ल, एम० बी० टी०

अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,

काशी विश्वविद्यालय

(बाल-मनोविज्ञान, सरल मनोविज्ञान, नवीन मनोविज्ञान,

शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षाविज्ञान, एलीमेन्ट्स

ऑफ एजूकेशनल साइकॉलॉजी, ग्राउन्डवर्क

आफ साइकॉलॉजी प्रभृति ग्रन्थों के लेखक)



प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,

चौक, बनारस

द्वितीय संस्करण]　　१९५०　　[मूल्य ४)

प्रकाशक—
नंदकिशोर एंड ब्रदर्स,
चौक, बनारस

लेखक की नवीन कृति

मानसिक आरोग्य

मूल्य ४)

मुद्रक—
दुर्गादत्त त्रिपाठी,
सन्मार्ग प्रेस, बनारस।

श्रद्धेय डा० भगवानदासजी
को
सादर समर्पित

दो शब्द

इस पुस्तक का उद्देश्य मन के गुप्त स्तरों का परिचय पाठकों को कराना है। अपने मन के विषय में अज्ञान रहने के कारण ही हम अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। हमारे मानसिक दुःख भौतिक दुःखों से कई गुने अधिक होते हैं। जो मनुष्य अपने मन को वश में कर के रख सकता है वही संसार में सुखी रह सकता है। परिस्थितिजन्य दुःख हमारी मानसिक दुःखी अवस्था के परिणाम मात्र होते हैं। बन्धन-मोक्ष का कारण मन ही माना गया है। योगवासिष्ठ के कथनानुसार मन सर्वशक्तिमान है; संसार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ मन द्वारा निर्मित होती हैं। मन संसार का रचयिता है और यही सुख दुःख की सृष्टि करता है।

सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कलनासु च।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ, मानसं विद्धि मानवम् (३।११५।२४)

हमारे अनेक रोग कल्पित माने जाते हैं। कल्पित रोगों से पीड़ित रहने वालों की संख्या वास्तविक रोगों से पीड़ित रहनेवालों की अपेक्षा अधिक होती है। बहुत से वास्तविक रोगों की भी जड़ मन में ही होती है। मन के शुद्ध हो जाने पर वे रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं। इस पुस्तक में मानसिक शुद्धि के कुछ वैज्ञानिक उपायों के ऊपर प्रकाश डाला गया है।

रोग का आगमन रोकना उसका उपचार करने से सरल है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य आनेवाले रोग को रोकना है। यह जितना आत्म-चिकित्सा के हेतु लिखा गया है उतना दूसरों की चिकित्सा के हेतु नहीं लिखा गया। पर अपने-आपको समझने का सर्वोत्तम उपाय दूसरों को समझना और उनकी सहायता करना है। अतएव जो लोग मानसिक रोगियों अथवा मनोविकारजन्य शारीरिक व्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों की सहायतार्थ इसे काम में लाना चाहते हैं उन्हें भी यह उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ का आधार अपना अनुभव तथा पूर्वी, पश्चिमी विद्वानों के प्रयोग हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान ने मानसिक चिकित्सा में बड़ी प्रगति की है। पश्चिम में तो प्रत्येक बड़े नगर में मानसिक चिकित्सक अपना रोजगार उसी प्रकार चलाते हैं जिस प्रकार साधारण डाक्टर लोग अपना रोजगार करते हैं। भारतवर्ष में भी पाँच-सात व्यक्ति मनोविश्लेषण चिकित्सा से मानसिक रोगियों का उपचार किया करते हैं। इनमें कलकत्ते के डा० गिरीशचन्द्र बोस (कलकत्ता यूनिवर्सिटी), पटना के डाक्टर हरिपद मायती (पटना यूनिवर्सिटी), लाहौर के प्रोफेसर लतीफ अहमद (फोरमेन क्रिश्चियन कालेज) और उदयपुर के प्रिन्सिपल कालूलाल श्रीमालीजी (सेकसरिया ट्रेनिंग कालेज) के नाम उल्लेखनीय हैं। पूर्वी ढंग से मानसिक चिकित्सा उज्जैन में कल्पवृक्ष आश्रम में होती हैं जिसके संचालक डाक्टर दुर्गाशंकरजी नागर हैं। यहाँ पर रोगियों से फीस नहीं ली जाती। इस कार्य का हेतु आध्यात्मिक है। मेरी समझ में जितनी सफलता मानसिक रोगियों की चिकित्सा में डाक्टर दुर्गाशंकरजी को मिली है उतनी भारतवर्ष के किसी भी दूसरे मानसिक चिकित्सक को नहीं मिली। इसका कारण डाक्टर दुर्गाशंकर नागर के कार्य का हेतु परोपकार ही है। मेरे द्वारा भेजे गए कई मानसिक रोगियों ने वहाँ लाभ उठाया है। डाक्टर दुर्गाशङ्कर जी अपनी चिकित्सा में निर्देश विधि का ही प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार फ्रांस के कूये महाशय करते थे। कल्पवृक्ष आश्रम के सदस्य श्री स्वामी गोविंदानंद जी भी हैं। इनके एक चिकित्सा के प्रयोग ने तो लेखक को विस्मित कर दिया था। निर्देश-विधि का आध्यात्मिक उपयोग क्या हो सकता है इसे स्वामी गोविंदानंद जी ने भली प्रकार से प्रकाशित किया है।

इस ग्रन्थ के लिखने का हेतु मानसिक रोगियों की मानसिक स्थितियों से पाठकों का परिचय कराना है। यदि किसी पाठक को कोई मानसिक रोग है—और विरला ही व्यक्ति सभी प्रकार के मानसिक रोगों से मुक्त होता है—तो उसे इस पुस्तक में वर्णित रोगियों के वृत्तान्तों के पढ़ने से अवश्य लाभ होगा। यदि कोई मानसिक रोगी इस पुस्तक के चिकित्सा भाग को कई बार पढ़े तो संभवतः उसका मानसिक रोग बिना किसी अन्य चिकित्सा के नष्ट हो जावे। मानसिक रोगियों की चिकित्सा करते समय न केवल रोगी के दबे भावों को बाहर किया जाता है वरन्

उसे प्रोत्साहित करने के लिये अनेक ऐसे मानसिक रोगियों के किस्से सुनाये जाते हैं जिनका रोग उसके रोग से मिलता-जुलता हो। उन्हें लाभ होते सुनकर रोगी के मन में आशा का संचार हो जाता है। इससे रोगी को लाभ होता है। यदि पाठक इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़े तो उन्हें न केवल मन के गहरे भागों का ज्ञान होगा वरन् उन्हें मानसिक लाभ भी होगा। इसी विश्वास से यह पुस्तक लिखी गई है। यदि दस-पाँच व्यक्तियों का भी इस प्रकार लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

मुझे मनोविश्लेषण ज्ञान का परिचय स्वामी प्रज्ञानपाद (आश्रम खान्ना पो० खान्ना, जिला बर्दवान) से प्राप्त हुआ। जब उन्होंने संन्यास नहीं लिया था और जब वे काशी विद्यापीठ में १९२१ में आचार्य योगेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के नाम से पुकारे जाते थे तब उनसे जो ज्ञात प्राप्त हुआ उसी का फल है कि यह पुस्तक लिखी जा सकी। स्वामीजी को पश्चिमी पदार्थविज्ञान, मनोविज्ञान और पूर्वी योग-विद्या का जैसा तुलनात्मक ज्ञान है और जितना अनुभव आध्यात्मिक विषयों का है वैसा किसी विरले ही व्यक्ति में पाया जाता है। उनके मानसिक चिकित्सा के प्रयोग बड़े चमत्कारिक हैं। उनका वर्णन इस पुस्तक में कहीं कहीं पर किया है। वे आधुनिक मनोवैज्ञानिक विधि और आध्यात्मिक विधि दोनों को अपनी चिकित्सा में काम में लाते हैं।

जिन महानुभावों से इस काम में प्रोत्साहन मिला उनमें श्री डाक्टर दुर्गाशंकरजी नगर (उज्जैन), श्री डाक्टर महादेवजी एम० डी० (गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार) और श्री रायबहादुर पं० लज्जाशंकर झा जी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पंडित जी ने मुझे मनोविश्लेषण विज्ञान के अध्ययन करने को प्रोत्साहित किया और अपने विचारों को लेखबद्ध प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया। अपने पुराने सहपाठी और मित्र भिक्षु श्री जगदीश काश्यप का मैं विशेषकर आभारी हूँ। आप बौद्धधर्म की सजीव मूर्ति हैं। आपके दर्शन करते ही दो हजार वर्ष पूर्व का भारत याद आ जाता है। बौद्धधर्म का और विशेष कर मैत्री भावना की महत्ता का ज्ञान मुझे श्री भिक्षुजी से ही प्राप्त हुआ। श्री डाक्टर भगवानदास जी ने मेरी नवीन मनोविज्ञान नामक मनोविश्लेषणविज्ञान पुस्तक पर अपनी भूमिका लिखकर जो मुझे प्रोत्साहित किया उनका मैं विशेष ऋणी

हूँ। वह ग्रन्थ अधिकतर सैद्धान्तिक है और प्रस्तुत ग्रन्थ प्रयोगात्मक है। पर यदि डाक्टर साहब का प्रोत्साहन मुझे पहले ग्रन्थ में न मिलता तो मैं यह दूसरा ग्रन्थ लिखने में कदाचित् समर्थ न होता। शिष्य की विद्या गुरुजनों के आशीर्वाद से ही फलती फूलती है।

मुझे विश्वास है कि पाठक इस ग्रन्थ को मेरे अन्य ग्रन्थों के समान अपनावेंगे।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,
काशी विश्वविद्यालय,
१० सितम्बर १९४७

लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

छठाँ प्रकरण

सातवाँ प्रकरण

आठवाँ प्रकरण

नवाँ प्रकरण

दसवाँ प्रकरण

प्रथम प्रकरण

विषय प्रवेश

मानसिक चिकित्सा क्या है ?

किसी भी रोग की चिकित्सा दो प्रकार से हो सकती है—एक भौतिक उपचार द्वारा और दूसरे मानसिक उपचार द्वारा। मनुष्य दो प्रकार के रोगों से पीड़ित होता है, एक शारीरिक और दूसरे मानसिक। इन दोनों प्रकार के रोगों का उपचार भौतिक और मानसिक विधि से किया जाता है।

चिकित्सा के प्रकार

कभी-कभी किसी रोग के भौतिक उपचार के साथ साथ उसका मानसिक उपचार भी किया जाता है। इसमें प्रधानता भौतिक उपचार की होती है, मानसिक उपचार का गौण स्थान रहता है। किसी रोग का उपचार प्रधानतः मानसिक होता है, पर रोगी के आत्मसंतोष के लिये उसे भौतिक औषधि भी दे दी जाती है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिन का कोई भौतिक उपचार संभव ही नहीं है और कुछ ऐसे रोग हैं जिनके लिए मानसिक उपचार करना अनावश्यक है।

भौतिक उपचार दो प्रकार के होते हैं—एक कृत्रिम औषधियों के द्वारा और दूसरे प्राकृतिक। इन दोनों प्रकार के उपचारों के विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक परिणाम होते हैं। कृत्रिम औषधियों के सेवन का भौतिक उपचार से बहुत से शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं, किन्तु कुछ काल के बाद रोग रूपान्तरित होकर प्रकट होते हैं। भौतिक औषधियाँ मनुष्य के शरीर को बल प्रदान नहीं करतीं। उनका कार्य शरीर में स्थित विष को निकाल कर बाहर फेंक देना मात्र होता है, पर जब बार-बार भौतिक औषधियों

शारीरिक परिणाम

की सहायता लेकर विष को निकाला जाता है तो शरीर अपने प्राकृतिक रूप से विष को बाहर निकालने की शक्ति को खो देता है। इससे मनुष्य का शरीर निर्बल हो जाता है और किसी जटिल रोग द्वारा ग्रसित हो जाता है।

इसके विरुद्ध परिणाम प्राकृतिक चिकित्सा के हैं। प्राकृतिक चिकित्सा से शारीरिक बल बढ़ता है। शरीर में प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा अपने भीतर का विष निकाल कर बाहर फेंकने की शक्ति आती है। प्राकृतिक चिकित्सा की सहायता के द्वारा जो व्यक्ति अपने रोग से मुक्त होता है वह उसी प्रकार के दूसरे रोग को फिर नहीं पकड़ता। उसे अनेक रोगों से मुक्त हो जाने की शक्ति आ जाती है। जब मनुष्य का शरीर बलिष्ठ रहता है तो वह शरीर पर आक्रमण करने वाले अनेक रोग-कीटाणुओं को नष्ट कर डालता है। जब वह निर्बल हो जाता है तो ये कीटाणु शरीर में बीमारी उत्पन्न कर डालते हैं। शारीरिक बल बढ़ा कर प्राकृतिक चिकित्सा मनुष्य को स्थायी लाभ पहुँचाने की चेष्टा करती है।

प्राकृतिक चिकित्सा का शारीरिक परिणाम

प्राकृतिक और कृत्रिम चिकित्सा के मानसिक परिणाम भी दो प्रकार के होते हैं। भौतिक चिकित्सा से मनुष्य में आत्मसंयम की आदत नहीं आती। यह आदत प्राकृतिक चिकित्सा से आती है। आत्मसंयम के न होने के कारण मनुष्य उन्हीं कामों को फिर से करता है जो उसके रोग के कारण होते हैं। वह फिर जब बीमार होता है और जब डाक्टर उसे फिर से बीमारी से मुक्त कर देता है तो वह और भी अधिक असंयमी हो जाता है। इस प्रकार उसमें आत्मसंयम की शक्ति नष्ट हो जाती है। कृत्रिम चिकित्सा का कार्य तुरंत फल देता है। वह रोगी को कष्ट से मुक्त कर देता है। अतएव रोगी अपनी भूल के लिये कोई दण्ड भी नहीं पाता, और इसके परिणाम स्वरूप वह और भी अधिक स्वास्थ्य विषयक प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते जाता है। इससे उसकी अंत में हानि ही होती है। प्राकृतिक चिकित्सा के परिणाम इसके उलटे होते हैं।

कृत्रिम चिकित्सा के मानसिक परिणाम

प्राकृतिक चिकित्सा का मानसिक परिणाम

प्राकृतिक चिकित्सा का प्रभाव तुरंत नहीं दिखाई देता, उसका असर धीरे-धीरे होता है। इसमें रोगी को अपने रोग की पीड़ा भोगनी ही पड़ती है। इससे उसे स्मरण रहता है कि उसे ऐसा कोई काम न करना चाहिये जिससे उसे फिर पहले जैसा कष्ट उठाना पड़े। प्राकृतिक चिकित्सा मनुष्य में आत्मसंयम की वृद्धि करती है। नियमित जीवन बिताना, उपवास करना, विशेष प्रकार का भोजन करना, निश्चित समय पर घूमने जाना, व्यायाम करना अथवा स्नान करना आदि कार्य ऐसे हैं जिनसे मनुष्य में आत्मसंयम आता है। आत्मसंयम से मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल भी बढ़ता है। इच्छाशक्ति के बल के बढ़ने पर मनुष्य किसी भी रोग का शिकार सरलता से नहीं होता। प्राकृतिक चिकित्सा मनुष्य में यह विश्वास उत्पन्न करती है कि मनुष्य को अपने किसी भी कुकृत्य के लिये दण्ड भोगना पड़ता है। जब मनुष्य प्राकृतिक नियमों को मानकर अपना आचरण सुधार लेता है तो उसे फिर किसी प्रकार का शारीरिक रोग नहीं होता। प्राकृतिक चिकित्सा मनुष्य में नियम पालने की आदत डालती है।

आत्मसंयम की वृद्धि करने के कारण प्राकृतिक चिकित्सा को सभी समय आध्यात्मिक दृष्टि के लोग अपनाते रहे हैं। आधुनिक काल में महात्मा गांधी प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। वे शारीरिक रोगों के उपचार के लिये कृत्रिम चिकित्सा की सलाह न देकर प्राकृतिक चिकित्सा की ही सलाह देते थे। उन्होंने स्वयं बहुत से शारीरिक रोगों का प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा उपचार किया था। बहुत से डाक्टर लोग भी प्राकृतिक चिकित्सा को अन्य प्रकार की चिकित्सा से श्रेष्ठ मानने लगे हैं। कितने ही असाध्य रोग प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा से मनुष्य में आत्मसंयम की उपयोगिता में विश्वास अवश्य उत्पन्न होता है, पर इससे मनुष्य की अद्भुत मानसिक शक्तियों का ज्ञान नहीं होता। प्राकृतिक चिकित्सा मनुष्य को प्रकृतिवादी बनाती है। वह अपने स्वास्थ्य लाभ के लिये किसी बाहरी उपचार पर अवलंबन करना सीख जाता है। जिस प्रकार कृत्रिम चिकित्सा को काम में लानेवाले लोग अपने

आप को औषधियों पर निर्भर कर देते हैं, इसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास करनेवाले व्यक्ति अपने आप को किसी प्रकार के प्राकृतिक उपचार पर निर्भर कर देते हैं। जब तक रोग का कोई भौतिक उपचार न किया जाय प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास करने वाले व्यक्ति की भावना नहीं होती कि वह रोग से मुक्त होगा। इसके कारण उसे रोग तब तक पकड़े रहता है जब तक कि उसका उचित भौतिक उपचार नहीं हो जाता है।

मानसिक चिकित्सा की विशेषता

मानसिक चिकित्सा का ध्येय शारीरिक और मानसिक रोगों का मानसिक उपचार करना है। मानसिक चिकित्सा का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति का विश्वास होता है कि सभी मानसिक रोग मानसिक कारणों से उत्पन्न होते हैं और बहुत से शारीरिक रोगों का भी मानसिक कारण होता है। कुछ शारीरिक रोग ऐसे होते हैं जिनका भौतिक कारण के अतिरिक्त मानसिक कारण भी होता है। किसी रोग में कहां तक मानसिक कारण है और कहां तक शारीरिक कारण है यह निश्चित करना चिकित्सक के अनुभव पर निर्भर करता है। जब रोग के मानसिक कारण को नष्ट कर दिया जाता है तो रोग, चाहे मानसिक हो अथवा शारीरिक, नष्ट हो जाता है। शारीरिक रोगों के मानसिक कारण के हट जाने पर स्वयं प्रकृति रोग को नष्ट कर देती है। मानसिक कारण रोग को स्थायी बनाये रखता है। मनुष्य के बहुत से रोग उसके शरीर में इसलिये बने रहते हैं कि उसका भीतरी मन उन रोगों को छोड़ना नहीं चाहता। मनुष्य को प्रकृति स्वयं स्वास्थ्य की ओर ले जाती है, किन्तु जब मनुष्य के मन में किसी प्रकार का विकार रहता है तो वह अपना सहज कार्य ठीक से नहीं कर पाती; अतएव मनुष्य रोगी बना रहता है। मानसिक चिकित्सा का ध्येय मनुष्य के मानसिक विकार को नष्ट करना है। मनुष्य के मानसिक विकार के नष्ट हो जाने पर उसका रोग प्राकृतिक रूप से स्वतः नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक रोग स्वास्थ्य पर अपना स्थायी प्रभाव डालता है। परन्तु इसके लिये समय लगता है। जब कोई मानसिक रोग शारीरिक रोग में परिणत हो जाता है तो मानसिक चिकित्सा का प्रभाव तुरन्त नहीं दिखाई

देता। पर दृढ़ निश्चय के साथ रोग की चिकित्सा जारी रखने से उसका शुभ परिणाम अवश्य दिखाई देता है यदि कोई शुभ परिणाम न हुआ तो इसका कारण रोग की उपचार-विधि में कोई दोष होता है। मानसिक चिकित्सा के परिणाम उसी प्रकार देर में दिखाई देते हैं जिस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा के परिणाम देर में दिखाई देते हैं। कहावत है, भलाई केचुआ की गति से चलती है और बुराई बाज की गति से। जो लोग अपने स्वास्थ्य में तुरंत परिवर्तन चाहते हैं वे न तो प्राकृतिक चिकित्सा के उपयुक्त हैं और न मानसिक चिकित्सा के। मानसिक चिकित्सा मनुष्य को धैर्य का पाठ पढ़ाती है। वह उसमें नई आध्यात्मिक शक्ति का जागरण करती है और अपनी अज्ञात शक्तियों का बोध भी कराती है।

मानसिक चिकित्सा के प्रकार

मानसिक चिकित्सा दो प्रकार की होती है—एक आध्यात्मिक और दूसरी वैज्ञानिक। आध्यात्मिक मानसिक चिकित्सा बहुत पुराने समय से संसार में चली आई है। संसार के साधु-संत आध्यात्मिक साधनों के द्वारा बहुत से रोगियों को अनेक प्रकार की बीमारियों से मुक्त करते आये हैं। हजरत ईसा कितने ही अन्धों और कोढ़ियों को अपनी आध्यात्मिक चिकित्सा के द्वारा चंगा कर देते थे। जो उनके पास विश्वास के साथ जाता था वह चंगा होकर आता था। भगवान् बुद्ध भी मैत्री भावना का अभ्यास कराकर कितने ही रोगियों को उनकी अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक बीमारियों से मुक्त कर देते थे। आधुनिक काल में भी बहुत से योगी और संत लोग अपने आशीर्वाद और मैत्री भावना के अभ्यास के द्वारा रोगियों की बीमारियों को नष्ट कर डालते हैं। हिस्टीरिया और अनेक प्रकार के पागलपन कुछ ओझा लोग अपनी झाड़-फूँक के द्वारा नष्ट कर देते हैं। इनकी तथ्यता में पहले विश्वास नहीं होता था, पर अब यह विश्वास होता जा रहा है कि अनेक मानसिक रोग ओझाओं की झाड़-फूँक के द्वारा वास्तव में नष्ट हो जाते हैं। हमारे देश में बहुत से लोगों को भूतों का त्रास

आध्यात्मिक मानसिक चिकित्सा

होता है। यह एक प्रकार का पागलपन है। इसकी ओझा लोग अपनी ही विधि से सफलता पूर्वक चिकित्सा कर लेते हैं।

यूरोप में पुराने समय में पादरी लोग भूतों से पीड़ित व्यक्तियों को उनके रोगों से मुक्त करते थे। इसी प्रकार वे प्रार्थना द्वारा रोगियों के अनेक प्रकार के पागलपन तथा हिस्टीरिया की बीमारियों को नष्ट करते थे। वर्तमानकाल में इस विधि का सफल प्रयोग इमील कुये महाशय ने अपने नेन्सी नामक स्थान में किया था। यह स्थान फ्रान्स में है। कूये महाशय का जीवन एक साधु का जीवन था। वे चिकित्सा के लिये रोगियों से किसी प्रकार की फीस नहीं लेते थे। उन की चिकित्सा-विधि निर्देश-विधि कहलाती है। इस विधि का वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

भारत वर्ष में निर्देश-विधि का सामूहिक रूप से कहीं-कहीं प्रयोग होता है। डाक्टर दुर्गाशंकर नागर के उज्जैन स्थित कल्पवृक्ष आश्रम में अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा निर्देश विधि से होती है। डाक्टर नागर दिन में तीन बार प्रार्थना करते हैं। इन प्रार्थनाओं में रोगी को बैठाया जाता है। इसके परिणाम स्वरूप उसके मन में विशेष प्रकार के मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं और बहुत से रोगी इस प्रकार चंगे होकर चले जाते हैं। इस प्रकार की चिकित्सा में रोगियों का विश्वास ही अधिक काम करता है। जो व्यक्ति कल्पवृक्ष आश्रम में जितनी श्रद्धा से जाता है उसे उतना ही अधिक लाभ होता है। इस विधि का आगे चलकर और भी परिचय कराया जायगा।

वैज्ञानिक मानसिक चिकित्सा संसार की बीसवीं शताब्दी की देन है। इसके प्रवर्तक जेने, ब्रूअर और फ्रायड महाशय तथा उनके अनुयायी हैं। फ्रायड महाशय ने अपने परिश्रम से मानसिक चिकित्सा के एक नये विज्ञान को तैयार कर दिया है जिसे मनोविश्लेषण विज्ञान कहते हैं। फ्रायड महाशय एक साधारण डाक्टर थे। उनके पास अनेक हिस्टीरिया के रोगी आते थे। इन रोगियों के उपचार करने में जब वे अपने आप को असफल पाये तो वे अपने निवास स्थान वियना से नेन्से (जो फ्रांस में है) गये और वहां उन्होंने इमील कूये महाशय की निर्देश-विधि को जानने की चेष्टा की।

वैज्ञानिक मानसिक चिकित्सा

कूये महाशय अपनी निर्देश-विधि के द्वारा हिस्टीरिया तथा अन्य प्रकार के पागलपन को ठीक कर देते थे, पर फ्रायड महाशय ने देखा कि जो लोग एक बार अपने पागलपन से निर्देश-विधि द्वारा अच्छे हो जाते थे वे कभी-कभी फिर से इसी रोग से पीड़ित हो जाते थे। कूये महाशय रोग के कारण का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं करते थे। बिना कारण के जाने हुए ही वे रोग का उपचार करते थे। फ्रायड महाशय की धारणा हुई कि इस प्रकार रोग का उपचार करने से रोग का दमन मात्र हो सकता है उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा नहीं हो सकती। वास्तव में कई रोगी कूयेमहाशय के पास बार बार अपने रोग के उपचार के लिये आते थे अतएव फ्रायड महाशय ने रोग का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की चेष्टा की और इसके परिणाम स्वरूप एक नये विज्ञान का निर्माण किया।

मनोविश्लेषण-विधि की उपयोगिता

आधुनिकाल में मानसिक रोगों की चिकित्सा प्रायः मनोविश्लेषण-विधि से ही होती है। मनोविश्लेषण-विधि से अपरिचित व्यक्ति न तो हिस्टीरिया, झक और पागलपन के रोगी के लिये कोई लाभ पहुँचा सकता है और न वह पागलखानों का अधिकारी होने की योग्यता रखता है। मनोविश्लेषण चिकित्सा-विधि अन्य प्रकार की चिकित्सा-विधि के सदृश वैज्ञानिक विधि है। इस विधि का विकास धीरे-धीरे हो रहा है। इस समय मनोविश्लेषण विधि के जाननेवाले अनेक मनोवैज्ञानिक तथा तथा डाक्टर हैं। इनमें से कुछ आध्यात्मिक बातों में विश्वास करते हैं और वे अपनी वैज्ञानिक विधि के साथ-साथ निर्देश विधि का प्रयोग भी करते हैं। स्वयं डाक्टर फ्रायड जड़वादी थे और वे अध्यात्मिक विचारों को कोरा भ्रम मात्र मानते थे। पर इङ्गलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर होमरलेन आध्यात्मिक बातों में विश्वास करते थे और वे अपने प्रयोगों में रोगी के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करते और उसे भी मैत्री भावना का अभ्यास कराते थे। इस प्रकार वे रोगी को न केवल अपने विशेष रोग से मुक्त कर देते थे, वरन् उसके जीवन में मौलिक परिवर्तन कर देते थे। डाक्टर होमर-

लेन की चिकित्सा से अच्छा हुआ रोगी एक नया ही व्यक्ति बन जाता था। उसके जीवन के आदर्श और रहन-सहन के ढंग बदल जाते थे।

फ्रायड महाशय के दो प्रमुख अनुयायी हुए हैं—एक अलफ्रेड एडलर और दूसरे चार्ल्सयुंग। फ्रायड महाशय और उनके दोनों शिष्यों की मानसिक चिकित्सा विधि में तथा मन के स्वरूप के विषय में मौलिक भेद है। इनका आगे चलकर हम उल्लेख करेंगे। फ्रायड महाशय का देहान्त सन् १९४१ में हो चुका है, पर उनके शिष्य अभी जीवित हैं।

चार्ल्स युंग की महत्ता

इनमें से डा० चार्ल्सयुंग ने अपने विचारों में बड़ी वृद्धि की है। उनके विचार इतने महत्व के हैं कि आन्तरिक मन के विषय में नये ज्ञान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उन्हें जानना अत्यन्त आवश्यक है। युंग महाशय जड़वादी नहीं हैं, उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। अतएव जिन लोगों की रुचि वैज्ञानिक रूप से आत्मतत्व को जानने की है, उन्हें उनके विचारों से परिचित होना आवश्यक है। मनुष्य की बहुत सी मानसिक बीमारियाँ उनके विचारों को जानकर ही शान्त हो सकती हैं। मानसिक चिकित्सा में रुचि रखने वाले व्यक्ति को तो इनकी चिकित्सा विधि को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

मानसिक चिकित्सा के अध्ययन की उपयोगिता

मानसिक चिकित्सा की विधि के ज्ञान की पहली उपयोगिता यह है कि इससे चिकित्सक को रोगी की मानसिक स्थिति का समझना सरल हो जाता है। कितने ही रोगी अपने रोग को पाले हुए रहते हैं। रोग उन्हें यदि छोड़ना भी चाहे तो वे रोग को छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे रोगी की चिकित्सा चाहे जैसा कुशल डाक्टर क्यों न करे उसको वह स्वास्थ्य लाभ नहीं करा सकता। इस प्रकार के रोगियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके उन्हें मानसिक चिकित्सा के द्वारा लाभ पहुँचाया जा सकता है। कितने ही रोगियों को कोई भी शारीरिक रोग नहीं रहता, पर उन्हें

भौतिक चिकित्सा में सहायता

रोग का भ्रम रहता है। इस भ्रम के कारण उन्हें उसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा होती है जिस प्रकार की पीड़ा वास्तविक शारीरिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को होती है। इस प्रकार के रोगी को भी उसकी मानसिक स्थिति समझाकर सहायता पहुँचाई जा सकती है।

रोगी की मानसिक स्थिति को जानकर जितनी सहायता पहुँचाई जा सकती है उसे अन्यथा नहीं पहुँचाई जा सकती। बहुत सी औषधियों का प्रभाव डाक्टर की प्रतिष्ठा के कारण घट जाता अथवा बढ़ जाता है। डाक्टर अपने वैयक्तिक निर्देश की सहायता से उसकी दी हुई औषधि को और भी गुणकारी बना सकता है। इमील कूये महाशय का कथन है कि प्रत्येक डाक्टर को सामान्य औषधियों के अतिरिक्त अपनी विशेष औषधि को भी रखना चहिए। यदि डाक्टर का नाम फैला हुआ है तो यह औषधि रोगी के ऊपर विशेष प्रकार का प्रभाव डालेगी। जिस प्रकार के प्रभाव की आशा रोगी करता है उसी प्रकार का प्रभाव औषधि दिखाने लगती है। कभी-कभी साधारण नमक का पानी भी रोगी को बड़े भयंकर रोग से मुक्त कर डालता है। आँख के लिये दी गई दवा ने कभी-कभी पेचिस की बीमारी को भी हटा दिया है। यह आत्मनिर्देश का ही परिणाम है। इस प्रसंग में डाक्टर दुर्गाशंकर नागरजी का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है: —

एक बार डाक्टर दुर्गाशंकर नागर एक ऐसे रोगी को देखने के लिये बुलाये गये जो पेट की पीड़ा से बहुत ही दुखी था। उसका पेशाब और पैखाना बंद हो गया था; वह बेहोशी की अवस्था में पड़ा हुआ था। उसका इलाज दूसरे डाक्टर कर चुके थे। जान पड़ता था कि अब और कुछ नहीं किया जा सकता। डाक्टर दुर्गाशंकर नागर ने रोगी को देखा और उसे गरम नमक का पानी पिला देने का आदेश दिया। पानी पीने के थोड़ी ही देर बाद उस रोगी को पेशाब और पाखाना दोनों हुए और वह रोगी थोड़े ही समय में ही स्वस्थ हो गया। यहाँ रोगी के स्वास्थ्य लाभ करने में प्रधानतः डा० नागर के व्यक्तित्व का प्रभाव ही सहायक था।

मानसिक चिकित्सा विधि जानकर डाक्टर लोग अपने काम की उपयोगिता को कम न करके और भी अधिक बढ़ा सकते हैं। जहाँ भौतिक औषधियों

की आवश्यकता है वहाँ वे भौतिक औषधियें देवें और जहाँ मानसिक उपचार की आवश्यकता है वहाँ वे मानसिक उपचार करें। बहुत से डाक्टर रोगी के मन की स्थिति न जानने के कारण उनके रोग को अच्छा न कर और बढ़ा देते हैं। रोगी के साथ सहानुभूति दिखाकर तथा उससे मधुर भाषण करके जितना उसे लाभ पहुँचाया जा सकता है उसे केवल औषधियों के द्वारा उतना लाभ पहुँचाना संभव नहीं। रोगी की चिकित्सा करते समय डाक्टर को अपनी बात-चीत और हावभाव में बड़ा ही सावधान रहना चाहिए। कितने ही डाक्टर मनोविज्ञान का ज्ञान न रखने के कारण अपने हावभाव से निराशा प्रगट कर देते हैं, इससे वे रोगी को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। जब डाक्टर के चेहरे पर निराशा रहती है पर मुँह से वह आशा की बातें करता है तो रोगी के प्रति जो आन्तरिक भाव होते हैं उसी के अनुसार फिर उसका रोग बढ़ने अथवा घटने लगता है। कितने ही डक्टर अपनी बातचीत में ही रोगी के स्वस्थ होने से निराशा प्रगट कर देते हैं। इससे रोगी की भारी क्षति होती है और कभी-कभी उसकी मृत्यु तक हो जाती है।

मानसिक चिकित्सा में लाभ

मानसिक चिकित्सा विधि के अध्ययन का दूसरा उपयोग रोगियों की मानसिक चिकित्सा करना है। जैसा पहले बताया गया है रोग का कारण चाहे मानसिक हो अथवा शारीरिक, मानसिक उपचार लाभदायक ही होता है। मानसिक चिकित्सा विधि के ज्ञान के बिना मानसिक रोगों का उपचार करना तो संभव ही नहीं है। बहुत से शारीरिक रोग वास्तव में मानसिक ही होते हैं। वमन, लकवा, हृदय-कंपन आदि रोग जिस प्रकार शारीरिक कारणों से होते हैं, इसी प्रकार वे मानसिक कारणों से भी होते हैं। पहली जर्मन लड़ाई के समय बहुत से सिपाहियों को लकवा जैसी बीमारियाँ हो गई थी। इन बीमारियों का कारण मानसिक था। यह एक प्रकार की हिस्टीरिया की बीमारियाँ थीं। इन बीमारियों में रोगी के किसी अंग की क्षति नहीं हुई थी, तिस पर भी रोगी चल फिर नहीं सकता था। शारीरिक परीक्षा करने पर रोग की जड़ शरीर में कहीं नहीं पाई गई। इस प्रकार के रोगियों का कोई शारीरिक उपचार नहीं हो सकता। उनको स्वस्थ बनाने के लिए

उनका मानसिक उपचार करना ही आवश्यक है। डाक्टर फ्रायड ने इस प्रकार के कई रोगियों को अपने मानसिक उपचार से स्वस्थ बनाया।

मानसिक चिकित्सा के ज्ञान की उपयोगिता आत्म-चिकित्सा में बहुत ही अधिक है। प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी रोगी होता है और इसके लिये उसे डाक्टर की आवश्यकता पड़ती है। पर इसके कारण वह स्वयं डाक्टर बनने की इच्छा नहीं करता। वह अपने आपको इतर व्यक्ति के ऊपर छोड़ देता है। भौतिक चिकित्सा का एक दोष यह है कि स्वयं डाक्टर जब बीमार होता है तो वह अपनी चिकित्सा अपने आप नहीं कर पाता। मानसिक चिकित्सा का परिणाम इसके प्रतिकूल है। मन की सम्पूर्ण क्रियाओं को जानकर हम न केवल दूसरे लोगों को उनके रोगों से मुक्त कर सकते हैं, वरन् हम स्वयं अपनी चिकित्सा भी कर सकते हैं। मन की शक्तियों का ज्ञान कर लेने पर मनुष्य बहुत से रोगों को अपने आप ही नष्ट कर सकता है। वह अपने आपको उन रोगों से भी बचा सकता है जो उसे मन की गुप्त क्रियाओं और उसकी शक्ति के ज्ञान न रहने के कारण हो जाते हैं। अपने आपको मानसिक रोगों से बचाने के लिये मानसिक चिकित्सा का अध्ययन करना आवश्यक है। हम जितना ही रोगी के मन का ज्ञान करते हैं उतना ही अधिक ज्ञान हमें अपने मन का होता है। कोई भी मनुष्य अपने मन को तब तक हर समय स्वस्थ नहीं रख सकता जबतक वह मन की गुप्त क्रियाओं के विषय में अपना परिचय नहीं बढ़ा लेता। विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में पागल जैसा व्यवहार कर सकता है। अपने मनकी क्रियाओं को जानकर मनुष्य अपने-आपको सँभालने में अधिक योग्य हो जाता है।

आत्म-चिकित्सा में लाभ

मानसिक चिकित्सा का अध्ययन आत्मज्ञान प्राप्त करने की एक सीढ़ी है। जो व्यक्ति मन की क्रियाओं का अध्ययन आत्मज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से करते हैं उन्हें रोगियों के मन के अध्ययन से बड़ा ही लाभ होता है। रोगी बीमार क्यों होता है और वह कैसे आरोग्य लाभ करता है—इसका रहस्य जानकर मनुष्य अपने-आपको स्वस्थ मन रखने में

आत्मज्ञान प्राप्त करने में लाभ

समर्थ होता है। कितने ही लोग मन की गुप्त क्रियाओं को समझे बिना मन को रोकने का प्रयत्न करने लगते हैं। इसके कारण वे रोगी तथा विक्षिप्त हो जाते हैं। मन को वश में करने के क्या उपाय हैं और मन कैसे स्वस्थ रह सकता है, इन गूढ़ बातों का पता मानसिक चिकित्सा के अध्ययन से चलता है।

शिक्षा में उपयोगिता

मानसिक चिकित्सा के अध्ययन की एक बड़ी भारी उपयोगिता बालकों की शिक्षा में है। उद्दण्ड और दुराचारी बालक की मानसिक स्थिति उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की मानसिक स्थिति विक्षिप्त पुरुष की होती है। मनुष्य को विक्षिप्तता मानसिक दुःख के कारण उत्पन्न होती है। जब मनुष्य का आन्तरिक मन दुःखी रहता है और उसे उस दुःख को प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता तो वह विक्षिप्त हो जाता है। यदि किसी दुःखी मनुष्य को उसके साथ सहानुभूति दर्शानेवाला व्यक्ति मिले तो वह कदापि विक्षिप्त न हो। जब मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है तो उसकी आत्मा उसे इस काम के करने के लिए कोसती है। ऐसी स्थिति में उसे विक्षिप्तता अथवा कोई शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। यदि उसे कोई ऐसा मित्र मिलता जिससे वह अपने मन कि सभी बातें कह डालता तो उसे कोई मानसिक अथवा शारीरिक रोग न होता। इसी प्रकार उद्दण्ड बालक भी किसी न किसी कारण से मानसिक दुःख से पीड़ित रहता है। इस मानसिक पीड़ा का कारण या तो अपने प्रियजनों का प्रेम खो देना होता है अथवा अपने ही मन के द्वारा ताड़ना अर्थात् आत्मग्लानि होती है इन दुःखों को भुलाने लिये ही बालक एक विक्षिप्त व्यक्ति जैसे व्यवहार करता है। उद्दण्ड बालक मारपीट से नहीं डरता। उसका अचेतन मन मारपीट का आवाहन करता है। वह चाहता है कि दूसरे लोग उसी प्रकार दुःखी होवें जैसा दुःखी वह है। बाहरी शारीरिक कष्ट उसके भीतरी मन को एक प्रकार का संतोष देते हैं। उसका भीतरी मन यह देखता है कि दूसरे लोग भी उसी प्रकार दुःखी हो गये हैं जिस प्रकार वह स्वयं दुःखी है। मानसिक चिकित्सा के तत्व को समझकर हम बालक के जीवन को सुखी बना सकते हैं और इस प्रकार उसे हम उसकी उद्दण्डता से मुक्त कर सकते हैं।

जब बालक को अधिक ताड़ना दी जाती है तो वह बीमारी का आवाहन करने लगता है और इस कारण वह बीमार भी हो जाता है। कितने ही बालकों को बिस्तर पर पेशाब करने की, आंख आने की और बुखार की बीमारी इसलिये हो जाती कि उनका मन दुःखी रहता है। बालकों की अनेक जटिल आदतों का कारण भी उनकी मानसिक ग्रन्थियों में पाया जाता है। चोरी करना, सिगरेट पीना, दाँत से नख काटना, दूसरे लड़कों को पीटना, पाठशाला का सामान तोड़ना आदि आदतों की जड़ बालकों की मानसिक ग्रन्थियों में रहती है। इन ग्रन्थियों के सुलझ जाने से बालक अपनी अवांछनीय आदतों से मुक्त हो जाता है। मानसिक चिकित्सा-विधि का ज्ञान बालकों की शिक्षा और उनके लालन-पालन को सरल बना देता है। डाक्टर होमरलेन ने अपनी मानसिक चिकित्सा विधि का प्रयोग बालकों की शिक्षा में करके यह दर्शाया है कि कोई भी उद्दण्ड और दुराचारी बालक मनोवैज्ञानिक विधि से शिक्षा पाने पर समाज का सुयोग्य नागरिक बन सकता है। श्री ए० एस० नील महाशय अपने सोमर्सहिल नामक स्कूल में जटिल बालकों को मनोवैज्ञानिक विधि से सुधारने का प्रयोग कर रहे हैं और उन्होंने अपने प्रयोगों में चमत्कारिक सफलता पाई है। जिस प्रकार रोगी के प्रति सहानुभूति दर्शाकर मानसिक चिकित्सक उसे अपने रोग से मुक्त करता है इसी प्रकार सहानुभूति और प्रेम के द्वारा मन के भेदों को जानने वाला शिक्षक अपने छात्रों को उनकी जटिल आदतों से मुक्त कर देता है।

मानसिक चिकित्सा और अन्य विद्याएँ

मानसिक चिकित्सा के प्रयोग में लाने के लिये चिकित्सक को एक ओर मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होने की आवश्यकता है और दूसरी ओर शरीर-विज्ञान के ज्ञान की। मन की क्रियाओं को भली प्रकार से समझे बिना मानसिक चिकित्सा करने लग जाना बहुत ही अनुचित है। मनुष्य को अपने आत्म-विश्वास के अनुसार ही किसी कार्य में हाथ डालना चाहिए। मनोविज्ञान के अध्ययन के पश्चात् भी एकाएक मानसिक चिकित्सा की कोई जटिल घटना हाथ में ले लेना उचित नहीं है। पहले-पहल

मनोविज्ञान के ज्ञान की अवस्था

छोटे से रोग को ही हाथ में लेना चाहिए। जितना अनुभव और ज्ञान किसी भी व्यक्ति को एक वास्तविक रोगी की चिकित्सा से होता है उतना अनुभव और ज्ञान बीसों मानसिक चिकित्सा की पुस्तकों के पढ़ने से नहीं होता। किसी व्यक्ति को पहले-पहल किसी अनुभवी चिकित्सक के साथ काम करना चाहिये। ऐसा न करने से वह न केवल रोगी को हानि पहुँचा सकता है वरन् अपनी भी क्षति कर सकता है। पागल और झक्की लोगों की चिकित्सा साधारण रोगियों की चिकित्सा से कहीं अधिक जटिल कार्य है। साधारण रोगी की चिकित्सा में भूल हो जाने पर डाक्टर को कोई अपनी हानि का भय नहीं रहता, किन्तु पागलों को स्वस्थ बनाने के प्रयत्न में किसी प्रकार की भूल हो जाने से अपनी जान खतरे में पड़ जाती है। पागलों के साथ रहना आग से खेलने के समान है। पागल न केवल अपनी हानि कर डाल सकता है वरन् वह अपने हितैषी को भी मार-पीट सकता है।

मानसिक चिकित्सा के प्रयोग करने वाले को अपने मन पर भी काबू रखना अत्यन्त आवश्यक है। कितने ही मानसिक चिकित्सक रोगी की चिकित्सा करते-करते अपने-आप मानसिक झंझटों में पड़ जाते हैं। हिस्टीरिया के रोग की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को अपने-आप पर भरोसा रखना अत्यन्त आवश्यक है। हिस्टीरिया का रोगी स्वयं चिकित्सक को एक समय प्यार करता है। अब यदि चिकित्सक का चरित्र दृढ़ न हुआ तो वह भी रोगी के प्रेम में पड़ जाता है। इसके कारण चिकित्सक के चरित्र का पतन हो जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के चिकित्सक के व्यवहार से रोगी की मानसिक जटिलता और भी बढ़ जाती है।

शरीरविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता

मानसिक चिकित्सा के लिए शरीर-विज्ञान का साधारण ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। बहुत-सी बीमारियों का कारण शारीरिक ही होता है। अतएव प्रत्येक मानसिक चिकित्सक को यह जानना आवश्यक है कि रोगी के अंगों में कोई वास्तविक खराबी तो नहीं है। निर्देश-विधि के द्वारा शरीर के अंगों की वास्तविक क्षति को भी पूर्ण किया जा सकता है, किन्तु इसके लिये उस क्षति को अपने-आप समझना और उसे रोगी को

समझाना भी आवश्यक है। इस प्रसंग में हाथ के टूटने के रोगी का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है :—

एक सोलह वर्ष के बालक का हाथ हाकी खेलते समय टूट गया। तुरंत ही उसका इलाज एक अच्छी अस्पताल में हुआ। पर जब कुछ दिनों के बाद हाथ को देखा गया तो ज्ञात हुआ कि उसके हाथ की एक ही हड्डी जुड़ी, दूसरी नहीं जुड़ी। अतएव उस विद्यार्थी का हाथ बालीबाल खेलते समय फिर दूसरी बार टूट गया। अब उसके हाथ की दोनों हड्डियों को ठीक से बैठाया गया पर तिसपर भी उसके हाथ की एक ही हड्डी जुड़ी। अब उसके जुड़ने के लिए वह एक बड़े अस्पताल में ले जाया गया। वहाँ पर जब यह छात्र चिकित्सा-गृह में था तो उसके समक्ष ही सर्जन ने अन्य विद्यार्थियों को हड्डी के जुड़ने पर एक व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान को रोगी छात्र ने भी सुना। व्याख्यान में सर्जन ने बताया कि हड्डी के जुड़ने में कौन से द्रव्य काम करते हैं और वे हड्डी में से ही कैसे पैदा होते हैं। इसे सुनकर रोगी विद्यार्थी को बड़ा विस्मय हुआ। वह पहले से मान बैठा था कि जब एक बार हड्डी टूट जाती है तो वह जुड़ नहीं सकती। जिस प्रकार सूखी लकड़ी टूट जाने पर फिर से नहीं जुड़ सकती इसी प्रकार उसकी कल्पना के अनुसार हड्डी के टूट जाने पर उसका जुड़ जाना संभव नहीं था। छात्र की यही कल्पना उसकी हड्डी को जुड़ने में बाधक हो रही थी। जब उसने एक प्रामाणिक व्यक्ति से यह सुना कि टूटी हड्डी एक प्रकार का दो हड्डियों को जोड़ लेने का रस उत्पादन करती है और इसके कारण टूटी हड्डी जुड़ जाती है तो उसकी कल्पना उसी ओर काम करने लगी। यह कल्पना अब वास्तविक स्थिति के अनुसार ही थी, अतएव उसे कामयाब होने में सफलता मिल गई।

रोगी जिस प्रकार के विचार शारीरिक रोग के कारण के विषय में सुनता है उसी प्रकार के विचार उसके अचेतन मन में चले जाते हैं और वह जैसी कल्पना करता है उसी के अनुसार उसकी शारीरिक रचना होने लगती है। जब रोगी की कल्पना प्राकृतिक नियम और वस्तुस्थिति के अनुसार होती है तो रोगी का आरोग्य लाभ करना सरल हो जाता है, किन्तु जब कल्पना वस्तुस्थिति अथवा प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल होती है तो रोगी

का स्वास्थ्य-लाभ करना कठिन हो जाता है। उसकी कल्पना ही उसके आरोग्य लाभ करने में बाधक होती है। जब रोगी अपने रोग के विषय में कोई धारणा नहीं बनाता तो प्राकृतिक रूप से रोग अपने-आप अच्छा हो जाता है। कभी-कभी रोगी को, प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है, यह बता देना उसके आरोग्य लाभ करने में सहायता देता है। वास्तव में उसकी कल्पना ही उसे अब सहायता देने लगती है।

मानसिक चिकित्सा की नैतिक आवश्यकताएँ

मानसिक चिकित्सा की सफलता बहुत कुछ चिकित्सक की मानसिक शुद्धि और चरित्रबल पर निर्भर करती है। मानसिक शुद्धि की आवश्यकता साधारण चिकित्सक को भी होती है। अत्यन्त लोभी डाक्टर कुछ काल तक अपनी चिकित्सा में भले ही सफलता प्राप्त कर ले पर पीछे वह असफल होने लगता है। इसी प्रकार चरित्रबल की कमी डाक्टर की कीर्ति के बढ़ने में बाधक हो जाती है। डाक्टर की कीर्ति उसके सफल होने में बहुत सहायता देती है, पर अभी तक यह नहीं माना जाता कि अन्य धंधों की अपेक्षा डाक्टरी के काम में अधिक नैतिकता अर्थात् मानसिक शुद्धि और चरित्रबल की आवश्यकता होती है।

मानसिक शुद्धि और चरित्र बल

मानसिक चिकित्सा के विषय में दूसरी बात उदारताहै। जो मानसिक चिकित्सक जितना ही उदार होगा वह चिकित्सा कार्य में उतनी ही सफलता प्राप्त करेगा। वैज्ञानिक ढंग से जो मानसिक चिकित्सा होती है उसमें डाक्टर लोग उसी प्रकार फीस की बातचीत करते हैं जिस प्रकार साधारण डाक्टर फीस की बात करते हैं। वे रोगी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हैं और उसको उचित सलाह देते हैं। इसके लिए वे वकील और दूसरे डाक्टरों के समान फीस लेते हैं। यूरोप में वर्तमान समय में इस प्रकार का व्यवसाय करनेवाले अनेक मानसिक चिकित्सक हो गये हैं। इस प्रकार अपने परिश्रम के लिये फीस लेना वहाँ अनुचित नहीं समझा जाता।

उदारता का भाव

भारतवर्ष में दूसरी ही स्थिति है। यहाँ की जनता मानसिक चिकित्सक से बिना फीस लिए काम करने की आशा करती है। जब कोई मानसिक चिकित्सक अपनी सलाह के लिए फीस लेता है तो समाज के लोग उसे निकृष्ट व्यक्ति मानने लगते हैं। स्वयं रोगी इस प्रकार के व्यक्ति से घृणा करने लगता है। इससे उसकी सफल चिकित्सा होना कठिन होता है। अभी हाल की बात है, लेखक एक रोगी के पास उसके आग्रह पूर्वक बुलाने पर गया। उसे एक प्रकार की झक उत्पन्न हो गई थी। इस झक के मारे उसका सारा जीवन दुःखी हो गया था। यह रोगी अपनी मानसिक चिकित्सा के लिये एक मनोवैज्ञानिक के पास गया। उस मनोवैज्ञानिक ने उससे बातचीत करने की फीस सोलह रुपया माँगी थी। फीस देना स्वीकार कर लेने पर उसने रोगी से उसके जीवन सम्बन्धी अनेक प्रकार की पूछ-ताछ की और उसके रोग का नाम बता दिया। मानसिक चिकित्सक के इस प्रकार के व्यवहार से रोगी बहुत ही असंतुष्ट हुआ। उसने मानसिक चिकित्सक को एक लालची व्यक्ति मान लिया। ऐसी स्थिति में उससे किसी प्रकार का लाभ होना संभव ही न था।

फीस लेकर बातचीत करनेवाले मानसिक चिकित्सक के प्रति रोगी का द्वेषभाव बढ़ जाता है। जब यह फीस स्वयं मानसिक रोगी को ही देनी पड़ती है तो द्वेषभाव और भी अधिक हो जाता है।

फीस लेने से हानि

कभी-कभी मानसिक रोगी का रोग इस कारण और भी बढ़ जाता है। लेखक के एक मित्र ने जो मानसिक विधि से चिकित्सा करते हैं, अपने एक रोगी के रोग को और भी बढ़ा दिया। इस रोगी को वमन की बीमारी थी। इस बीमारी का कारण मानसिक था। इस प्रकार की बीमारी किसी आत्मग्लानिकारक घटना से उत्पन्न होती है। जब इस घटना की आत्म-स्वीकृति रोगी कर लेता है तो उसकी बीमारी का अन्त हो जाता है। पर इसके लिए रोगी और चिकित्सक में सहानुभूति के भाव का रहना आवश्यक है। जब तक रोगी की चिकित्सक के प्रति श्रद्धा नहीं होती तब तक वह अपने आपको चिकित्सक के समक्ष कदापि नहीं खोलता, और जबतक रोगी अपने-आपको चिकित्सक के समक्ष नहीं खोलता उसका रोग नहीं जाता; इतना ही

नहीं चिकित्सक के प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव न रहने पर रोगी का मानसिक रोग और भी जटिल हो जाता है। मानसिक रोगी प्रेम का भूखा होता है। जब रोगी को प्रेम के बदले स्वार्थपरायणता ही दिखाई देती है तो वह निराशा की शरण लेता है। स्वयं रोगी में स्वार्थबुद्धि अधिक रहती है। इस बुद्धि से रोगी को मुक्त किये बिना उसे मौलिक लाभ नहीं होता। परन्तु इस बुद्धि से वह तभी मुक्त हो सकता है जब वह किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आवे जो स्वयं स्वार्थी नहीं है। मनुष्य में किसी प्रकार के सद्गुण अथवा दुर्गुण अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों से आते हैं। दूसरे लोगों का स्वार्थभाव हममें स्वार्थभाव जाग्रत करता है और दूसरे लोगों की उदारता हममें भी उदारता का भाव जाग्रत करता है। मनुष्य के सद्गुण और दुर्गुण संक्रामक रोग के सदृश्य एक दूसरे पर जाते हैं। स्वास्थ्य और रोग, प्रसन्नता और क्लेश, भलाई और बुराई सभी संक्रामक होते हैं। अतएव जिन गुणों का उदय मानसिक चिकित्सक रोगी में करना चाहता है उन्हीं गुणों का बाहुल्य उसमें होना आवश्यक है। प्रेमहीन तथा अनुदार व्यक्ति के समक्ष रोगी अपनी कमजोरियों की आत्मस्वीकृति नहीं कर सकता और न इस प्रकार के व्यक्ति से रोगी को कोई सन्निर्देश मिलता है।

कूये और होमरलेन की उदारता

कूये महाशय अपने रोगियों से कोई फीस नहीं लेते थे और वे सदा उनकी सेवा में लगे रहते थे। इसके कारण ही वे कितने ही जटिल मानसिक और शारीरिक रोग से पीड़ित व्यक्तियों को अपने रोगों से मुक्त होने में विस्मयजनक सफलता प्राप्त करते थे। इसी प्रकार डाक्टर होमरलेन भी अपने रोगियों को इतना प्यार करते थे कि वे उसके समक्ष आते ही अपने मानसिक रोग को भूल जाते थे। हृदय से रोगी को प्रेम करनेवाले व्यक्ति के विचारों में इतना बल होता है कि वह इनके द्वारा रोगी के अस्वस्थ और नकारात्मक विचारों को नष्ट कर डालता है और उसके मन में नये स्वास्थ्यवर्धक और रचनात्मक विचारों का उदय कर देता है। जिस मानसिक चिकित्सक को अपने-आप पर जितना अधिक भरोसा होता है वह मानसिक रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान करने में उतना ही सफल होता है। मानसिक चिकित्सक में आत्मविश्वास का आधार उसका

रोगियों के प्रति प्रेम और त्याग की भावना होती है। जिस व्यक्ति में दूसरे लोगों के सुख के लिए कष्ट उठाने की भावना जितनी प्रबल होती है वह व्यक्ति उतना ही प्रबल सन्निर्देश दूसरों के मन में उत्पन्न करता है। इसके परिणाम स्वरूप रोगी को शीघ्रता से ही स्वास्थ्य लाभ हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि मानसिक चिकित्सक अपने परिश्रम के लिए फीस न ले तो क्या उसकी योग्यता पर रोगी को अविश्वास उत्पन्न नहीं होजावेगा? जिस बात के लिए किसी व्यक्ति को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता और न किसी प्रकार का त्याग ही करना पड़ता है वह मूल्यवान् नहीं समझी जाती और उसे शीघ्र ही वह खो देता है। इससे एक बार स्वास्थ्य लाभ करके भी रोगी के स्वास्थ्य खो देने की संभावना है। इस संदेह का समाधान यह कहकर किया जा सकता है कि रोगी से कुछ न कुछ त्याग अवश्य कराना चाहिए, पर यह त्याग अपनी सेवा के रूप में न हो। उसे समाज के दूसरे लोगों की सहायता करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। जो व्यक्ति जितनी ही लगन के साथ समाज के पीड़ित व्यक्तियों की सेवा में अपने-आपको लगा देता है वह अपने स्वास्थ्य को उतना ही स्थायी बना लेता है। लेखक ने जिन रोगियों की मानसिक चिकित्सा की है उन्हें दूसरों की सेवा में लगने के लिए भी प्रोत्साहित किया है और वे वास्तव में अपने जीवन को नये मार्ग में प्रवाहित करने लगे हैं। सच्चा मानसिक चिकित्सक रोगी के जीवन के आदर्श को ही बदल देता है और इस प्रकार का परिवर्तन वह उपदेश के द्वारा नहीं, वरन् आचरण और शान्त निर्देश के द्वारा करता है। आचरण की शिक्षा दूसरी सभी प्रकार की शिक्षाओं से अधिक स्थायी होती है।

रोगी की मानसिक शुद्धि का उपाय

मानसिक चिकित्सा करने का पुरस्कार

मानसिक चिकित्सा के विषय में दूसरा प्रश्न यह आता है कि यदि मानसिक चिकित्सक फीस न ले तो अपनी रोजी कैसे चलावे और उसे इस प्रकार के काम करने से लाभ ही क्या? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें मनुष्य के जीवन के लक्ष्य के विषय में ही विचार करना पड़ेगा। जिन लोगों की रोजी

ही चिकित्सा करने से चलती है उन्हें मानसिक चिकित्सा के लिये फीस लेनी पड़ेगी। पर जितनी अधिक फीस वे मानसिक चिकित्सा के लिए लेंगे वे उतने ही कम अपने चिकित्सा के काम में सफल होंगे। अतएव उन्हें मानसिक रोगियों से जितनी कम हो सके फीस लेनी चाहिए।

आत्मज्ञान की वृद्धि

जिन लोगों की रोजी किसी दूसरे काम पर निर्भर करती है उन्हें मानसिक चिकित्सा को अपनी आध्यात्मिक उन्नति के हेतु ही करना चाहिए। जितना सुन्दर आत्मज्ञान मनुष्य को दूसरे व्यक्ति की मानसिक चिकित्सा से होता है दूसरे किसी प्रकार नहीं हो सकता। डाक्टर युंग का कथन है कि जब कोई मनोविश्लेषक किसी रोगी का सफल मनोविश्लेषण कर लेता है तो वह स्वयं अपना भी मनोविश्लेषण कर लेता है। उसे इसके परिणाम स्वरूप न केवल रोगी के मन का ज्ञान होता है वरन् अपने मन का भी अधिक ज्ञान हो जाता है। वास्तव में जो व्यक्ति रोगी के समक्ष अपनी गुप्त बातें खोलने को तैयार नहीं रहता वह कदापि मानसिक रोगी का भला प्रकार से मनोविश्लेषण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यदि हम रोगी से यह आशा करते हैं कि वह अपनी गुप्त बातें हमारे समक्ष कहे तो हमें भी उनके समक्ष अपनी गुप्त बातों तथा मानसिक भावों को प्रकाशित करने के लिये तैयार रहना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के समक्ष अपने दोषों को खोलने से आत्म-शुद्धि अपनी करता है। अतएव मानसिक चिकित्सक अपने सभी दोषों को दूसरे व्यक्तियों के समक्ष प्रकाशित करके अपने आपके मन को निर्मल बना लेता है।

आत्म-निमंत्रण की प्राप्ति

मानसिक चिकित्सा के अभ्यास का मुख्य लाभ यह है कि उसके द्वारा मनुष्य एक ओर अपने मन में रहने वाली पाशविक वासनाओं को जान लेता है और दूसरी ओर उन पर अधिकार प्राप्त करने की विधिको समझ लेता है। हमारी पाशविक वासनायें तभी तक हमारे दुःख की कारण बनती हैं जब तक हम उन्हें जानने और उनकी आत्म-स्वीकृति करने से भागते हैं। अपने पाशविक भावनाओं को जानने के पश्चात् उन्हें वश

में करना और उनकी शक्ति का सदुपयोग करना सरल हो जाता है। इस तरह मनुष्य अपने-आपको सब प्रकार से ऊँचा उठा सकता है।

मानसिक चिकित्सा के प्रयोग का एक बड़ा लाभ अपनी मानसिक शक्ति के विषय में परिचय प्राप्त कर लेना है। मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को तब तक नहीं जानता जब तक वह उसको किसी काम में नहीं लाता किसी रोगी को हम अपने विचार के द्वारा ही स्वस्थ बना सकते हैं तथा हम अपने अनेक शारीरिक रोग अपने विचारों में परिवर्तन करके नष्ट कर सकते हैं। यह मानसिक चिकित्सा के अध्ययन करने और उसके उचित प्रयोग के द्वारा ज्ञात हो जाता है।

अपनी मानसिक शक्ति का परिचय

मानसिक चिकित्सा विधि के अध्ययन करने और दूसरे लोगों को चिकित्सा करने का प्रधान लाभ आत्म-चिकित्सा कर सकने की शक्ति प्राप्त कर लेना है। जिस प्रकार की शक्ति का उपयोग हम दूसरे लोगों के उपकार के लिये करते हैं उसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग हम अपने आपकी भलाई के लिये भी कर सकते हैं। मानसिक शक्ति की वृद्धि अभ्यास से होती है। मनुष्य के मन में चमत्कारिक मानसिक शक्तियाँ हैं। पर उपयोग न करने के कारण उसे इनका ज्ञान नहीं होता। उदार मनोवृत्ति के व्यक्ति को अपने शक्ति को काम में लाने के अवसर की कमी नहीं रहती। बार-बार प्रयोग करने से उसे अपनी शक्ति में पूरा विश्वास हो जाता है। मनुष्य बहुत से अपने रोग आत्म-निर्देश के द्वारा स्वयं अच्छा कर लेता है। पर आत्म-निर्देश का तत्व समझे और उसका प्रयोग किये बिना उसकी शक्ति में विश्वास नहीं होता। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जहाँ रोगी को देखे उसके प्रति मैत्री भावना प्रगट करे और उसकी जो कुछ भी सहायता कर सके करे।

अपनी चिकित्सा कर सकना

मानसिक चिकित्सा के रहस्य का ज्ञान मनुष्य को जड़वादी और सुखवादी मनोवृति से मुक्त करता है। मनुष्य को जो शान्ति दूसरे लोगों की सेवा करने से मिलती है, अपने स्वार्थी जीवन से नहीं मिलती। दूसरे व्यक्ति के अपराधों

को जानकर उनके प्रति उदासीनता तथा सहानुभूति का भाव मानसिक चिकित्सक को रखना पड़ता है। इससे चिकित्सक का आत्म-विकास होता है। वह अपनी मानसिक शक्ति को फिर रचनात्मक कामों में लगा सकता है। दूसरे की सेवा करने वाला व्यक्ति आशावादी होता है। निराशावाद स्वार्थी जीवन का परिणाम है। मानसिक चिकित्सक आशावादी और आत्म-प्रसाद के विचारों का प्रचार करके रोगी को अपने रोग से मुक्त करता है। जब वह अपने इन विचारों का चमत्कारिक प्रभाव दूसरे के ऊपर देख लेता है तो जीवन में कठिनाइयों के पड़ने पर वह निराश नहीं होता।

आध्यात्मिकता का विकास

इस तरह हम देखते हैं कि मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा लाभ आध्यात्मिक लाभ है। इस पुस्तक के लिखने का मुख्य प्रयोजन अपने मन के गूढ़ रहस्य को व्यक्त करना है। मनुष्य मन की गुप्त क्रियाओं को जानकर अपने-आप को अनेक प्रकार के रोगों से बचा सकता है। वह अपने को दूसरे प्रकार की आपत्तियों से भी बचा सकता है।

विषय विस्तार

मानसिक चिकित्सा की जानकारी के लिये मन के स्वरूप तथा उस की शक्ति का समुचित परिचय होना आवश्यक है। मानसिक रोगों का परिचय उनके भेद और कारण जानना भी मानसिक चिकित्सा के लिये आवश्यक है। मानसिक व्याधि किस प्रकार शारीरिक व्याधि में परिणत हो जाती है और यह व्याधि किस प्रकार जटिल हो जाती है तथा उसका निदान किस प्रकार से हो सकता है, यह वर्णन किया जाना मानसिक चिकित्सा विज्ञान के लिये आवश्यक है। इस पुस्तक में आधुनिक मनोविश्लेषण चिकित्सा-विधि और प्राचीन यौगिक विधि का समुचित वर्णन और प्रयोगों द्वारा तुलनात्मक परिचय कराया गया है। पूर्वी और पश्चिमी मनोवैज्ञानिक विचार-धारा में इतनी विषमता है कि इन दोनों विचारों का समन्वय करना अत्यन्त कठिन काम है। जो व्यक्ति इस

प्रकार के समन्वय की चेष्टा करता है उसे एक नये ही विज्ञान का आविष्कार करना पड़ता है।

वैज्ञानिक विधि की विशेषता

मानसिक चिकित्सा-विज्ञान एक प्रयोगात्मक विद्या है। यह शास्त्र नहीं है। अतएव इसमें वर्णित सिद्धान्त प्रयोगों की कसौटी पर सच्चे उतरे हुये सिद्धान्त हैं। शास्त्रज्ञान के पीछे दूसरे लोगों का अनुभव रहता है, किन्तु किसी भी वैज्ञानिक ज्ञान की भित्ति दूसरे लोगों का अनुभव नहीं हो सकती। अतएव यहाँ दूसरे लोगों के मतों का उतनी ही दूर तक उल्लेख किया गया है जहाँ तक कि वे उन लोगों के वास्तविक प्रयोगों में ठीक उतरे हैं, अथवा स्वयं लेखक के प्रयोग में ठीक उतरे हैं।

वैज्ञानिक विधि की एक विशेषता यह है कि इसमें कोरी कल्पना के लिये स्थान नहीं रहता। कल्पना अथवा सिद्धान्त का आधार निरीक्षण अथवा प्रयोग होता है। यह पुस्तक जिन सिद्धान्तों का उल्लेख करती है उन पर या तो स्वयं लेखक ने प्रयोग किया है अथवा दूसरे लोगों ने प्रयोग किया है। अभी और प्रयोगों की आवश्यकता है। विज्ञान के किसी भी सिद्धान्त की सत्यता तबतक नहीं स्थिर होती जब तक स्वयं विज्ञान का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति उस पर प्रयोग नहीं कर लेता। अतएव इस पुस्तक में कथित किसी भी बात को तबतक न माना जाय जबतक कि उस पर पाठक स्वयं प्रयोग न कर लें।

वैज्ञानिक पुस्तक दो प्रकार से लिखी जा सकती है—एक उदाहरणों का वर्णन करके सिद्धान्तों को स्थिर करना और दूसरे सिद्धान्तों को कहकर उदाहरणों को देना। लेखक ने पिछली रीति को अपनाया है। कहीं-कहीं सिद्धान्त और उदाहरण दोनों का एक साथ वर्णन किया है। विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में पहली विधि को अपनाना उचित होता है और उसकी प्रौढ़ावस्था में दूसरी विधि को ही अपनाया जाता है।

— ——— —

दूसरा प्रकरण

मन का स्वरूप और उसकी शक्तियाँ

मन के स्वरूप के जानने की आवश्यकता

मानसिक चिकित्सा के अभ्यास के लिये मन के स्वरूप, उसकी गुप्त क्रियाओं तथा उसकी शक्ति से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

मानसिक विकार की उत्पत्ति का ज्ञान

इन सब बातों का वर्णन मनोविज्ञान में समुचित रूप से किया जाता है। मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान किये बिना मानसिक चिकित्सा में हाथ डालना एक भारी भूल है। मानसिक चिकित्सा का ध्येय मानसिक विकार को नष्ट करना है। जबतक कोई मनुष्य मन के स्वरूप से भली प्रकार से परिचित नहीं है तबतक उसे मानसिक विकार क्या है; और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है—इस तथ्य का समुचित ज्ञान कैसे हो सकता है।

मानसिक रोगों की चिकित्सा करनेवाले कितने ही व्यक्ति मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं रखते, किन्तु वे झाड़-फूक अथवा प्रार्थना और पूजा के द्वारा कुछ मानसिक रोगो की चिकित्सा करने में सफल हो जाते हैं। मानसिक रोगों की चिकित्सा उनके लिये देवी-देवताओं अथवा ईश्वर की कृपामात्र होती है। देखा जाता है कि कुछ लोग पूजा और प्रार्थना के द्वारा जटिल मानसिक रोगों को भी नष्ट कर डालते हैं, पर वे न तो रोग के कारण जानते हैं और न उसके चले जाने का रहस्य को समझते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज का कुछ लाभ अवश्य करते हैं, किन्तु किसी जटिल रोग के सामने आ जाने पर वे असमर्थ हो जाते हैं। कभी-कभी इस प्रकार एक बार नष्ट किया हुआ रोग रोगी को फिर से हो जाता है। इससे इस प्रकार की चिकित्सा का अधूरापन अथवा व्यर्थता प्रत्यक्ष हो जाती है।

भौतिक चिकित्सा करनेवाले कितने ही वैद्य बिना रोग का वैज्ञानिक अध्ययन किये उसे कुछ दवाइयों के द्वारा नष्ट कर डालते हैं। जब किसी वैद्य के पास कोई रोगी जाता है तो वह रोगी को स्वस्थ करने मात्र की चेष्टा करता है। रोग कब और कैसे हुआ, इससे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह रोग के लिये दवाई देता है। जब एक दवाई ठीक नहीं होती तो उसे बदलकर दूसरी दे देता है। कितने ही रोगों की तो पेटेन्ट दवाइयाँ हैं। इन दवाइयों के उपयोग और रोगी के रोग के उदय के कारण से कोई मतलब नहीं रहता। पर ऐसी बात मानसिक रोग के विषय में नहीं होती। मानसिक रोग के नष्ट करने के लिये रोग का वैज्ञानिक अध्ययन और रोगी के पुराने अनुभव को जानना अत्यन्त आवश्यक है। कितने ही मानसिक रोग, उनका कारण रोगी की चेतना के समक्ष आते ही नष्ट हो जाते हैं। अपने रोग की दूसरे व्यक्ति के समक्ष चर्चा करने से रोग पर उसका क्या प्रभाव होता है, इसका ज्ञान मानसिक चिकित्सा को होना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रोगी को अपने रोग को दूसरे समक्ष बारबार कहने की सलाह नहीं देते, और कुछ इसे आवश्यक समझते हैं। मनोविज्ञान के पर्याप्तज्ञान के बिना इस प्रकार की सलाह का औचित्य अथवा अनौचित्य निश्चित नहीं किया जा सकता।

कारण के ज्ञान पर मानसिक चिकित्सा की निर्भरता

चिकित्सा विधि में आवश्यकता

कितने ही लोग अपने शारीरिक अथवा मानसिक रोग को नष्ट करने के लिये आत्मनिर्देश के अभ्यास की सलाह देते हैं। कभी-कभी इस प्रकार के अभ्यास से रोग नष्ट हो जाता है, पर कभी-कभी रोग के नष्ट होने के बदले वह आत्मनिर्देश के अभ्यास से और भी बढ़ जाता है। अब हमें यह जानना आवश्यक है कि आत्मनिर्देश की क्रिया में भूल कहाँ हुई, जिसके कारण अनुकूल परिणाम न होकर प्रतिकूल परिणाम हुआ। इसके लिये मन की गुप्त क्रियाओं को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इनके अज्ञान में आत्मनिर्देश का अभ्यास कराना रोगी को हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

जो व्यक्ति वैज्ञानिक ढंग से मानसिक चिकित्सा करना चाहता है उसका काम बिना मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान हुए चल ही नहीं सकता। वास्तव में आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है। मानसिक रोगों का वर्णन करते समय हम मनोविज्ञान की उपयोगिता को भली प्रकार से देखेंगे।

मन के दो भाग

आधुनिक मनोवैज्ञा-निक खोजों का महत्व

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के स्वरूप के विषय में चमत्कारक खोजें की हैं। पुराने समय में मन एकसी सम्पूर्ण वस्तु मानी जाती थी। साधारण मनोवैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार मन वह वस्तु है जिसे हम अपने चिन्तन करने, पुरानी बात याद करने, कल्पना करने तथा किसी बात का निश्चय करने में जानते हैं। मनुष्य को किसी पदार्थ के विषय में जितना कम ज्ञान होता है वह अपने ज्ञान को उतना ही पूर्ण जानता है। पुराने मनोवैज्ञानिक मन की साधारण ज्ञात क्रियाओं का वर्णन करके समझ बैठते थे कि मन के विषय में जो कुछ कहना चाहिये था वह सब कह डाला। जब फ्रायड महाशय ने मन के अन्तर पटल की खोज की और संसार के मनोवैज्ञानिकों को प्रमाण सहित कहा कि वे जो कुछ मन के विषय में जानते हैं वह मन के बड़े क्षुद्र भाग का ही वर्णन है तो वे बहुत कुछ नाक भौं सिकोड़ने लगे। फिर जब उसने कहा कि मन के बाहरी और भीतरी भाग में बहुत विषमता है, बाहरी मन नैतिक प्रतिबन्धों को मानता है और भीतरी मन इनके विषय में उदासीन रहता है तो उनके आश्चर्य और क्रोध की सीमा न रह गई। पर सत्य को कोई कहाँ तक छिपा सकता है। अपनी कल्पना के आधार पर फ्रायड महाशय ने अनेक मानसिक रोगियों की सफल चिकित्सा की। कुछ दिनों में ही अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी हो गये। संसार के गुणग्राही विद्वान् मन के अन्तर-

पटल की खोजों में और दत्तचित्त होकर लग गए। आज जब कि मन के अन्तरपटल के विषय में हमारा पर्याप्त ज्ञान हो चुका है, मनोविज्ञान के सर्वोत्कृष्ट पण्डित चार्ल्सयुंग महाशय कहते हैं कि हमने मन के विषय में अभी अध्ययन प्रारंभ मात्र किया है। अपने मन के विषय में हमारा ज्ञान अधूरा ही नहीं, बहुत ही क्षुद्र है। सैकड़ो वर्षों तक मन के विषय में अधिक खोज होने की आवश्यकता है। मन के ज्ञान को पूर्ण करके ही संसार में किसी प्रकार की शान्ति हो सकती है। मनोविज्ञान न केवल मानसिक बीमारियों की चिकित्सा की कुञ्जी अपने पास रखता है वरन् मानव-जीवन की समस्त समस्याओं की कुञ्जी उसके पास है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के दो भाग माने हैं—एक चेतन और दूसरा अचेतन। इन दो भागों की कल्पना पहले-पहल इमील कूए महाशय ने की थी। इस कल्पना के आधार पर ही वे मानसिक और शारीरिक रोगियों की चिकित्सा करते थे। इमील कूए के शिष्य फ्रायड महाशय ने इस कल्पना को वैज्ञानिक रूप दे दिया।

चेतन और अचेतन मन

अचेतन मन की भावनाओं की खोज करने में जो कुशलता फ्रायड महाशय ने दिखाई है वह उनके पूर्वज किसी मनोवैज्ञानिक ने नहीं दिखाई। अचेतद मन हमारा आन्तरिक मन है। चेतन मन और अचेतन मन में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अचेतन मन का वास्तविक रूप कैसा है—नैतिक-अनैतिक अथवा उदासीन, इस प्रश्न पर फ्रायड और उनके बाद के मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है प्रोफेसर हेडफील्ड ने अचेतन मन की नैतिकता दर्शाई और डॉक्टर होमरलेन तथा प्रोफेसर युंग ने उसमें आध्यात्मिकता का आधार पाया। इन सभी महापुरुषों के विचार जानने योग्य हैं। पर मानसिक चिकित्सा के व्यावहारिक लक्ष्य को ध्यान में रखकर यहां इनका पूरा वर्णन करना लाभदायक नहीं है। हम यहाँ अचेतन मन के उन गुणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे जो रोगियों की चिकित्सा दृष्टि से महत्त्व के हैं।

अचेतन मन की उपस्थिति के प्रमाण

मनोविज्ञान से अपरिचित लोग समझते हैं कि हम अपने-आपको भली

प्रकार से जानते हैं। न केवल हम अपने-आपको वरन् दूसरे लोगों को भी पूर्णतः समझने का दावा रखते हैं। पर वस्तुस्थिति दूसरी है। दूसरे व्यक्ति को अर्थात् उसके मन को जानना तो दूर रहा, हम स्वयं अपने ही मन को पूर्णतः नहीं जानते। जब तक हमें अपने मन का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक दूसरे व्यक्ति के मन को हम कैसे जान सकते हैं। साधारणतः हम अपने मन की क्रियाओं को अपने वश की बात ही समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह जैसी इच्छा रखता उसी प्रकार वह चिन्तन और आचरण भी कर सकता है। पर जब हम अपने मन की क्रियाओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से करने लगते हैं तो बात दूसरी ही दिखाई देती है। जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन पर हमारा पूर्णतः अधिकार नहीं रहता इसी प्रकार हमारा अपने मन पर भी पूर्ण अधिकार नहीं है।

हमारी अपने आपके विषय में अज्ञानता

मन की कुछ क्रियायें ज्ञात रूप से और कुछ अज्ञात रूप से होती रहती हैं। अज्ञात रूप से होने वाली क्रियाओं का नियंत्रण हमारे वश की बात नहीं है। जब हम सो जाते हैं तो हमारा साधारण मन क्रियाहीन हो जाता है, पर हमारा आन्तरिक मन क्रियाशील रहता है। स्वप्न की उत्पत्ति इसी मन की क्रिया के कारण होती है। हम जैसा चाहते हैं वैसे स्वप्न नहीं देख सकते। जिन बातों को हम नहीं सोचते उनको हम स्वप्न में देखते हैं। स्वप्न में हम अपने आपको बीमार पड़े हुए अथवा भयानक स्थिति में पाते हैं। स्वप्न में हम अनेक प्रकार के अनैतिक आचरण करते हुए पाते हैं। सन्त और महात्मा लोग भी स्वप्न में अपने-आपको व्यभिचार करते हुए देखते हैं। जागने पर उन्हें इस प्रकार के कृत्यों से दुःख भले ही हो पर वे स्वप्न में अपने-आपको इनसे रोक नहीं सकते। स्वप्न की क्रियाओं के नियम जाग्रतावस्था की क्रियाओं के नियम से पृथक हैं। जो मनुष्य साधु जैसा जाग्रतावस्था में व्यवहार करता है वही स्वप्नावस्था में पशु जैसा व्यवहार करने लगता है। पर स्वप्न-दर्शन अथवा उनका उत्पादन उसी प्रकार हमारे मन का काम है जिस प्रकार जाग्रतावस्था की क्रियायें हमारे मन का कार्य हैं।

स्वप्न का होना

हमारा बाहरी मन जाग्रतावस्था की क्रियाओं का संचालन करता है और हमारा भीतरी मन, जिसे फ्रायड महाशय ने अचेतन मन कहा है, भीतरी क्रियाओं का सञ्चालन करता है। स्वप्न का होना मन के एक ऐसे भाग की उपस्थिति को प्रमाणित करता है जिसे हम न तो भली प्रकार से जानते हैं और न जिसके ऊपर हमारा कोई नियंत्रण है।

जिस प्रकार स्वप्न-दर्शन आन्तरिक मन अर्थात् अचेतन मन की उपस्थिति को प्रमाणित करते हैं इसी प्रकार मनोराज्य में विचरण

मनोराज्य की उपस्थिति भी आन्तरिक मन की उपस्थिति को प्रमाणित करता है। जाग्रतावस्था में हम अपने मन को कभी भी क्रियाहीन नहीं पाते। हमारा मन कुछ-न-कुछ सोचा ही करता है। यदि मन के एक प्रकार के विचार को बंद कर दिया जाय तो दूसरे प्रकार का विचार तुरन्त उठ जाता है। कभी-कभी हम कल्पना के संसार में विचरण करने लगते हैं। ये कल्पनायें अपने-आप मन में उठती हैं और फिर अपने-आप शान्त हो जाती हैं। कभी-कभी ये कल्पनायें सुखद होती हैं और कभी-कभी बड़ी दुखद होती हैं। मानसिक रोग की अवस्था में व्यक्ति को ऐसी अनेक कल्पनायें आती रहती हैं जिनका आना वह स्वयं नहीं चाहता। वह जिस बात को भूलना चाहता है वही बात बार-बार उसके मन में आती है। वह उसे दबाने की जितनी चेष्टा करता है वह उतनी ही अधिक प्रबल हो जाती है। जब तक मनुष्य इस प्रकार की कल्पनाओं का सामना नहीं करता, जिन्हें वह भुलाना चाहता है पर वे मन से नहीं निकलती तब तक वह अपने आन्तरिक मन की शक्ति से परिचित नहीं होता। ये कल्पनायें मनुष्य के उस भाग का कार्य हैं जो उसके नियन्त्रण के बाहर है। जिस प्रकार हम अपने स्वप्नों का इच्छानुसार नियन्त्रण नहीं कर सकते उसी तरह हम अपनी अभद्र कल्पनाओं का नियन्त्रण नहीं कर सकते। अपने बुरे स्वप्नों में होनेवाली आन्तरिक मन की क्रियाओं को समझ कर ही मनुष्य उनका नियन्त्रण कर सकता है, इसी प्रकार आन्तरिक मन की क्रियाओं को समझ कर ही हम अपनी कल्पनाओं का नियन्त्रण कर सकते हैं।

अचेतन मन की उपस्थिति का दूसरा प्रमाण उसकी असाधारण भूलें हैं।

जिस काम को हमारा आन्तरिक मन नहीं करना चाहता उसे वह भुला देता है; अर्थात् वह उसकी स्मृति चेतन मन के पटल पर नहीं आने देता। यदि इस प्रकार की भुल से यह समझ लिया जाय कि हमारे पूरे मन से भी भूली बात चली गई है तो बड़ी भूल होगी। देखा गया है कि जिस बात को हम एक बार भूले हुए रहते हैं वही बात दूसरे समय हमें याद आ जाती है। अप्रिय नाम अथवा अप्रिय घटना को मनुष्य भुलाने की चेष्टा करते रहता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आन्तरिक इच्छा इस प्रकार की स्मृति नहीं चाहती। पर जब मनुष्य अपने मन की खोज करता है तो वह उस स्मृति को जीवित पाता है। मनुष्य की साधारण भूलें उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही उत्पन्न होती है। जब मनुष्य के आन्तरिक मन के दो भागों में विषमता उत्पन्न हो जाती हैं अर्थात् जब मनुष्य का प्रतिहारी मन किसी घटना का स्मरण उचित नहीं समझता तो मनुष्य उस घटना को भूल जाता है। जब उसका प्रतिहारी मन उस घटना का स्मृतिपटल पर आना उचित समझता है तो वह घटना स्मरण हो जाती हैं। इसी तरह जब मनुष्य का प्रतिहारी मन सतर्क नहीं रहता तो विस्मृत घटना एकाएक स्मरण हो जाती है। कभी-कभी अचानक ही मनुष्य कुछ-का-कुछ कह बैठता है। इस तरह की भूलें प्रतिहारी की सतर्कता में त्रुटि हो जाने के कारण होती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने हित के प्रतिकूल ही आचरण कर बैठता है।

असाधारण भूलें

जिस प्रकार मनुष्य का अचेतन मन स्वप्न, मनोराज्य तथा असाधारण भूलों की सृष्टि करता है इसी प्रकार वह सांकेतिक चेष्टाओं, झक और इल्लतों की भी सृष्टि है। ये बातें चेतना के नियन्त्रण के परे होती हैं। इनको नियन्त्रण करने का प्रयत्न विफल होता है। इनकी सृष्टि अचेतन मन में होने वाले संघर्ष के कारण होती है। आगे चलकर संघर्ष के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझाने की चेष्टा की गई है। यहां यह कह देना आवश्यक है कि यह संघर्ष मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे होता है और इसका ज्ञान भी साधारणतः

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व

व्यक्ति को नहीं रहता। चेतना की सतह पर मनुष्य की वासना और उसके आदर्श में होने वाला संघर्ष मनुष्य में विक्षिप्तता की उत्पत्ति नहीं करता। इस प्रकार के संघर्ष से उसका मानसिक बल बढ़ता है और उसकी इच्छाशक्ति दृढ़ होती है। मानसिक शक्ति का ह्रास चेतना की सतह के नीचे होने वाले संघर्ष से होता है। इस संघर्ष का आरम्भ चेतना की सतह पर होता है पर पीछे वह चेतना के परे अपने-आप होते रहता है, इस संघर्ष का रोकना साधारण बात नहीं होती। जिस प्रकार राज्य के समर्थक और उसके विरोधी दलों के संघर्ष प्रारम्भ ज्ञात रूप से ही होता है, पर पीछे वह राजसत्ता के अनजाने और उसकी इच्छा के विरुद्ध भी चलता रहता है, इसी प्रकार अचेतन मन के विभिन्न भागों के संघर्ष का प्रारम्भ चेतना की सतह पर ही होता है और इसका कारण कोई भावपूर्ण घटना होती है, पर एक बार इस संघर्ष के प्रारम्भ होने वह अचेतन मन में अपने-आप चलते रहता है और व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध भी वह चलता है।

आन्तरिक मन के दो भाग

हमारे आन्तरिक मन के भी दो भाग हैं—प्रसुप्त या अचेतन मन और प्रातिहारी। एक भाग दुःखद स्मृतियों को बनाये रखता है। यह सबसे आन्तरिक भाग हैं। यह भाग शक्ति का केन्द्र और अपने सब अनुभवों का संचयगृह है। यह नैतिकता और अनैतिकता के परे है। मनुष्य की जीवन-शक्ति इसी भाग से प्राप्त होती है। स्वास्थ्य और रोग इसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता पर निर्भर करते हैं। यह सदा प्रकाशित होना चाहता है। जब तक इसे प्रकाशन का मार्ग मिलता जाता है। मनुष्य की जीवन धारा सुचारु रूप से चलती है। जब इसके प्रकाशन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो यह अपने प्रकाशन के लिये नये विकृत मार्ग खोजता है और इससे जीवनधारा के प्रवाह में अनेक प्रकार की अड़चनें आने लगती हैं। इस मन के प्रकाशन का क्षेत्र मनुष्य की चेतना ही है। जब मनुष्य की चेतना इस मन की भावनाओं को स्वीकार करती है तो मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता है; जब इस

प्रसुप्त मन की विलक्षणता

मन की भावनाओं को मनुष्य स्वीकार नहीं करता तो उसके मानसिक स्वास्थ्य में अनेक प्रकार की बुराइयां आ जाती हैं।

आन्तरिक मन का दूसरा भाग नैतिक है। यह आदर्शवादी है। यही 'मन' अहंकार का कारण है। आन्तरिक मन के प्रकाशन में यह रुकावट डालता है। यह मन भी चेतना के परे है। मन का यह भाग प्रतिहारी की विलक्षणता उचित और अनुचित का विचार करता है। जिस बात का प्रकाशन यह अनुचित समझता है उसे प्रकाशित नहीं होने देता। यदि किसी प्रकार की स्मृति से मनुष्य को दुःख होता है तो वह ऐसा स्मृति को चेतना की सतह पर नहीं आने देता। इसी तरह वह जिन वासनाओं का प्रकाशन अवांछनीय समझता है उनका प्रकाशन नहीं होने देता। यह मन एक प्रकार के प्रतिहारी या पहरुआ के रूप में आन्तरिक मन की प्रत्येक चेष्टा का निरीक्षण करते रहता है। इसका विकास शिक्षा के द्वारा होता है। मनुष्य की जैसी शिक्षा होती है उसके प्रतिहारी मन की बनावट भी उसी प्रकार की होती है। कभी-कभी प्रतिहारी का आन्तरिक मन के ऊपर अति कठोर नियन्त्रण हो जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण के विशेष कारण होते हैं। ऐसी अवस्था में आन्तरिक मन को अपने प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता। जब मनुष्य के आन्तरिक मन को अपने प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता है तो उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में भारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था में मनुष्य की शक्ति का अपव्यय होने लगता है और फिर मनुष्य का कोई भी काम सुचारु रूप से नहीं चलता। उससे अपने कामों में अनेक प्रकार की भूलें होने लगती हैं। उसका उत्साह भंग हो जाता है और अनेक प्रकार के निराशा के विचार उसके मन में आने लगते हैं। पीछे वह किसी न किसी प्रकार की मानसिक बीमारी का शिकार बन जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये मन के विभिन्न भागों में सामञ्जस्य रहना नितान्त आवश्यक है। किसी प्रकार का अतिक्रम विक्षिप्तता उत्पन्न करता है। विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य अपने-आप को सम्हालने में असमर्थ रहता है। मनुष्य की दबी हुई भावनायें अब अचेतन मन की शक्ति पाकर बड़े वेग के

साथ चेतना के ऊपर आ जाती हैं और फिर वे मन चाहे जैसा व्यवहार करने लगती हैं। फिर मनुष्य के विचारों में किसी प्रकार की क्रमबद्धता अथवा तारतम्यता नहीं रहती। उसके आचरण भी उच्छृङ्खल हो जाते हैं।

मन के बाहरी और भीतरी भागों की तुलना राष्ट्र के विभिन्न अंगों से की जा सकती है। किसी स्वतन्त्र राष्ट्र में दो भाग होते हैं—शासक वर्ग और शासित वर्ग। शासित वर्ग अनेक प्रकार की टुकड़ियों में विभक्त रहता है। इन टुकड़ियों के नेता रहते हैं। जब शासन अति कठोर होता है तो इन टुकड़ियों के नेताओं को राज्य कार्य में कोई स्थान नहीं दिया जाता। वे अपने आत्म-प्रकाशन का अवसर नहीं पाते, इससे वे असन्तुष्ट हो जाते हैं। इन असन्तुष्ट व्यक्तियों के दमन के लिये राज्य को गुप्तचरों और फौज की संख्या बढ़ानी पड़ती है। इनके भय के कारण वे अब अनेक प्रकार से अपने आप को छिपाते हैं। वे एक ओर अंतर्ध्यान हो जाते हैं और दूसरी ओर गुप्त-रीति से राज्य के कार्य में बाधा डालते रहते हैं। कभी-कभी वे राज्य के गुप्तचरों पर हमला भी कर देते हैं। राज्य के पास अब दो ही मार्ग रहते हैं—एक इन्हें आत्म-प्रकाशन का अवसर देकर संतुष्ट करना और दूसरे उनकी खोज करके भली प्रकार से दमन करना। दमन करने के लिये राज्य को पुलिस और फौज की संख्या बढ़ानी पड़ती है। पर इस प्रकार की वृद्धि से जनता के ऊपर इतना भार पड़ जाता है कि सारी जनता ही राज्य से असंतुष्ट हो जाती है। इसके कारण जनता राज्य के प्रति उदासीन हो जाती और कभी-कभी राज्य के विनाश की इच्छा करने लगती है। जनता के असंतोष का लाभ टुकड़ियों के नेता लोग उठाते हैं और वे फिर अपना बल संचित करके राज्य पर आक्रमण कर देते हैं। इस प्रकार के आक्रमण से राष्ट्र का लाभ न होकर हानि ही होती है। राष्ट्र ऐसी अवस्था में टुकड़े टुकड़े में विभक्त हो जाता है। उसका कोई भी संरक्षक अथवा स्वामी नहीं रहता। यह राष्ट्र की विक्षिप्तता की अवस्था है। इसका प्रधान कारण प्रतिपक्षी की राय पर विचार न करना और उसे आत्म-प्रकाशन का अवसर न देना है। जिस प्रकार राज्य संचालन के लिये राज्य करने वाली सत्ता और राष्ट्र के भिन्न

राष्ट्र से मन की तुलना

भिन्न दलों के नेताओं में सामञ्जस्य होना आवश्यक है इसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिये मनुष्य की वासनाओं और उसके नैतिक मन अथवा अहंकार में सामञ्जस्य होना नितान्त आवश्यक है।

इस सामञ्जस्य का स्थापित करना एक भारी मनोवैज्ञानिक कार्य है। इसके स्थापन में ही मानसिक चिकित्सा का रहस्य है। इस पुस्तक के आगे आने वाले पृष्ठों में यह दर्शाने की चेष्टा की गई है कि एक बार मानसिक विषमता उत्पन्न होने पर कैसे मानसिक सामाञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

चेतन और अचेतन मन का सम्बन्ध

(हमारा चेतन मन बाहरी मन है और हमारा अचेतन मन आन्तरिक मन है।) ऊपर अचेतन मन के दो भाग बताये गये हैं—एक प्रसुप्त मन और दूसरा प्रतिहारी। चेतना कार्य का क्षेत्र है, प्रतिहारी नैतिकता का रक्षक है। जीवन आदर्श प्रतिहारी के द्वारा निर्मित रहते हैं और शक्ति का केन्द्र प्रसुप्त मन है। यह वासना का घर है। वासना ही शक्ति रूपेण है। वासना के द्वारा ही भले और बुरे काम होते हैं। नियमित रूप से वासना के प्रकाशन से भले काम होते हैं और बिना नियंत्रण के वासना के प्रकाशन से बुरे काम होते हैं। वासना के अवरोध से निराशा और विक्षिप्तता उत्पन्न होती है। उसके शोध से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है।)

मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। विचार हमारी चेतना पर आते हैं और जिस प्रकार का आचरण हम करते हैं वे हमारे अचेतन स्वभाव का अंग बन जाते हैं। प्रत्येक विचार और आचरण का प्रभाव हमारे अचेतन मन पर पड़ता है। इस तरह हमारे स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। मानसिक विकास मनुष्य को स्वार्थ त्याग और परमार्थ की ओर ले जाता है। मानसिक विकास के अनुकूल विचार तथा आचरण होने से मनुष्य का स्वास्थ्य रक्षित रहता है। उसकी प्रतिभा नित्य प्रति बढ़ती जाती है। मानसिक विकास के प्रति कूल बिचार और आचरण होने पर मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसके स्वास्थ्य का बिनाश हो जाता है।

पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी प्रकार का अतिक्रम मान-

सिक विकास की अवस्था को नहीं दर्शाता। प्रत्येक क्रिया की प्रति क्रिया होतीहै। आदर्शवादिता और वासना दोनों का सामञ्जस्य जब तक मनुष्य के मन में स्थापित नहीं होता तब तक उसका मानसिक बिकास समुचित रूप से नहीं होता। एक प्रकार का अतिक्रम दूसरे प्रकार के अतिक्रम का कारण बन जाता है — वासना का अतिक्रम आदर्शवादिता की और आदर्शवादिता का अतिक्रम वासना की प्रति क्रिया में होता है, जो रोग में प्रकाशित होती है। स्थायी मानसिकबिकास धीरे धीरे होता है। मानसिक बिकास आत्म शिक्षा द्वारा होता है। यह शिक्षा धीरे धीरे अनुभव के आधार पर होती है। जिस प्रकार किसी बालक को एका एक सुशिक्षित नहीं बनाया जा सकता इसी प्रकार अपने अचेतन मन को भी एका एक सुशिक्षित नहीं बनाया जा सकता। पर नित्य प्रति प्रयत्न करते रहने पर हमारे मन में स्थायी परिवर्तन हो जाता है।

अचेतन मन की विलक्षणता

मनके जिस भाग को हम अपने चिन्तन करने के काम में लाते हैं वह चेतन मन कहलाता है। चेतन मन के द्वारा हमारी सभी ज्ञात क्रियायें होती हैं — चाहे वे क्रियायें मानसिक हों अथवा शारीरिक। चेतन मन के द्वारा हम सत् असत् विवेचन करते हैं और भले-बुरे का निर्णय करते हैं। हमारी जाग्रतावस्था में जो मन साधारणतः ज्ञात क्रियाओं को करता है वह चेतन मन है। अचेतन मन हमारे स्वप्न, भूलों, अज्ञात क्रियाओं, सांकेतिक चेष्टाओं तथा बिक्षिप्ता वस्था के कार्यों में प्रकाशित होता है। कूए महाशय ने इस अचेतन मन के निम्न लिखित गुण बताये हैं।

(१) अचेतन मन बड़ा भोला है।

(२) अचेतन मन बड़ा सच्चा है।

(३ अचेतन मन प्रेम का भूखा है।

(४ अचेतन मन बड़ा शक्तिशाली है।

(५) वह सदा सजग रहता है।

अचेतन मन के उपर्युक्त गुणों पर एक-एक कर विचार करना मानसिक चिकित्सा विधि को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतःएव अब हम इन पर क्रमशः एक एक कर के बिचार करेंगे

अचेतन मन का भोलापन

हमारा चेतन मन सांसारिक अनुभवों से अनेक प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता है। इस शिक्षा के कारण मनुष्य चालाक और चतुर बन जाता है, किन्तु उसका अचेतन मन चेतन की चालाकी और चतुराई से लाभ नहीं उठाता। वह भोला पन ही पसन्द करता है। जिस प्रकार बालक भोला होता है, उसी प्रकार मनुष्य का अचेतन मन भी बड़ा भोला है। जो कुछ उसे सुझा दिया जाता है वह उसे मान लेता है और उसी के अनुसार काम करने लगता है। जब हम तीन वर्ष के बालक को कह देते हैं कि उसका कान कौवा ले गया तो वह अपना कान खोजे बिना ही रोने लगता है। उसे बिश्वास हो जाता है कि उसका कान सच-मुच में कौआ लेगयाहै। इसी प्रकार मनुष्य का अचेतन मन किसी प्रकार की छान बीन किये बिना ही उसमें बिश्वास कर लेता है

बालक के और प्रौढ़ व्यक्तियों के अचेतन मन में समानता

बालक के चेतन और अचेतन मन में अधिक विषमता नही रहती, अतएव जैसी बात बालक को कह दी जाती है वह उसमें विश्वास कर लेता है। मान लीजिए बालक को कह दिया जाय कि यदि तुम मलाई खाओ गे तो तुम्हें खाँसी हो जायेगी। अब यदि बालक की मलाई खाने की इच्छा बड़ी ही प्रबल है और वह चोरी कर के मलाई खा लेता है, साथ ही साथ वह डरता है कि कहीं उसे खाँसी न आ जाय और इससे उसकी चोरी का पता माता-पिता को न लग जाय तो उसे खाँसी अवश्य आजायेगी। यदि अब बालक के मन में बैठाया जाय कि यदि वह मलाई खावे तो खूब मोटा ताजा हो जावेगा, तो मलाई खाने पर वह मोटा ही हो जावेगा। मनुष्य का स्वास्थ्य उसके इस भोले मन के अधिकार की बात है। भोले मन की भावनायें जैसी होती हैं। उसका स्वास्थ्य उसी प्रकार का हो जाता है।

बालक और प्रौढ़ व्यक्तिओके मन में भेद

बालक के अचेतन मन पर चेतन मन के द्वारा सीधे प्रभाव डाला जा सकता है, पर प्रौढ़ व्यक्तियों के अचेतन मन को सीधे रूप से प्रभावित नहीं किया

जा सकता है। कभी कभी-प्रौढ़ व्यक्तियों को जो बात कही जाती है उसका ठीक उलटा प्रभाव उनके अचेतन मन पर पड़ता है। चालाक मनुष्य के चेतन और और अचेतन मन में भारी विषमता रहती है, अतएव जिस प्रकार हम अपनी इच्छा के अनुसार बालक के मन पर प्रभाव उसे उपदेश देकर डाल सकते हैं चालाक मनुष्य के मन पर इस प्रकार उपदेश से प्रभाव नहीं डाल सकते। चालाक मनुष्य बड़ा ही सतर्क और संदेहास्पद बुद्धि का रहता है। अतएव-जब उसकी भलाई की बात भी उसे कोई कहता है तो भी उसका हृदय अपने पूर्व अभ्यास के कारण उसे ग्रहण नहीं करता। जब स्वयं चालाक मनुष्य किसी शुभ भावना को अपने मन में डालना चाहता है तो भी उसके प्रभाव का बिश्वास उसे नहीं होता। उसके अचेतन मन में चेतन मन के शुभ निर्देश का उलटा ही प्रभाव पड़ता है। जब व्यक्ति का अचेतन मन चेतन मन की चालाकी से परिचित हो जाता है तो वह उसकी सभी बातों का उलटा अर्थ लगाने लगता है। यही कारण है कि चतुर बुद्धिमान मनुष्यों को आध्यात्मिक शिक्षा से उतना लाभ नहीं होता जितना संसार के भोले भाले लोगों को होता है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक चालाकी रहती है वह अपने मन को उतना ही कम काबू में रख सकताहै और इस प्रकार वह अपना उतना ही कम कल्याण कर सकताहै।

पढ़े लिखे चालाक मनुष्यों के अचेतन मनमें (जिसे कभी-कभी हृदय कहा जाता है) कोई बात बैठाना कठिन होता है, किन्तु यदि कोई बात एक बार उनके मन में बैठ जाय तो उसे निकालना भी उतना ही कठिन होता है। मान लीजिये, किसी चतुर मनुष्य के मन यह बात बैठ गई कि उसके पेट में एक फोड़ा हो रहा है। अब उसे वैद्य लोग कितना ही क्यों न बतावें कि उसके पेट में फोड़ा नहीं है तो उसे विश्वास नहीं होगा कि पेट में फोड़ा नहीं है। उसकी बुद्धि उसे चाहे जितनी कहे कि उसके पेट में फोड़ा होना संभव नहीं तब भी वह पेट के भीतर फोड़े के विचार से मुक्त न होगा। लेखक के एक छात्र को (जो नवयुवक है) बहम हो गया है कि उसे पेचिस (अतिसार) की भारी बीमारी है और उसके पेट में जखम हो गये हैं। कभी कभी उसे पेट से आँव भी जाती है। उसने अपने रोग का सभी प्रकार की चिकित्सा विधियों से इलाज कराया पर उसका वह

रोग ठीक न हुआ। उसने फिर बम्बई में जाकर पेट के रोगों के विशेषज्ञों से सलाह ली और अपनी अंतड़ियों की जाँच एक्सरे द्वारा करवाई। इस परीक्षा के परिणाम स्वरूप बीमारी का कोई पता न चला। बड़े बड़े प्रतिष्ठित डाक्टरों ने उससे कह दिया कि उसे कोई रोग नहीं है और वह दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों की तरह पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति है। स्वयं वह भी अब यह समझता है कि उसका स्वास्थ्य दूसरे व्यक्तियों से किसी तरह बिगड़ा नहीं है, तिसपर भी उसका पेचिस का बहम उसे नहीं छोड़ता। उसका कथन है कि जब तक मैं किसी भारी काम में लगा रहता हूं तबतक मुझे अपना रोग याद नहीं आता, पर जब मैं उससे मुक्त हो जाता हूं तब सब समय मुझे अपना रोग याद आने लगता है और मैं वास्तव में पेट की पीड़ा का अनुभव करने लगता हूं।

यह छात्र इस वर्ष (१९४७) के ट्रेनिंग कालेज के छात्रों में सर्वोत्तम योग्यता रखने वाला है। यह बड़ा प्रतिभावान व्यक्ति है और बहुत सुन्दर कविताओं की रचना करता है। वह इतना चतुर है कि उसे बहस में कोई भी छात्र हरा नहीं सकता। उसकी उमर अभी पचीस वर्ष के लगभग है। वह वह सभी प्रकार के काम कुशलता से करता है। पर वह अपने बहम को मन से बाहर निकालने में असर्थ है।*

लेखक के एक दूसरे बाइस वर्ष के छात्र को संदेह उत्पन्न हो गया था कि उसे कोई भारी हृदय का रोग हो गया है। इसके लिये उसने अनेक चतुर डाक्टरों से हृदय की परीक्षा करवाई और किसी प्रकार का रोग न पाया। हृदय की कई बार एक्सरे के द्वारा फोटो ली गई, पर हृदय में किसी प्रकार का दोष न पाया गया, तिस पर भी वह अपने बहम को मन से हटाने में असमर्थ

* उक्त विद्यार्थी को चार वर्ष पूर्व एम० ए० के लिये अध्ययन करना पेट के दर्द के मारे छोड़ना पड़ा था। इस साल जब लेखकको को उसने अपना मानसिक रोग बताया उससे आत्म-निर्देश का अभ्यास कराया गया। इसके परिणामस्वरूप उसका पेट का दर्द जाता रहा और वह बी० टी० की परीक्षा में सर्वप्रथम आया। (इसका नाम रामचन्द्र पाण्डेय है, यह गाँव कासून, पोस्ट दबाल बाग, जिला अलमोड़ा का है।)

था। वह जानता था कि उसका वहम व्यर्थ है, पर उसका मन अपनी धारणा को नहीं छोड़ता था।

यदि किसी प्रकार का अपने प्रति ही अशुभ विचार मनुष्य के मन में आजावे तो मन को उससे मुक्त करना कठिन होता है। चाहे विचार कितना ही तर्क विहीन क्यों न हो अचेतन मन के उससे पकड़ लेने पर वह छूटता नहीं। मनुष्य के अचेतन मन में जो ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं उनका तर्क बुद्धि के द्वारा निराकरण करना कठिन होता है। मनुष्य के मन में सगुन-असगुन की भावना, भूत-प्रेत और देवी-देवताओं की भावनायें बालकाल में पड़ जाती हैं। अतएव मनुष्य प्रौढ़ होने पर भी इनसे मुक्त नहीं होता है। वैज्ञानिक बुद्धि की वृद्धि होने पर भी ये भावनायें मन से सर्वथा नहीं जाती। कभी कभी जब मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में अधिक विषमता हो जाती है, फिर जितना ही अधिक इन भावनाओं से मुक्त होने की चेष्टा करता है उतना ही वे उसे और भी पकड़ लेती हैं। लेखके एक फुफेरे भाई की सगुन असगुन की भावनायें बहुत ही प्रबल हैं। उसका कथन है कि उसे किसी भले काम के करने के पहले कोई असगुन हो जाता है और वह अवश्य फलित होता है।

ट्रेनिंग कालेज के एक छात्र जिनकी उमर कोई तीस साल की है संतान हीन हैं। उसका कथन है कि उसके या तो सन्तान होती ही नहीं अथवा होती है तो मर जाती है। इसका कारण बताते हुए कहा कि उसकी एक परदादी कह गई थी कि तुम लोग अपना विवाह संबंध एक विशेष परिवार से मत करना, नहीं तो तुम्हारा वंश न चलेगा। पर उनके मरने के बाद उसकी बात की अवहेलना करके इस छात्र के दादा ने वर्जित परिवार में विवाह सम्बन्ध किया। अब इसके परिणाम स्वरूप वंश के अंत हो जाने की स्थिति आ गई है। हम यहाँ देखते हैं कि जो बात मनुष्य के अचेतन मन में बैठ जाती है, अचेतन मन उसी के अनुसार काम करने लगता है और वह इतना बली है कि उसकी इच्छा के अनुसार मनुष्य का भाग्य-निर्माण होने लगता है।

बालक और प्रौढ़ व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन के सम्बन्ध में भेद

है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम दोनों के कल्याण के लिये दो प्रकार का व्यवहार करें। बालक और प्रौढ़ दोनों व्यक्तियों का अचेतन मन भोला ही होता, पर जहाँ बालक का चेतन मन भी भोला होता है प्रौढ़ व्यक्ति का चेतन मन चालाक हो जाता है। इसके कारण जहाँ बालक के चेतन और अचेतन मन में एकता रहती है, प्रौढ़ व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन में एकता नहीं रहती। अतएव बालक को कोई भी वस्तु उपदेश के रूप में कह कर हम उसे प्रभावित कर सकते हैं। बालक के आचरण, प्रतिभा, स्वास्थ्य में परिवर्तन उसके चेतन मन के द्वारा सीधा निर्देश देकर किया जा सकता है। बालक के विषय में हम जिस प्रकार चर्चा करते हैं उसमें उसी प्रकार के परिवर्तन अपने-आप होने लगते हैं। जो व्यक्ति बालक को प्यार करते हैं वे बालक के सम्पूर्ण मन से अपना ऐक्य स्थापित कर लेते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति बालक को जैसा बनाना चाहते हैं उसी प्रकार का वह बन जाता है।

बालक को प्रभावित करने का उपाय

प्रौढ़ व्यक्तियों के विषय में बात और ही प्रकार की है। प्रौढ़ व्यक्तियों को प्रभावित करने लिये कोई ऐसे उपाय को खोजना पड़ता है जिससे उनका अचेतन मन कही हुई बात पर विश्वास करने लगे। प्रौढ़ व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो बात काना-फूसी से कही जाती है उसका प्रभाव उनके अचेतन मन पर सीधी कही बात से अधिक पड़ता है। यदि किसी बालक को आप कहिये, तुम बहुत ही सुयोग्य हो और तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है तो इस बात पर बालक विश्वास कर लेगा। विश्वास करना अचेतन मन का काम है, बात को समझना चेतन मन का काम है। जब यही बात प्रौढ़ व्यक्ति को कही जाती है तो वह उस बात को समझ अवश्य लेता है पर उस पर उसका विश्वास नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि सभी लोग दूसरों से मीठी बातें स्वार्थवश कहा करते हैं। वे दूसरे लोगों की चापलूसी करके उनसे कोई लाभ उठाना चाहते हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक धनी अथवा उच्चपद पर होता है उसे स्वार्थी मनुष्य उतने ही

प्रौढ़ व्यक्तियों को प्रभावित करने का उपाय

अधिक मिलते हैं। ऐसे व्यक्ति के पास सच्चे लोग नहीं जाते। अतएव संसार में कोई सच्चा व्यक्ति है अथवा नहीं, इस पर उसका विश्वास ही नहीं होता। इस कारण से किसी भी प्रकार के निर्देश अथवा उपदेश पढ़े-लिखे चतुर व्यक्ति को लाभदायक नहीं होते। प्रौढ़ व्यक्ति के मन पर वही मनुष्य प्रभाव डाल सकता है जिसके विषय में उसे विश्वास होता है कि वह निस्वार्थ भाव से ही उसका कल्याण चाहता है। साधारण लोग प्रौढ़ व्यक्ति के मन पर सीधे उपाय के बदले कानाफूसी के द्वारा उसके मन पर अधिक प्रभाव डाल सकते हैं। यदि कानाफूसी में कोई ऐसी बात कह दी जाय जो विशेष प्रकार का अहित का विचार प्रौढ़ व्यक्ति के मन में उत्पन्न कर देती है तो फिर उसका इस विचार से मुक्त होना बड़ा कठिन होता है। जब डाक्टर लोग रोगी के विषय में अपनी काना फूसी में कह देते हैं कि अमुक रोग अब बच नहीं सकता तो रोगी भी अपने मृत्यु की बाट जोहने लगता है और उसके कारण वह मर भी जाता है*। लेखक को हाल ही में एक बूढ़ा व्यक्ति जो अभी पूरा स्वस्थ्य है मिला उसने अपने मृत्यु का समय "लकड़िया बाबा" से जिस पर उसकी श्रद्धा थी पूछा, बाबा ने कहा कि उसकी मृत्यु दो बर्ष तीन महीने बाद हो जायेगी। उसका कथन है कि एक बार लकड़िया बाबा की बात सत्य भी निकली थी, अतएव उसे विश्वास है कि उसकी मृत्यु निश्चित समय पर हो जावेगी। सम्भव है कि अपने विश्वास के परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु भी उक्त समय पर हो जावे।

किसी व्यक्ति के अचेतन मन को प्रभावित करने के लिए या तो उससे कोई बात उस समय कही जाय जब उस की संदेह-बुद्धि सुप्त हो अथवा उसके चेतन

---

* पेरिस की आर्ट गेलिरी में एक सुन्दर महिला का चित्र है। उसने अपने अपने बाल इस तरह सजाये हैं कि उनके कान दिखाई न पड़े। इसका कारण यह था कि उसे विश्वास हो गया था कि उसके कान बहुत बड़े बड़े हो गये हैं और वह भद्दे दिखाई देते हैं इस प्रकार का विश्वास उस में ईर्षा रखने वाली स्त्रियों ने आपेरा हाउस में उसके पीछे की कतार में बैठ कर उसके रूप के सम्बन्ध में काना फूसी कर के पैदा किया था। एक महिला ने उसकी सुन्दरता को सराह कर कहा "परन्तु उसके कान तो कुत्तों जैसे हैं, यदि मेरे ऐसे कान होते तो मैं उन्हें कटवा डालती।"

और अचेतन मन में पहले एकता स्थापित करे और फिर उसे किसी बात को सुझावे। स्वयं अपने अचेतन मन तक किसी सद्विचार को पहुचाने केलिये तर्क-बुद्धि अथवा संदेह-बुद्धि को शान्त करने की आवश्यकता होती है। संदेह बुद्धि के जाग जाने पर कही हुई बात का इच्छित परिणाम के ठीक उलटे परिणाम हो जाता है। यही कारण है कि कितने ही व्यक्ति अपने आप को प्रति दिन अच्छे आत्मनिर्देश देकर भी अपना कल्याण करने के बदले अकल्याण कर बैठते हैं। ऐसे ही लोगों की मृत्यु भी आत्म-निर्देश के अभ्यास को करते-करते हो जाती है तर्क बुद्धि जो हमें अनेक प्रकार की आपत्तियों से बचाती है हमारा अनर्थ भी करती है। किसी भी आत्मकल्याण के नये विचार को वह अचेतन मन तक नहीं जाने देती, वरन् उसके प्रतिकूल विचार को अचेतन मन में उत्पन्न कर देती है।

अचेतन मन की सचाई

प्रत्येक मनुष्य का आन्तरिक (अचेतन) मन सच्चा होता है, चाहे वह बालक हो अथवा प्रौढ़, पढ़ा लिखा और अनुभवी हो अथवा अपढ़ और सीधा सादा।

बालक का चेतन मन और अचेतन मन

बालक का चेतन मन भी सच्चा होता है। जो कुछ वह अनुभव करता है वही कह देता है। उसके विचार और भावना एक सी होती हैं। बालक के चेतन और अचेतन मन में एकता रहती है, अतएव जैसी भावनायें बालक के अचेतन मन में आती हैं वह वैसी ही उन्हें प्रकाशित कर देता है। समाज के सम्पर्क में आने पर तथा अनेक प्रकार की शिक्षायें पाने पर मनुष्य का चेतन मन चालाक हो जाता है। समाज मनुष्य को शिष्टता का व्यवहार करने के लिए बाध्य करता है। शिष्टता वास्तव में मनुष्य के आन्तरिक सद्भावों की परिचायक है। किन्तु सभी लोगों के प्रति किसी व्यक्ति की सद्भावना रहना सम्भवनहीं और सभी समय मनुष्य अपना पाशविक प्रवृत्तियों के ऊपर विजय प्राप्त नहीं किए रह सकता। अतएव शिष्ट व्यवहार के द्वारा अपने आन्तरिक भावों को छिपाने मात्र की चेष्टा करता है। जैसे-जैसे मनुष्य अधिक सभ्य होता है उसकी शिष्टता भी बढ़ जाती है। कुछ काल में उसकी शिष्टता उसकी आन्तरिक मानसिक स्थिति का पर्दा मात्र बन जाती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शिष्ट व्यवहार से लोगों को धोखा देने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार वह अपने आप को भी धोखा देने की चेष्टा करता। है इच्छाओं को अपने-आप के समक्ष भी स्वीकार नहीं करना चाहता। शिष्टता इस प्रकार मनुष्य को झूठा बनने के लिए बाध्य करती है साधारण शिष्ट मनुष्य को अपनी आन्तरिक भावनाओं का ज्ञान रहता है, अतएव ऐसा व्यक्ति धूर्त भलेही समझा जाय, वह पागल खाने का निवासी नहीं बनता। किन्तु जो व्यक्ति इतना शिष्ट हो जाता है कि अपने आप को स्वीकार करने से मुँह छिपाता है उसे पागल खाने में जाना पड़ता है। जो मनुष्य जितना सच्चा होता है उसके भीतरी और बाहरी मन में उतनी ही एकता होती है उसे किसी प्रकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सामना नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के व्यक्ति के व्यवहार में स्वाभाविकता पाई जाती है। न वह इतना शिष्ट होता है कि उसकी शिष्टता सभी लोगों का ध्यान आकर्षित करे और न वह इतना उद्दण्ड होता है कि वह सबको अनायास ही तकलीफ दे।

शिक्षा का परिणाम

बालक स्वभाव से सच्चा रहता है, पर समाज को उसकी सचाई पसन्द नहीं आती, अतएव उसे झूठे व्यवहार की ट्रेनिङ्ग दी जाती है। जब कोई व्यक्ति अपने बालक को कहता है कि जब तुमसे कोई पूछे कि पिता जी कहाँ हैं तो कह देना कि पिता जी घर पर नहीं हैं, तो आगन्तुक के आने पर बालक विचित्र प्रकार की बात उससे कहता है। जब उससे कोई आगन्तुक पूछताहै, "पिता जी घर-पर हैं?" तो वह उत्तर देता है —"पिता जी घर पर नहीं हैं" जब उससे फिर कहा जाता है कि जाओ देखो भीतर हैं कि नहीं, तो वह कह देता है — "पिता जी ने कहा है कि पिता जी घर पर नहीं हैं।" माता पिता बालक के इस बालक के इस प्रकार सच बोलने से नाराज हो कर बालक को डाँटते हैं। धीरे-धीरे बालक झूठ बोलने में पटु हो जाता है।

जिस प्रकार बालकों को झूठ बोलने की ट्रेनिङ्ग दी जाती है इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने-आपको झूठे व्यवहार के लिये ट्रेनिंग देता है। भूख लगे रहने पर भी वह खाने की अनिच्छा प्रगट नहीं करता है। उसे भय रहता है कि कहीं दूसरे लोग उसे भुखमरा न मान लें। एडीसन महाशय

का कथन है कि कुछ महिलायें किसी दावत में जाने के पहले घर पर भोजन कर लेती हैं ताकि वे दावत में बहाना कर सकें कि उन्हें भूख नहीं है और इस प्रकार वे शिष्ट महिलायें कहा सकें। शिष्ट धनी घर के लोग इसी प्रकार दावतों में बड़ी नजाकत के साथ भोजन करते हैं। बहुत से लोगों को खिलाने-पिलाने की इच्छा नहीं रहती पर बार-बार वे खाने के बारे में पूछते हैं। इसे शिष्टता समझा जाता है। इसी प्रकार शिष्टतावश कितने ही लोग उन लोगों के पैर छूते हैं जिनकी वे निन्दा सदा करते हैं। तथा जिन्हें वे हृदय से घृणा करते हैं और जिनका वे मुँह तक नहीं देखना चाहते। ऐसे लोग व्यावहारिक जीवन में सफल रहते हैं। जो मनुष्य जितना ऊँचा स्थान पाये रहता है उसे उतना ही अधिक दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करने में झूठ से काम लेना पड़ता है। उसके भीतरी मन में एक बात रहती है परन्तु कहता है कुछ और ही। वह समाज के सभी लोगों को सन्तुष्ट करके रखने की चेष्टा करता है। सभी लोगों को सन्तुष्ट करना असम्भव कार्य है, क्योंकि कभी-कभी एक का हित दूसरे के हित के विरुद्ध पड़ता है। ऐसी अवस्था में उसे चालाकी, चतुराई आदि से काम लेना पड़ता है। चालाकी और चतुराई झूठ व्यवहार के ही शिष्ट नाम हैं।

(मनुष्य का आन्तरिक मन झूठ को पसन्द नहीं करता, अतएव चालाक और चतुर मनुष्य के मन में भारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व रहता है) इस प्रकार

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की उत्पत्ति

के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से ऐसे व्यक्ति की आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर उसके मन में अकारण भय और चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। किसी प्रकार का अशुभ विचार मन में आ जाने पर वह उसे मन के बाहर निकालने में समर्थ नहीं होता। वह किसी व्यक्ति को अपना सच्चा मित्र नहीं मानता। वास्तव में व्यक्ति अपना ही सच्चा मित्र नहीं है उसका सच्चा मित्र और कौन हो सकता है। वह सभी लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखता है।

चतुर मनुष्य के अचेतन मन की सचाई की परख उसकी भूलों, स्वप्न और सांकेतिक चेष्टाओं में प्रकाशित होती है। मानसिक चिकित्सक को

अचेतन मन की सचाई का प्रकाशन

मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं को जानने के लिए इनका भली प्रकार से अध्ययन करना पड़ता है। मनुष्य का अचेतन मन चेतन मन के प्रतिबन्ध की असावधानी की अवस्था में आवरण का पर्दा हटाकर बाहर निकल आता है। कोई भी मनुष्य अपनी सभी बातों में सदा सावधान नहीं रहता, अतएव जो व्यक्ति मन के भेदों को जानता है वह एक छोटी सी बात से किसी व्यक्ति की मानसिक स्थिति का पता चला सकता है चेहरा देखकर भी मनुष्य के भीतरी मन की भावना का पता चलाया जा सकता है। डॉक्टर फ्रायड ने अपनी 'साइकोपैथालॉजी आफ एवरी डे लाइफ' नामक पुस्तक में ऐसी अनेक भूलों के उदाहरण दिये हैं, जिनसे मनुष्य के अचेतन मन की सत्यप्रियता का पता चलता है।

मान लीजिए, हम किसी मित्र के पत्र को भीतरी मन से लेटर बक्स में नहीं छोड़ना चाहते, किन्तु शिष्टतावश इस काम को करना स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में लेटरबाक्स के पास पहुँचने पर हमें वह काम करना स्मरण ही नहीं रहता। इस तरह कभी-कभी तीन-चार दिन तक पत्र कोट के पाकेट में पड़ा ही रहता है। इसके कारण कभी-कभी हमें बड़ी आत्म-ग्लानि भी होती है। जो काम हृदय से नहीं वरन् शिष्टतावश किया जाता है उसमें अनजाने अनेक भूलें ही हो जाती हैं। जिस सभा अथवा निमन्त्रण में हम हृदय से नहीं जाना चाहते, पर जहाँ शिष्टतावश जाना आवश्यक होता है वहाँ जाने का समय ही हम भूल जाते हैं। जिस व्यक्ति का नाम हमारा भीतरी मन भुला देना चाहता है, उसका नाम बारबार रटने पर भी हम भूल जाते हैं। जिस व्यक्ति को हम भोजन नहीं कराना चाहते पर उसे परिस्थितिवश भोजन कराना पड़ता है, उसके भोजन कराने में कोई ऐसी भूल हो जाती है जिससे उस व्यक्ति को हमारी आन्तरिक भावना का पता चल जाता है। इस तरह जिस व्यक्ति के घर हम भोजन नहीं करना चाहते पर किसी कारण से बाध्य होकर भोजन कर लेते हैं उसके घर भोजन करने के बाद हमें ज्वर अथवा कोई बीमारी हो जाती है। कभी-कभी भोजन के बाद तुरन्त वमन हो जाता है। जिन कामों को मनुष्य का अचेतन मन

नहीं करना चाहता उनमें अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह अनेक प्रकार के असगुन देखने लगता है, तथा कभी-कभी काम को रोकने के लिए अचेतन मन उस व्यक्ति को बीमारी उत्पन्न कर देता है।

जिस व्यक्ति की किसी बात के प्रति जितनी ही अधिक घृणा होती है उसे उस घृणा को ढाँकने के लिए उतना ही अधिक परिश्रम करना पड़ता है। जिन स्त्रियों के हृदय में अपने पति से आन्तरिक घृणा हो गई है वे अपने वास्तविक भावों को छिपाने के लिए बड़ा प्रयत्न करती हैं तथा प्रेम का बड़ा आडम्बर दिखाती हैं। पर उनके अचेतन मन की क्रियाओं को समझनेवाला व्यक्ति उनकी भीतरी भावना का पता चला ही लेता है। कभी-कभी इन स्त्रियों को स्वयं पता नहीं रहता कि उनके वास्तविक भाव क्या हैं। इस प्रसंग में हेडफिल्ड महाशय का साइकोलॉजी एण्ड मारल्स' नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है: —

अचेतन मन का अध्ययन

हेडफील्ड महाशय के पास एक महिला ऐसी आई जिसे अपने पति के विषय में बड़ी चिन्ता थी। वह अपने पति के प्रति अपना बहुत ही प्रेम प्रगट कर रही थी। इस महिला को स्वप्न हुआ था कि रेल की कोई दुर्घटना हो गई है और उसमे उसका पति मर गया है। वह महिला हेडफील्ड महाशय से इस स्वप्न का अर्थ पूछना चाहती थी। उसका पति कुछ दिन पहले बाहर गया था, पर अब वापस आ गया था। बात-बात में इस महिला ने यह भी कहा कि उसके पति ने अपने आने के दिन और समय को पहले ही सूचित कर दिया था, पर वह उस दिन उससे स्टेशन पर जाकर न मिल सकी थी। वह रेल का समय ही भूल गई थी। जब यह महिला ये सब बातें कह रही थी तो वह अपनी विवाह की अँगूठी अपनी अंगुली से बार-बार निकालती और पहनती थीं। महिला का स्वप्न, उसकी पति को जाकर मिलने में भूल और उसकी अँगूठी निकालने और पहनने की क्रिया अचेतन मन की क्रियाएँ थीं। इन बातों पर विचार करने से पता चला कि वह महिला आन्तरिक मन से अपने पति से मुक्त होना चाहती है। उसकी पति के विषय में चिन्ता और उसका उसके प्रति प्रेम दिखाना एक आवरणमात्र है।

हेडफील्ड महाशय ने उस स्त्री के स्वप्न का अर्थ बताने को टाल दिया। थोड़े ही दिन में उनके अनुमान की सत्यता प्रमाणित हो गई। हेडफील्ड महाशय से मिलने के कुछ महीनों के भीतर ही उक्त महिला ने अपने पति को तलाक दे दिया और दूसरे पुरुष से शादी कर ली।

प्रत्येक मानसिक चिकित्सक को रोगी के मन की आन्तरिक स्थिति को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसके जानने के लिए रोगी की बातों की बड़ी छान-बीन करनी पड़ती है। जो व्यक्ति जितना चतुर होता है वह अपने आन्तरिक भावों को छिपाने को उतनी ही अधिक चेष्टा करता है। वह जिस प्रकार चिकित्सक से अपने भावों को छिपाने की चेष्टा करता है उसी प्रकार अपने आप से भी उन्हें छिपाने की चेष्टा करता है। पर रोग का अन्त तब तक नहीं होता जबतक कि रोगी अपने मन के भावों को जानकर उनकी आत्म-स्वीकृति नहीं करता।

मान लीजिए, कोई व्यक्ति साधु और महात्मा के नाम से प्रसिद्ध है। पर उसके मन में काम वासना अतृप्त रह गई है। वह स्वयं इस वासना के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करना चाहता। ऐसी स्थिति में उसके व्यवहार में कुछ विलक्षणताएँ आ जाती हैं। कभी-कभी वह सभी सुन्दर पोशाक पहनने-वाले लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखने और उनके चरित्र की नुक्ताचीनी करने लगता है। कभी-कभी वह धर्म-शिक्षा देने के नाम पर बहुत से स्त्रियों को इकठा करता है। अपने स्वप्न में भी वह अनेक प्रकार के चित्र देखता है, जिनका अर्थ कामवासना का प्रकाशन होता है। ऐसे व्यक्ति को अकारण चिन्ता, भय, वमन, झक्कीपन की बीमारियाँ हो जाती हैं। ये बीमारियाँ इस मनुष्य को तबतक नहीं छोड़तीं जबतक वह अचेतन मन की अपनी भावनाओं को स्वीकार नहीं कर लेता और जबतक वह उनके प्रकाशन का कोई उपाय नहीं ढूँढ़ लेता। किसी मनुष्य की मानसिक ग्रन्थि को चिकित्सक भले ही समझ जाय पर इससे रोग का अन्त नहीं होता। रोग का अन्त तभी होता है जब रोगी रोग की आत्म-स्वीकृति स्वयं करता है। मनुष्य के अचेतन मन को चालबाजी पसन्द नहीं है। वह मन की सरलता चाहता है। जिस मनुष्य में जितनी ही मानसिक सरलता रहती है वह उतना ही स्वस्थ रहता है।

अचेतन मन की प्रेम-भुखता

अचेतन मन प्रेम का भूखा है। मनुष्य के चेतन मन को अनेक दूसरे प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। पर उसके अचेतन मन की सबसे प्रबल इच्छा प्रेम की इच्छा है। जिस प्रकार बालक की सबसे प्रबल इच्छा प्रेम है उसी प्रकार मनुष्य के अचेतन मन की प्रबल इच्छा प्रेम है। अचेतन मन की प्रेम की इच्छा ही कामवासना के रूप में प्रकाशित होती है। मनुष्य की कामवासना का विकास होता है जिस तरह व्यक्ति के प्रेम के पात्र बदलते रहते हैं उसी प्रकार कामवासना के पात्र भी बदलते रहते हैं। बालक का प्रेम अपने प्रति, माता पिता के प्रति, सखा के प्रति और फिर विषम लिङ्गी व्यक्ति के प्रति होता है। यही प्रेम विश्व-प्रेम में प्रकाशित होता है। जहाँ प्रेम रहता है वहीं मनुष्य का हृदय अर्थात् उसका अचेतन मन सुखी रहता है। जहाँ प्रेम का अभाव रहता है वहीं मनुष्य का अचेतन मन दुःखी रहता है। जब मनुष्य को बाह्य परिस्थिति के कारण प्रेम-हीन वातावरण में रहना पड़ता है तो उसका अचेतन मन रोग का आवाहन करने लगता है। जैसी उसको कल्पना होती है वैसा ही रोग उसको हो जाता है। और वह फिर अपनी अवांछनीय परिस्थिति से मुक्त हो हो जाता है।

अचेतन मन की प्रबल इच्छा प्रेम

मनुष्य का चेतन मन किसी काम को कितना ही करना चाहे और किसी किसी विशेष परिस्थिति में उसे व्यवहारिक लाभ के लिए रहना कितना ही आवश्यक क्यों न हो यदि मनुष्य का मन उस काम अथवा वातावरण में रहना पसन्द नहीं करता तो वह उससे मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ लेता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से ही रोगों की उत्पत्ति होती है। मानसिक रोगी प्रेम का भूखा होता है। वह स्वार्थी मनुष्यों से घिरा रहने के कारण जीवन से निराश हो जाता है। जब उसे फिर से प्रेम प्राप्त हो जाता है तो वह स्वस्थ हो जाता है। निराशावाद एक अस्वस्थ मानसिक स्थिति है। इसका जन्म मनोवाञ्छित प्रेम के न मिलने के कारण होता है। मानसिक रोगी को जब निःस्वार्थ प्रेम का परिचय मिल जाता है तो वह जीवन के प्रति आशावान हो जाता है और उसकी बीमारी नष्ट हो जाती है।

छोटे बालकों में प्रेम की कमी अथवा अधिकता होने का प्रभाव तुरन्त उनके स्वास्थ्य और आचरण पर पड़ता है। मान लीजिए, किसी बालक को आप सबसे अधिक प्यार करते हैं। अब एक और बालक के उत्पन्न हो जाने पर आप दूसरे बालक को उससे अधिक प्यार करने लगें, तो पहला बालक इस बालक से ईर्ष्या करने लगता है। उसके मन में बड़ा दुःख उत्पन्न हो जाता है। यदि बालक की इच्छा शक्ति दृढ़ हुई तो वह उद्दण्ड हो जाता है नहीं तो वह बीमारी का आवाहन करता है। बालक जब प्रेम की आशा करता है और जब अपने स्वजनों से प्रेम नहीं पाता तो वह फिर उनको दुःखी बनाने की चेष्टा करने लगता है। उसका मानसिक दुःख उसे इतना असह्य हो जाता है कि वह पिट कर भी, जिन लोगों ने उसके प्रति अन्याय किया है, उनसे बदला लेना चाहता है। मानसिक दुःख की अपेक्षा उद्दण्ड बालक शारीरिक कष्ट को पसन्द करता है। यही उसकी उद्दण्डता का कारण है। जब बालक की उद्दण्डता का उत्तर उसे दण्ड के द्वारा मिलता है तो वह निराश हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह बीमारी का आवाहन करता है। बीमार होकर व्यक्ति अपने-आपको दूसरे के ध्यान का केन्द्र बनाता है। बालक बीमार होकर अपने माता पिता से अवहेलना का बदला लेता है। जिस बालक की बीमारी की भी परवाह नहीं की जाती वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है और मर जाता है। प्रेम-हीन वातावरण में प्रौढ़ व्यक्ति भले ही जीते रहें बालक नहीं जीता।

छोटे बालकों के प्रेम की कमी का परिणाम

लेखक के तीन बच्चों में जो नौ, सात और पाँच वर्ष के हैं विशेष ईर्ष्या का भाव रहता है। लेखक की सब से बड़ी बच्ची शान्ति अपने भाई मुन्नू और बहिन सरस्वती से बहुत ईर्ष्या करती है। इसमें वह अपने भाई से इतना नहीं रुष्ट रहती जितनी कि वह छोटी बहिन से रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जो स्थान परिवार में शान्ति का था वह अब सरस्वती का हो रहा है। अब घर के सभी लोग सरस्वती की प्रशंसा करते हैं। लेखक का एक भाञ्जा तो सरस्वती के प्रति अपने प्रेम को बहुत ही प्रकाशित करता है। एक बार रात को सरस्वती लेखक के पास बैठी थी। शान्ति उसी समय आई और उसने किसी बात पर से सरस्वती को मार दिया। इस पर शान्ति को लेखक ने बहुत डाँटा और एक

तमाचा भी मार दिया। शान्ति रोती हुई दूसरे कमरे में चली नई और वहाँ अकेली बिस्तर पर सो गई। किसी ने उसके प्रति विशेष सहानुभूति प्रगट न की। रात को शान्ति को ज्वर आ गया। उसने बिस्तर पर पेशाब भी कर लिया! उसकी बीमारी तब तक नहीं गई जब तक उसे लेखक ने तथा उसके भाञ्जे ने सरस्वती से अधिक प्रेम नहीं दिखाया। वह जब कभी अवसर पाती थी सरस्वती को किसी बात पर मार देती थी। इस प्रकार की मनोवृत्ति बदलने के लिये उसे बहुत समझाया-बुझाया गया और डाँटा-डपटा भी गया पर उसकी यह मनोवृत्ति नहीं बदली, वरन् उसमें और जटिलता आती गई। इस समय सरस्वती को लेखक का भाञ्जा रामनाथ अपने पास सुलाता था। फिर सोचा गया कि वह सरस्वती को अपने पास न सुलाये वरन् अलग सुलाये। अब शान्ति को ही अधिक महत्व दिखलाया जाने लगा। इसके परिणाम स्वरूप न केवल शान्ति की उद्दण्डता और बीमारी जाती रही वरन् वह अपनी छोटी बहिन को प्यार की दृष्टि से भी देखने लगी और उसे मारने के बदले अनेक प्रकार से उसकी सहायता करने लगी।

प्रौढ़ और बालकों के मन में प्रेम के प्रभाव का अन्तर

उपर्युक्त उदाहरण से प्रत्यक्ष है कि प्रेम के घटने और बढ़ने का प्रभाव बालक के आचरण और स्वास्थ्य में तुरन्त ही दिखाई देता है। प्रौढ़ व्यक्तियों में भी प्रेम की कमी अथवा वृद्धि का प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर वे इसे छिपाये रहते हैं। इसके कारण उन्हें जटिल मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते है। मान लीजिए, कोई स्त्री अपने पति को प्यार नहीं करती है, पर उसे अपने पति के पास रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में स्त्री को दमा, क्षय, हिस्टीरिया आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार पुरुष को ऐसी स्त्री के साथ रहना पड़ता है जिसके चरित्र में उसे सन्देह रहता है वह विक्षिप्त व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है अथवा वह किसी भयावह शारीरिक बीमारी को पकड़ लेता है। ब्राउन महाशय ने एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण अपनी मानसिक चिकित्सा की पुस्तक में दिया है जिसे अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए विवश होकर एक ऐसी स्त्री को अपनी पत्नी के रूप रखना पड़ता था जो व्यभिचारिणी

थी। वह उससे घृणा करता था, और उसे देखना नहीं चाहता था। इस प्रकार की मानसिक स्थिति के कारण वह वास्तव में अन्धा हो गया।

जीवन में प्रेम की महत्ता

मनुष्य के स्वास्थ्य और जीवन का आधार प्रेम है, चाहे यह प्रेम स्त्री के प्रति हो, बाल-बच्चों के प्रति हो, मित्र के प्रति हो, कुटुम्ब-परिवार अथवा समाज के प्रति हो। जब तक मनुष्य को दूसरे लोगों से प्रेम की आशा रहती है तब तक वह जीता है जब इस आशा का अन्त हो जाता है तो वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। प्रेम के बिना मनुष्य रह नहीं सकता। जब मनुष्य एक प्रकार के प्रेम को खो देता है तो वह दूसरे प्रकार के प्रेम को तुरन्त ही अपना लेता है। प्रेम की अस्थिरता की अवस्था में ही मानसिक और शारीरिक रोग होते हैं। मनुष्य में चरित्रबल, त्याग, कार्यक्षमता, उदारता, वीरता, सभी सद्‌गुण प्रेम से ही आते हैं। ये गुण दूसरों के प्रति प्रेम प्रकाशित करने से आते हैं। पर मनुष्य दूसरों पर तभी प्रेम प्रकाशित करता है जब स्वयं उसे उनके प्रेम की आशा रहती है। जिस मनुष्य के जीवन में प्रेम नहीं, चाहे उसकी कीर्त्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो, कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, वह भूत के समान सारहीन जीवन लेकर अपने दिन इधर-उधर भटक कर व्यतीत करता है। जो शान्ति महर्षि व्यास को वेदान्त आदि लिखकर तथा जगत् को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर न हुई वह शान्ति श्री कृष्ण-चरित्र के वर्णन से प्राप्त हुई। जो लोग छोटे बालकों को सदा प्यार करते रहते हैं उनका हृदय शान्त और सुखी रहता है। छोटे बालकों में वह धूर्तता नहीं रहती जो बड़े लोगों में रहती है। उनका प्रेम हमारे हृदय को तुरन्त स्पर्श करता है और लाखों बीमारियों को नष्ट कर देता है। हजरत ईसा ने कहा था, "छोटे बच्चों को मेरे पास आने से मत रोको, क्योंकि ईश्वरीय राज्य उन्हीं का है और सचमुच मैं कहता हूँ कि जब तक तुम छोटे बच्चों जैसे अपने आप को न बना लोगे तब तक तुम्हें ईश्वरीय कृपा (ईश्वरीय राज्य) कदापि न मिलेगी।" इस कथन में गहरा मनोवैज्ञानिक सत्य है।

अचेतन मन की शक्ति

अचेतन मन की शक्ति बहुत अधिक है जो भावना अचेतन मन पकड़ लेता है उसी के अनुसार वह काम करने लगता है। काम चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो अचेतन मन के एक बार निश्चय कर लेने पर वह काम करने में सफल हो जाता है।

अचेतन मन का शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव

मनुष्य का चेतन मन उसकी ज्ञात क्रियाओं को करता है,पर उसका अचेतन मन अज्ञात क्रियाओं को भी करता है। शरीर में किसी प्रकार का परिवर्तन करना अचेतन मन का कार्य है। स्वतन्त्र नाड़ी मडल के द्वारा जितना काम होता है उसे अचेतन मन ही करता है। स्वांस-प्रस्वाँस का चलना, खून का प्रवाह, भोजन का पचना,मल-मूत्र का त्यग तथा मानसिक आवेगों का उत्पन्न करना और उनका नियन्त्रण, यह सब काम अचेतन मन करता है। यदि किसी मनुष्य को विश्वास होजाय कि उसके पेट मे फोड़ा हुआ है तो कुछ काल के बाद उसके पेट में फोड़ा हो जाता है। कभी-कभी फोड़े के न होने पर भी फोड़ा जंसी पीड़ा उसे होती है।

हम पहले कह आये हैं कि अचेतन मन बड़ा भोला है। तर्क की दृष्टि से कोई बात कितनी ही असम्भव क्यों न हो जब किसी व्यक्ति का अचेतन मन उसे पकड़ लेता है तो वह उसे नहीं छोड़ता। उसके किसी भावना के न छोड़ने के परिणाम स्वरुप जैसी कल्पना मनुष्य कर लेता है उसका शारीरिक परिणाम भी वैसाही हो जाता है। जिस प्रकार अचेतन मन की कल्पना से रोगों की उत्पत्ति हो जाती है इसी प्रकार अचेतन मनकी कल्पना से रोग नष्ट भी हो जाते हैं। रोग चाहे कितना ही भयंकर क्यों न हो यदि मनुष्य के अचेतन मन ने धारणा कर ली कि वह [illegible] रोग से अवश्य मुक्त हो जायगा, तो मनुष्य उस रोग से अवश्य मुक्त हो जाता है। आत्म-निर्देश चिकित्सा-विधि अचेतन मन की अपार शक्ति के उपर ही निर्भर करती है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चमत्कारिक परिवर्तन उसका अचेतन मन

कर देता है, इसी प्रकार उसकी बुद्धि में भी अचेतन मन चमत्कारिक परिवर्तन कर देता है। यदि कोई व्यक्ति प्रति दिन निर्देश पाता है कि उसकी बुद्धि अथवा स्मरणशक्ति बड़ी प्रखर है और वह अपनी बुद्धि से चमत्कारिक कार्य करेगा और यदि उसे इन निर्देशों पर विश्वास हो जाता है अर्थात् इन निर्देशों को उसका अचेतन मन ग्रहण कर लेता है तो उसमें वास्तवमें प्रखर प्रतिभा का उदय हो जाता है। अचेतन मन की जैसी धारणा होती है मनुष्य में उसी प्रकार की शक्तियों का उदय होता है।

अचेतन मन का बुद्धि पर प्रभाव

हमारे देश का पुराना विचार है कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसकी सिद्धि भी वैसीही होती है "यादृषि भावना यस्य सिद्धि र्भवति तादृषि"। यह भावना अपनी शक्तियों के प्रति अथवा किसी दूसरे देवी देवता अथवा महात्मा के प्रति हो सकती है। दूसरे के प्रति श्रद्धा आत्म श्रद्धा का आरोपण है।

मनुष्य के चरित्र में भी मौलिक परिवर्तन अचेतन मन की कल्पना से हो जाता है। मान लिजिये, किसी मनुष्य में कोई बुरी आदत पड़ गई है, पर उसके प्रयत्न करने पर भी वह आदत नहीं छूटती। अब यदि वह अपनी बुरी आदत को छोड़ने के लिए चेतन मन के अभ्यास के बदले यदि अचेतन मन की सहायता ले तो उसकी बुरी आदत अवश्य छूट जायगी। कितने लोगों को सिगरेट पीने अथवा नशा करने की आदत रहती है। वे इस आदत से मुक्त होना चाहते हैं और मुक्त होने के लिये प्रयत्न भी करते हैं तिस पर भी उससे मुक्त नहीं होते। अब यदि ये लोग अपने अचेतन मन की सहायता लें तो उस आदत से शीघ्र ही मुक्त हो सकते हैं। निर्देश के द्वारा बालकों के आचरण में चमत्कारिक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

अचेतन मन और चरित्र गठन

जो बात मनुष्य अपनी बुद्धि से नहीं समझ सकता वह यदि अचेतन मन की सहायता से समझे तो वह तुरन्त समझ जाता है। देखा गया है कि गणितज्ञ जब किसी प्रश्न को हल करते करते थक जाता है, उसका ठीक उत्तर नहीं निकाल पाता, और जब सोकर उठने के बाद फिर प्रयत्न करता है तो उसको उत्तर तुरन्त मिल जाता है। कभी कभी कुछ गणितज्ञ अपनी जाग्रतावस्था में

जिन प्रश्नों को हल करने में असमर्थ रहे उन्हीं को उन्हों ने सोते समय स्वप्नावस्था (सोमनेम्बूयूलिज्म) में हल कर डाला।

विशेष ज्ञान और प्रतिभा का स्त्रोत

किसी कठिन समस्या को सोचते हुए तथा यह विचार करते हुए कि किसी प्रकार हमारी समस्या हल हो जावेगी, जब हम सो जाते हैं तो हम अपने -आप को उस समस्या को हल करने में समर्थ पाते हैं। हमारी कठिनाई कभी-कभी अपने -आप ही सुलझ जाती है; स्वप्न की अवस्था में हमें अपने प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। कितनेही विद्यार्थियों का अनुभव है कि जब वे परीक्षा के प्रश्नों के विषय में एकाग्रता से चिन्तन करते हैं तो उन्हें स्वप्न में परीक्षा पत्रके प्रश्न कभीकभी दिखाई देते हैं। लेखक के एक विद्यार्थी को जो हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वैदिक कालेज की अन्तिम परिक्षा में बैठना चाहता था, परीक्षा के पहले एक परोक्षा-पत्र के कुछ प्रश्न क्रम से दिखाई दिये। उसी क्रम से वास्तव में प्रश्न उस परीक्षा पत्र में आये। यहाँ इस बात को स्मरण रखना आवश्यक है कि उसी व्यक्ति को इस प्रकार के स्वप्न होते हैं जिसकी परीक्षा की तैयारी ठीक से रहती है।

किसी प्रतिभाशाली लेखक की प्रतिभा का स्रोत उसका अचेतन मन है। जब तक कोई लेखक अपने अचेतन मन से सहायता नहीं लेता वह कोई भी ऐसी बात नहीं कह सकता जो संसार में कुछ काल तक स्थायी रहे। बुद्धि से लिखी गई बात, चाहे उसमें कितना ही चमत्कार क्यों न दिखाई दे, टिकाऊ नहीं होती। अचेतन मन से निकली बात ही टिकाऊ होती है। कवि की प्रतिभा का स्रोत उसका अचेतन मन ही है। जब कवि अपनी व्यवहारिक बुद्धि के परे जाता है और अचेतन मन के निर्देश के अनुसार कुछ लिखता है तो उसकी कविता मनुष्यों के हृदयों पर अधिकार जमा लेता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अचेतन मन से अपना ऐक्य कर के रहता है वह उतनाही अधिक प्रतिभावान् हो जाता है

जिस प्रकार लेखक की प्रतिभा का स्रोत अचेतन मन है, इसी प्रकार किसी पराक्रमी व्यक्ति के पराक्रम का उद्‌गम स्थान भी अचेतन मन है। जब तक किसी व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन में एकता है तब तक वह संसार में पराक्रम

दिखाता है। जिस समय वह अचेतन मन की शक्ति को अपनी शक्ति समझने लगता है और अनेक प्रकार का छल और धूर्तता करने लगता है, अथवा अपने अचेतन मन के पराक्रम के ऊपर गर्व करने लगता है तभी पराक्रम दिखाने की उसकी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर वह ऐसी भूलें करने लगता है जिससे उसका विनाश हो जाता है। यह बात नैपोलियन बोनापार्ट और हिटलर के जीवन में देखी जाती है। वे तब तक ही चमत्कारिक राजनैतिक कार्य कर सके जब तक उन्हें अपने कामों का गर्व न था और वे जो कुछ करते थे सबके हित के लिये करते थे। परन्तु जब उन्हें अपनी महत्ता का गर्व हो गया तब उनका पतन हो गया। फिर उन्होंने ऐसी राज नैतिक भूलें कीं जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है। जब अचेतन मन की शक्ति को चेतन मन अपनी शक्ति समझने लगता है तो उसका अहकार बढ़ जाता है। फिर उसके चेतन और अचेतन मन में विषमता उत्पन्न हो जाती है और उसके मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति आ जाती है। इससे वह अपने काम में अनेक प्रकार की भूलें करता है जिसके परिणाम स्वरूप उसका पतन हो जाता है।)

अचेतन मन की सजगता

अचेतन मन सदा सजग रहता है। जिस समय मनुष्य सोया रहता है उस समय उसका चेतन मन सोता है, परन्तु उसक अचेतन मन जागता रहता है। स्वप्न इसी मन की सृष्टि हैं। जागते समय अचेतन मन की शक्ति चेतना के कार्य में खर्च होती रहती है, पर सोते समय वह अचेतन मन में ही संचित रहती है। अतएव जितना काम अचेतन मन सोते समय करता है उतना काम जाग्रतावस्था में नहीं करता। चेतना की क्रियायें बन्द हो जाने पर अचेतन मन का कार्य प्रबल हो जाता है।

अचेतन मन सोते समय जागता है

सोते समय भी अचेतन मन जागता रहता है, इसका एक साधारण अनुभव यह है कि यदि कोई मनुष्य अपने-आपको किसी विशेष समय पर जाग जाने का निर्देश देकर सो जाय तो वह अवश्य उस समय पर जाग जाता है। इसी प्रकार जागते समय भी हम जब विशेष समय पर कोई काम करने का

निर्देश अपने आपको दे देते हैं, तो उस समय उस काम का करना याद आ जाता है। यहाँ हमारा अचेतन मन ही काम को स्मरण कराता है। यदि हम किसी स्थान से चलें और हमें भावना हो कि हम कुछ भूल रहे हैं तो समझ लेना चाहिए कि हम कोई वस्तु अवश्य भूल रहे हैं। ऐसी अवस्था में हम अपने काम को रोक कर अपने-आपका निरीक्षण करने लगें तो खोई वस्तु याद आ जाती है।

अचेतन मन को हमारी जाग्रत और सुप्त, दोनों अवस्थाओं में निर्देश दिया जा सकता है। रोगी को सोते समय दिये गये निर्देश जितने सफल होते हैं उतने जाग्रतावस्था में दिये गये निर्देश सफल नहीं होते। इसी प्रकार अपने-आपको सोते समय निर्देश देकर सोने से मनुष्य के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है। स्वास्थ्य और चरित्र दोनों में ही इस प्रकार सुधार किया जा सकता है। रोगियों को और बालकों को उनकी सुप्तावस्था में शुभ निर्देश देकर रोग दोष से मुक्त किया जा सकता है। इमील कुये महाशय का कथन है कि किसी जटिल बालक की उद्दण्डता छुड़ाने का सबसे सरल उपाय यह है कि जब बालक सो रहा हो तो उसके पास बैठकर उसे सन्निर्देश दिया जाय। उससे ऐसी बातें कही जायँ मानों वह जाग रहा है और वह उन्हें सुन रहा है। उसे कभी भी कोई बुरा विचार न सुझाया जाय। बालक को उसकी सोती अवस्था में जैसा कहा जाता है वह अपने-आपमें उसी प्रकार के परिवर्तन कर डालता है। उसके चरित्र में महान् परिवर्तन उसके अनजाने ही सहज में हो जाता है। इसी प्रकार सोते हुए रोगी के पास बैठकर यह बातचीत करने से कि उसकी बीमारी साधारण सी है और वह उससे शीघ्र ही मुक्त हो जायगा, रोगी की बीमारी का अन्त करने में सहायक होता है। जब रोगी के विषय में उसकी सुप्तावस्था में चिन्ता प्रकाशित की जाती है तो उसका रोग बढ़ जाता है। रोगी को बीमारी और स्वास्थ्य का निर्देश उसके आसपास रहनेवाले लोगों से मिलता है। ये लोग अपने भय को अपने अनजाने रोगी के मनमें बैठा देते हैं। जब रोगी के मनमें किसी प्रकार का भय बैठ जाता है तो उसकी स्वास्थ्य लाभ करने की शक्ति कम हो जाती है। उसका अचेतन मन दूसरे

सुप्तावस्था के निर्देश का प्रभाव

लोगों के सुझाव के अनुसार काम करने लगता है और इस प्रकार रोगी का रोग घातक बन जाता है।

अचेतन मन को प्रभावित करके मरणासन्न रोगी का आरोग्य लाभ कराने का एक प्रयोग जिसे लेखक के एक मित्र ने किया था इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इस प्रयोग में अचेतन मन का भोलापन, उसकी रोगी को आरोग्य प्रदान करने की शक्ति तथा उसके अन्य विलक्षण गुण स्पष्ट होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि रोगी के नजदीक के साधारण सम्बन्धी अपने हाव-भावों से उसके विषय में चिन्ता दर्शाकर उसके रोग को जटिल बना देते हैं। जो व्यक्ति आशामय विचार लेकर रोगी की सेवा करता है वही उसको स्वस्थ बनने में सच्ची सहायता पहुँचाता है। श्री जनार्दन प्रसाद जी* अपने प्रयोग का बृत्तान्त नीचे लिखे शब्दों में लिखते हैं—

"सन् १९४५ का साल, मैं भागलपुर के टी० एन० जे कालेज में चतुर्थ वर्ष का विद्यार्थी था। वहाँ मैं अपने फूफा जी के यहाँ रहकर विद्याभ्यास करता था। श्रावण मास के द्वितीय पाख में किसी दिन फूफा जी के पास पत्र आया कि उनका दामाद बहुत बीमार है और देखने को शीघ्र आवें। फूफा जी ने स्वयं न जाकर मुझे ही उन्हें देखने को भेजा। जाकर मैंने देखा तो उनकी हालत को बहुत चिन्ताजनक पाया। मेरे फुफेरे बहनोई की उम्र उस समय अठारह वर्ष से अधिक नहीं होगी। जिस दिन मैं पहुँचा उनकी बीमारी को ग्यारह-बारह दिन हो चुके थे। बुखार एक सौ पाँच डिगरी तक आता था। कभी कभी उससे अधिक भी हो जाता था। पर एक सौ छः डिगरी के भीतर रहता था। बुखार के इतना अधिक होने से मुझे कुछ विशेष डर नहीं मालूम पड़ता था, पर खतरा यह था कि उनका बुखार बड़ी तेजी से उतरता था और करीब करीब आधा घन्टे में ही एक सौ पाँच से गिरकर चौरानबे तक पहुँच जाता था। बुखार उतरते समय बड़े जोर का पसीना छूटता था। सारा बिछावन आदि पसीने से भींग जाता था। ऐसी अवस्था में हमेशा यही भय रहता था कि कहीं Collapse न कर जायें। दूसरे पेट भी फूलता था

* प्रो० जनार्दन प्रसाद, ग्राम सुलतान गंज, जि० भागलपुर।

जिसके लिये हमेशा सेक भी देना पड़ता था। पूर्णिमा की रात तो हालत एक दम निराशाजनक हो गई थी। रोग को डाक्टर विशुद्ध टाइफाइड नहीं कहते थे। फिर भी उसी के समान खतरनाक समझते थे। चिकित्सक होमियोपैथिक थे। और शहर में उनकी बड़ी ख्याति ही। खासकर इस तरह तरह की बीमारी के लिए तो वे सिद्धहस्त माने जाते थे।

हाँ तो बहनोई साहब की बुरी अवस्था देखसर मुझे उन्हें छोड़कर आने का साहस नहीं हुआ। और उनके माता-पिता ने भी रोक लिया। फिर मुझे उनसे स्नेह भी अधिक था जिसने मुझे उनकी सेवा को बाध्य कर दिया। कई रोज मैं सेवा करता रहा डाक्टर भी पूरी जिम्मेदारी के साथ चिकित्सा करते रहे पर मर्ज बढ़ना गया ज्यों ज्यों दवा की। मेरे वहाँ रहने के चार पाँच दिनों के बाद उन्होंने कहना शुरू किया "अब मैं नहीं बचूँगा" इस बात को वे हमेशा दुहराने लगे। लोगों के लाख समझाने बुझाने पर भी "नहीं बचूँगा"—"नहीं बचूँगा" की रट लगाते गये। मुझे बड़ी चिन्ता हुई। अब सब लोग निराश होने लगे। उनकी माँ की आँखें निरन्तर भरी रहने लगीं। विषम परिस्थिति थी। मन ने कहा अब उनके जीवन की कोई उम्मीद नहीं जब तक की उनकी भावना में परिवर्तन न हो जाय—अर्थात् नहीं बचूँगा, कहना वे न छोड़ दें। पर यह हो कैसे? लोगों के समझाने बुझाने का तो असर कुछ नहीं पड़ता था। मैं सोचने लगा। अन्त में इस नतीजे पर पहुँचा कि उनके अचेतन मन को प्रभावित करने से कुछ लाभ हो सकता है। ठहरा तो अर्थशास्त्र का विद्यार्थी पर मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर कुछ आन्तरिक झुकाव होने से तत्सम्बन्धी कुछ पुस्तकें मैंने पढ़ीं और आपकी 'नवीन मनोविज्ञान' को तो कुछ ही दिन पहले प्राप्त किया था जिसने मुझे काफी प्रभावित किया। इसकी छाप मुझ पर बिल्कुल ताजी थी। नवीन मनोविज्ञान के सूत्रों में निदान खोजते खोजते मेरा ध्यान उनके (बहनोई के) प्रलाप की ओर गया। ऊपर मैं यह कहना भूल गया था कि बुखार जब १०५ से अधिक चढ़ने लगता था तो उनकी बुद्धि जाती रहती थी और वह अंट संट बातें बकने लगते थे। ख्याल आया कि अचेतन मन की कुंजी तो इन्हीं अंट संट बातों में रहती है। इन्हीं शब्दों का सहारा लेकर मैंने उनके अचेतन मन को प्रभावित करने की

ठानी। मैंने गौर से उनके प्रलाप के शब्दों का अध्ययन करना आरम्भ किया। मेरा अध्ययन तीन दिन तक लगातार जारी रहा इधर हालत बुरी से बुरी होती जा रही थी पर मुझे भरोसा सा हो रहा था। अध्ययन के परिणाम-स्वरूप मैंने पाया कि हर बार बेहोशी में वे तीन बातों को अवश्य कहते थे वे तीन बातें थी—(१) हजार, दो हजार, ढाई हजार, तीन हजार, (२) अरमान (३) एक बार। मैं इन तीनों बातों सम्बन्ध उनके जीवन में ढूँढ़ने लगा। उनके जीवन की कुछ पिछली घटनाओं पर गौर करने से इन बातों का सम्बन्ध उन्हीं से जान पड़ा। उनकी बीमारी के तीन चार मास पूर्व उनकी शादी हुई थी. जिस में दोनों तरफ से करीब तीन हजार रुपये खर्च हुए थे। यह खर्च कम इसलिये है कि हमारे समाज में तिलक और दहेज की प्रथा उग्र रूप में नहीं है। दूसरे 'अरमान' से मैंने यह सोचा कि उनके जीवन के अरमान अधूरे ही रह रहे हैं क्यों कि जीवन और यौवन के सुख भोगने के पूर्व ही वे संसार से विदा होने को हैं। तीसरी बात 'एक बार' से मैंने यह अर्थ लगाया कि मृत्यु को करीब समझ कर वे अपनी पत्नि को एक बार देखना चाहते हैं। 'एक बार' के साथ साथ वह कभी कभी 'अन्तिम बार' भी कहा करते थे। इस इच्छा का होना स्वाभाविक ही है। एक बात और है—जब हमारे समाज में लड़की शादी के समय पहले पहल ससुराल जाती है तो वहाँ दो तीन दिनों से अधिक नहीं ठहरती जिसमें कभी कभी तो यह होता है कि लड़का लड़की को एक दूसरे को देखने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि अवसर मिला ही तो इतने कम समय के लिये कि एक दूसरे का अच्छी तरह परिचय भी नहीं हो पाता। यद्यपि उन्हों ने अपनी पत्नी को देखा तो था पर बहुत कम समय के लिये और इस लिये मैं समझा कि पत्नि को पुनः देखने कि इच्छा 'एक बार' और 'अन्तिम बार' के पीछे प्रबल रुप से कार्य कर रही है।

तीसरे रोज रात को मैंने प्रयोग करने का निश्चय किया। किसी से कुछ नहीं कहा और रात में नौ बजे उनके माता पिता और दूसरे सभी लोगों को विश्राम करने के लिये जाने को कह कमरे से बाहर कर दिया। कमरे में

मैं और रोगी रह गये। ग्यारह बजे के करीब वे बेहोशी में बकने लगे। उनकी दोनों आँखे बन्द थीं। ज्योंही उन्हों ने कहा 'एक बार' मैं अपना मुँह उनके कान के पास ले गया और कहा "तुम देखोगे" "देखेंगे।?" उन्होंने प्रश्न किया बोलकर नहीं फुसफुसा कर ही—

"देखोगे। वह तुम्हारे लिये बहुत चिन्तित है। वह तुम्हें बहुत चाहती है। हृदय से प्रेम करती है।" इतनी बातें मैंने एक साथ ही कह दी। "ठीक?" उन्हों ने प्रश्न किया। मैंने कहा—"हाँ ठीक।" और साथ ही बहुत तेजी से एक स्वर मैंने उनके कान में फुसफुसाया—"तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे—तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे—तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे।" इतना कहते ही उनका शरीर कुछ हिला और मैं तुरन्त नींद की बहाना कर उनके सिरहाने सिर टेक कर पड़ गया। कनखियों से मैंने देखा कि उनकी आँखे खुली हैं। उन्हों ने इधर-उधर देखा। मुझे देखा पर उनकी समझ में कुछ नहीं आया। कुछ देर बाद उन्होंने बगल में पड़े पंखे से कसकर मुझे मारा। बड़ी चोट लगी। मेरी समझ में नहीं आया कि जिस आदमी को हाथ उठाने की ताक़त नहीं थी उस में इतनी सामर्थ्य कहाँ से आई। मैं घबड़ा कर उठ गया और सो जाने के अपराध के लिये उनसे माफी माँगी।

सुबह जब आँसू भरी आखों से उनकी माँ ने प्रवेश किया तो उन्होंने कहा—'रोती क्यों हो, मैं अच्छा हो जाऊँगा।

कुछ देर बाद पिता जी आये, उनसे कहा—चिन्ता क्यों करते हैं, मैं अच्छा हो जाऊँगा। और फिर तो "अच्छा हो जाऊँगा" यही सबसे कहने लगे। तीन दिन तक उनकी अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ फिर तो वह इतनी तेजी से अच्छे हुए कि सभी दंग रह गये।"

उपर्युक्त प्रयोग भारी मनोवैज्ञानिक सूझ से भरा हुआ है। प्रयोगकर्ता ने रोगी की बेसुध अवस्था में बड़बड़ाने के शब्दों को समझने की चेष्टा की और उसने रोगी को बेसुध अवस्था में ही प्रभावित करने का यत्न किया। रोगी की जब आँख खुली तो उसने किसी को भी जागते न पाया। इससे सम्भवतः समझा कि किसी दैवी शक्ति ने उसे आश्वासन दिया है कि वह

आरोग्य लाभ कर लेगा । इसके कारण उसके विचार रचनात्मक बन गये और उसे आरोग्य-लाभ हो गया ।

मनुष्य के अचेतन मनमें अमित शक्ति है, पर इस शक्ति का ज्ञान न रहने के कारण हम अपने लाभ के लिए उसका उपयोग नहीं कर पाते। जो मनुष्य अचेतन के विषय में जितना अधिक जानता है वह अपने-आपको उतना ही अधिक शक्तिशाली और स्वस्थ बना लेता है। कहा जाता है कि प्रकृति पर विजय उसके ही नियमों के अनुसार प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार अचेतन मन की बात है। अचेतन मन की क्रियाओं के नियमों जानकर ही हम उसकी शक्ति को अपनी भलाई के लिए काम में ला सकते हैं।

तीसरा प्रकरण

मानसिक रोग

मानसिक रोगों के प्रकार

मन का स्वरूप समझाते समय पिछले प्रकरण में मानसिक रोगों की चर्चा की गई थी। कुछ मानसिक रोग शारीरिक रोगोंका रूप धारण कर लेते हैं

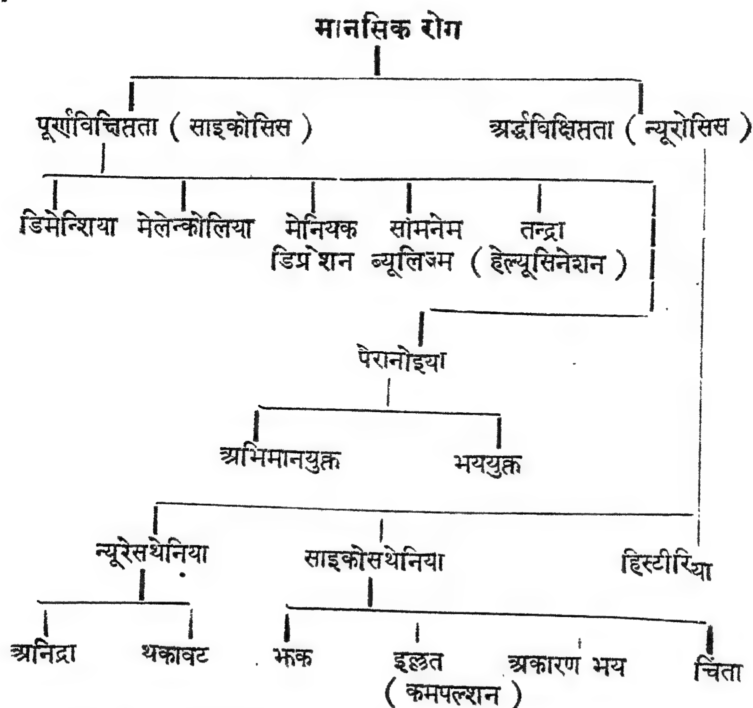
मानसिक रोगों के प्रकार जानने की आवश्यकता

और कुछ मानसिक विक्षेप के रूप में ही प्रकाशित होते हैं। वर्तमान मनोवैज्ञानिकों ने कुछ मानसिक रोगों को साध्य और कुछ को असाध्य माना है। कुछ मानसिक रोग साधारणविधि से अच्छे हो जाते हैं और कुछ इतने जटिल होते हैं कि उनको ठीक करने के लिये मनुष्य की समस्त मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है। कितने ही मानसिक रोगियों के समीप जाना भी खतरनाक होता है। जब ऐसे रोगियों के पास जाना पड़े तो सावधानी से जाना चाहिये। जिस प्रकार बिच्छू का भी मंत्र बिना जाने साँप के बिल में हाथ डालना मूर्खता है उसी प्रकार अपनी चिकित्साविधि का पहले छोटे मानसिक रोगों में प्रयोग किये बिना बड़े मानसिक रोगों को हाथ में लेना मूर्खता है। इससे न केवल रोगी की हानि होती है अपितु स्वयं चिकित्सक कई प्रकार की दिक्कतों में पड़ जाता है।

मानसिक रोगों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। आधुनिक असाधारण मनोविज्ञान (एबनारमल साइकालाजी) में मानसिक रोगों का वर्गी-

मानसिक रोगों का वर्गीकरण

करण भिन्न-भिन्न रूप से किया जाता है। यहाँ हेनरी फिशर महाशय का अपनी पुस्तक 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू एबनार्मल साइकालाजी' में किया हुआ वर्गीकरण दिया जाता है—



ऊपर दी हुई तालिका में मानसिक रोगों को दो भागों में विभक्त किया है—एक पूर्णविक्षिप्तता (साइकोसिस) और दूसरी अर्द्धविक्षिप्तता (न्यूरोसिस) पहले प्रकार के रोग भयंकर मानसिक रोग हैं, और उनका उपचार करना कठिन होता है। इनमें से कुछ रोग असाध्य माने गये हैं। अर्द्धविक्षिप्तता (न्यूरोसिस) के रोगों का उपचार किया जा सकता है और बहुत से इस प्रकार के रोगी उपचार के द्वारा स्वस्थ हो जाते हैं। जब तक रोगी की चेतना सर्वथा नष्ट नहीं हुई है, अर्थात् वह अपने रोग को पहचानता है तब तक उसका उपचार होना सरल होता है। जब रोगी की चेतना छिन्न-भिन्न हो जाती है और वह अपने-आपको सम्हाल नहीं सकता तो रोग का उपचार होना कठिन हो जाता है। रोग के उपचार के लिये रोगी की बची हुई चेतना

की सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। हम किसी भी रोगी को तभी लाभ पहुंचा सकते हैं जब रोगी स्वयं लाभ उठाने के लिए तैयार रहे और वह चिकित्सक को रोग को नष्ट करने में सहायता दे। वास्तव में प्रत्येक मानसिक रोगी अपने प्रयत्न से ही स्वास्थ्य-लाभ करता है। चिकित्सक उसकी सहायता मात्र कर सकता है। पर जब किसी रोगी में अपना भला और बुरा समझने की शक्ति ही नहीं रह जाती तो वह अपना उपचार नहीं कर सकता और उस पर की गई मेहनत व्यर्थ जाती है। अतएव प्रत्येक मानसिक चिकित्सक को यह देखना आवश्यक है कि रोगी की चेतना कितनी बची हुई है और उससे वह कहाँ तक सहायता प्राप्त कर सकता है। अब हम पहले उन रोगों का वर्णन करेंगे जिनको जान लेना मात्र ही प्रायः चिकित्सक का कर्तव्य होता है और जिन्हें अधिक सहायता पहुँचाना कठिन होता है।

साइकोसिस (पूर्ण विक्षिप्तता)

साइकोसिस वे जटिल मानसिक रोग हैं जिनमें मनुष्य की साधारण चेतना छिन्न-भिन्न हो चुकी रहती है। इनमें भी कुछ रोग प्रयत्न के द्वारा साध्य हैं और कुछ असाध्य हैं। इस प्रकार के कुछ मानसिक रोगी थोड़े दिनों तक पागल रहते हैं और फिर अच्छे हो जाते हैं और कुछ सदा के लिये विक्षिप्त हो जाते हैं। कुछ बारी-बारी- अच्छे और पागल होते रहते हैं। इन रोगों का एक-एक करके वर्णन करना उनको समझने के लिए आवश्यक है।

सबसे असाध्य पागलपन डिमेन्शिया है। समय के पूर्व मानसिक शक्ति के ह्रास का नाम डिमेन्शिया है। संसार में कुछ लोग जन्म से ही मानसिक शक्तियों में कमजोर होते हैं इन्हें जड़ मूढ़ कहते हैं। कुछ लोगों की मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं पर समय के पूर्व ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। ऐसे लोग अवस्था में बड़े होकर भी बचपन जैसी बातें और व्यवहार करते हैं। उनमें न सोचने की शक्ति रहती है और न अपने-आपको सम्हालने की। उनकी देख-रेख दूसरे लोगों को करनी पड़ती है। ऐसे रोगियों का पागलपन हर समय बना रहता है। उन्हें जो कुछ खाने को दे दिया जाय खा लेते हैं और जहाँ कहीं भी सो जाते हैं, किसी प्रकार का कष्ट होने पर बच्चों जैसे रोने लगते हैं।

डिमेन्शिया

डिमेन्शिया के रोगी घातक व्यक्ति नहीं होते। वे दूसरों की हानि नहीं सोचते रहते, पर तो न वे अपना कोई लाभ कर सकते हैं और न दूसरों का। डिमेन्शिया प्रारम्भ होने पर धीरे-धीरे बढ़ते जाता है और रोगी को बच्चे की मानसिक अवस्था में पहुँचा देता है।

मेलेन्कोलिया का रोगी सदा दुःखी मनोवृत्ति का रहता है। उसे जहाँ देखो तहाँ निराशा ही निराशा दिखाई देती है। उसे प्रायः अपने दुःख का कारण ही नहीं मालूम रहता। वह अपनी निराशा को छोड़ नहीं सकता। मेलेन्कोलिया का रोगी आत्म-हत्या करना चाहता है पर उसकी हिम्मत आत्म-हत्या करने की नहीं होती। जब मेलेन्कोलिया से मनुष्य कुछ अच्छा होने लगता है तो उसमें एकाएक उत्साह बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में मानसिक चिकित्सक को उससे बड़ा सावधान रहना पड़ता है क्योंकि वह एकाएक अत्म-हत्या कर सकता है।*

मेलेन्कोलिया

मेलेन्कोलिया का रोगी समाज से दूर रहना चाहता है। वह प्रायः चुपचाप रहता है और दूसरों से बातचीत करना व्यर्थ समझता है। उसे एक ओर भारी अभिमान होता है और दूसरी ओर वह अपने आपको अभागा भी समझता है। मेलेन्कोलिया का रोगी कभी-कभी चुपचाप बैठकर एक ही प्रकार की निरर्थक क्रिया को अनेक बार करते रहता है। इस प्रकार की एक रोगिणी का वृत्तांत बरनार्ड हार्ट महाशय ने अपनी 'साइकालाजी आफ इनसेनिटी' नामक पुस्तक में दिया है। वह रोगिणी चुपचाप एक कोने बैठकर जूता सीने जैसी क्रिया अपने हाथ से दिन भर किया करती थी। वह बोलती चालती किसीसे

---

*इस प्रसंग कल्पवृक्ष आश्रम उज्जैन के एक रोगी की आत्म-हत्या का निम्नलिखित वृत्तान्त उल्लेखनीय है—रोगी कई दिन से कल्पवृक्ष आश्रम में रहता था। उसका रोग कुछ दिनों बाद अच्छा होने लगा। उसके घर जाने की तिथि भी निश्चित की गई। चिकित्सक महाशय अब इसके विषय में निश्चिन्त रहने लगे। पर एक दिन एकाएक वह रोगी एक सूखी घास के ढेर पर बैठ गया, दियासलाई से उस घास में आग लगा दी और इस प्रकार जलकर मर गया।

न थी। इस रोगिणी के मनोविश्लेषण से पता चला कि वह अपनी युवावस्था में एक जूता सीनेवाले के प्रेम में फँस गई थी, पर उसने उसके प्रेम का आदर नहीं किया। इसी से उसके हृदय को धक्का लगा और उसे पागलपन आ गया। अब वह अपनी विक्षिप्त अवस्था की क्रियाओं में अपने प्रेमी के कामों का अभिनय किया करती थी।

फ्रायड महाशय ने मेलेन्कोलिया को असाध्य मानसिक रोग बताया है। मेलेन्कोलिया से पीड़ित व्यक्ति का प्रेम अपने आप पर ही आरोपित रहता है। जैसे-जैसे मनुष्य की आयु बढ़ती है उसके प्रेम का विकास होता है; अर्थात् वह अपने आपको प्रेम न कर किसी दूसरे व्यक्ति को प्रेम करने लगता है। परन्तु जिन लोगोंके प्रेम का विकास किसी कारण रुक जाता उन्हें मेलेन्कोलियाकी बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। मेलेन्कोलिया आत्मप्रेम की भावना नहीं अपितु आत्मप्रेम की विकृत स्थिति है। मेलेन्कोलिया की पूर्वावस्था में रोगी अपने आपको कोसता है अथवा दयनीय व्यक्ति समझता है। जब मनुष्य जीवन-संग्राम के लड़ने में असफल होता है तो वह मेलेन्कोलिया की शरण लेता है। उसे तभी आनंद मिलता है जब सब लोग उससे कहते हैं कि सचमुच में उसकी अवस्था दयनीय है। वह अपने-आप को कष्ट देने में ही सुख का अनुभव करता है।

मेनिया तीसरे प्रकार का पागलपन है। मेनिया से पीड़ित व्यक्ति कभी-कभी बड़ी उमंग में रहता है और फिर एका-एक निराश हो जाता है। यह बीमारी एका-एक उभड़ आती है। जिस समय

मेनियक डिप्रेशन

पागल को जोश रहता है वह अनेक प्रकार के असाधारण काम करने की चेष्टा करता है। वह सब समय बोलता रहता है अथवा इधर-से-उधर भागता रहता है। वह अनेक वस्तुओं को हाथ में लेता और तोड़ता-फोड़ता रहता है। वह कभी लेक्चर देने लगता है तो कभी बड़बड़ाने लगता है। इधर-उधर दौड़धूप करके जब वह थक जाता है तो सुस्त होकर बैठ जाता है और उस समय चुप रहना चाहता है। ऐसी दशा में उसकी मानसिक अवस्था बड़ी दयनीय रहती है। वह अपने-आप को एक बड़ा अभागा व्यक्ति समझने लगता है।

हाल में ही गतवर्ष काशी विश्वविद्यालय की एक छात्रा को यह रोग हो गया था। रोग की अवस्था में वह बहुत कुछ इधर-से-उधर भागती और अनेक लोगों से बातचीत करने की चेष्टा करती थी। कभी-कभी वह अपने साथ की लड़कियों को धारा-प्रवाह व्याख्यान देती जाती थीं। इस प्रकार वह अपने-आपको थका डालती थी। उसे नींद बहुत कम आती थी। दो-तीन-दिन में ही उसे छात्रावास से अलग कर देना पड़ा। इस प्रकार के रोगी को दूसरे लोगों से अलग रखना भी आवश्यक होता है।

पेरानोइया चौथा जटिल पागलपन है। यह दो प्रकार का होता है—एक में पागल व्यक्ति अपने आपको संसार का विशेष व्यक्ति समझता है और दूसरे में वह अपने-आपको सभी से त्रस्त मानता है। उसकी कल्पना में वह अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखता है। कभी-कभी दोनों प्रकार का पागलपन एक ही व्यक्ति में पाया जाता है। ऐसीअवस्था में रोगी अपने-आपको विशेष व्यक्ति मानता है पर वह देखता है कि संसार के लोग उसका उतना सम्मान नहीं करते जितना उसका सम्मान होना आवश्यक है। उसे सन्देह रहता है कि दूसरे लोग उसके विरुद्ध सदा षड्यन्त्र करते हैं और उसे गिराने की चेष्टा करते रहते हैं। इसी कारण वह संसार में ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त कर पाता। इस प्रकार के विचार उसे बहुत दुःखी बनाये रहते हैं।

पेरानोइया

पेरानोइया की बीमारी से पीड़ित व्यक्ति से सावधान रहना आवश्यक रहता है। ऐसे व्यक्ति में नरघात की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। वह अपने दुर्भावों को अपने चिकित्सिक अथवा मित्र पर ही आरोपित कर सकता है। ऐसी अवस्था में वह उन्हीं को मारपीट सकता है। यहाँ पेरानोइया की बीमारी से पीड़ित व्यक्तियों के दो एक उदाहरण, जो इस बीमारी के स्वरूप तथा कारण को स्पष्ट करते उल्लेखनीय हैं। पहला उदाहरण हेनरी फिशर महाशय की 'इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकोलाजी' नामक पुस्तक से लिया गया है।

"एक सुन्दर नवयुवक ने पुलिस की नौकरी की। वह अपने प्रयत्न से पुलिस का उच्च ऑफिसर हो गया। जब वह बड़ा अधिकारी हो गया तो उससे

कई युवतियाँ शादी करने की इच्छा रखने लगीं। यह युवक अनेक युवतियों से प्रेम करता था, पर वह शादी किसी से भी नहीं करना चाहता था। उसके इस प्रकार के व्यहार से बहुत सी युवतियों के हृदय पर भारी चोट पहुँची। पर यह युवक अपनी स्वतंत्रता रखना चाहता था और गृहस्थी के भार से नहीं लदना चाहता था। वह उन युवकों के सदृश था जो शादी करने को अपने गले में फाँसी डालने के समान मानते हैं, और अपनी कामवासना को स्वच्छन्दता पूर्वक तृप्त करते रहते हैं।

इसी बीच एक बहुत सुन्दर युवती इस युवक के प्रेम में पड़ गई। यह युवक भी उस युवती के रूप से मोहित हो गया, पर तिसपर भी वह अपने पूर्व निश्चय पर दृढ़ रहा। इससे वह युवती चिढ़ गई और उसने उसके देखते देखते दूसरे युवक से शादी कर ली। इस घटना से इस व्यक्ति के मन पर भारी धक्का लगा। वह बहुत दुःखी हुआ। अपने दुःख के भुलाने के लिए वह अब शराब पीने लगा और वैश्याओं के पास जाने लगा। जब उसकी इस प्रकार की मानसिक स्थिति थी उस समय एक और भी मार्मिक घटना घटित हो गई। जब वह एक नीची जाति की स्त्री के साथ रमण कर रहा था तो उस स्त्री ने उसके पुरुषत्व को धिक्कारा और उससे कहा कि तुम तो नपुंसक हो। इससे उसके मन पर बहुत चोट लगी और वह सचमुच में नपुंसक जैसा ही व्यक्ति बन गया। उसकी मानसिक नपुंकता अब उसे बेचैन रखने लगी। इस अवस्था में वह मनोवैज्ञानिक के पास गया। उसका मानसिक इलाज करने पर वह कुछ अच्छा हुआ। पर इसके बाद ही वह वैश्याओं के पास और भी अधिक जाने लगा और थोड़े ही दिनों में पैरानोइया का पूरा पागल बन गया।

यहाँ हम देखते हैं कि मानसिक नपुंसकता और पैरानोइया के पागलपन में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। जब व्यक्ति अपने आपको किसी प्रकार अपनी उच्च भावनाओं को प्राप्त करने में असमर्थ पाता है तो वह पागलपन की स्थिति में पहुँच जाता है। अपने आपको सबसे ऊँचा बनाने की इच्छा करने लगता है। इसी इच्छा में उसका त्रासदायक पागलपन निहित है।

हमारे देश के एक साहित्यक विद्वान् का कुछ दिन पहले पागलपन से

देहान्त हो गया। उनकी प्रतिभा अच्छी थी, पर उनकी समझ में उनकी योग्यता के अनुसार उनको कीमत नहीं होती थी। इससे वे दुःखी होकर पागल हो गये। कितने ही कवि तथा अन्य प्रतिभावान् व्यक्ति इसी प्रकार अपनी आशाओं को ऊँचा बढ़ाकर विक्षिप्त बन जाते हैं। लेखक के अनुभव में आया हुआ एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है—

लेखक कुछ दिन पहले एक ऐसे व्यक्ति से मिला जो अपने आपको महान् योगी मानता था। उसे विश्वास हो गया था कि उसे योग की अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। वह जानता था कि उसके बुलाने पर भूत-पिशाच भी आ जाते हैं और वह मनमानी बात कर सकता है। किन्तु साथ ही साथ उसे दुःख रहता था कि उसके सम्बन्धी उससे ईर्ष्या करते हैं। वे उसकी साधनाओं में बाधायें ही नहीं डालते वरन् उसकी प्राप्त की हुई शक्ति को भी छिना लेना चाहते हैं। अब वह अपने-आपको किसी को छूने नहीं देता है। उसकी धारणा हो गई है कि किसी व्यक्ति के छूने पर उसकी शक्ति उससे बाहर चली जाती है। वह जगते समय तो दूसरों से अलग रहता ही है सोते समय भी दूसरों से अलग रहने की चेष्टा करता है। कहीं दूसरे लोग उसे छू न लें इसका उसे इतना भय रहता है कि उसका चलना फिरना भी कठिन हो गया है। वह ठीक तरह से सो भी नहीं सकता उसे सदा ध्यान रहता है कि सोते समय उसे कोई व्यक्ति छू न ले और इस प्रकार उसकी शक्ति का हरण हो जाय। यह व्यक्ति अपनी मानसिक दशा को बताते-बताते लेखक के समक्ष रोने लगा। वह सरकारी पैन्शन पाने वाला एक वयोवृद्ध व्यक्ति था। लेखक को उसे रोते देखकर विस्मय हुआ।

पैरानोइया के रोगियों की एक विशेषता यह होती है कि वे सरलता से पहचाने नहीं जा सकते। एक बात को छोड़ कर शेष सभी बातों में उनके विचार साधारण मनुष्यों जैसे रहते हैं। उनकी महानता के विषय में जहाँ प्रश्न आता है अथवा दूसरों द्वारा त्रस्त होने का जहाँ विचार आता है वहीं उनका पागलपन देखा जाता है। उनकी स्मृति सामान्य रहती है और अपने पागलपन के साथ साथ वे कुछ चमत्कारिक प्रतिभा भी दिखा देते हैं। पैरानोइया का रोग सर्वांगी रोग नहीं है। रोगी की सभी मानसिक शक्तियाँ इस रोग

में नष्ट नहीं होतीं। अपनी 'साइकालाजी आफ इनसेनिटी' नामक पुस्तक में हार्ट महाशय ने कितने ही ऐसे रोगियों का उल्लेख किया है जो एक ओर अपने आपको राजा अथवा रानी मानते रहते हैं और दूसरे ओर सिगरेट के लिए किसी व्यक्ति से भिक्षा माँगते हैं अथवा साधारण पागलखाने जाने के काम मजे में करते रहते हैं। कभी-कभी वे सोच बैठते हैं कि किसी कल्पित व्यक्ति ने उन्हें अपने अधिकारों से वंचित करके जेलखाने में डाल दिया है।

जिस प्रकार मेलेन्कोलिया से पीड़ित व्यक्ति दूसरे लोगों से प्यार नहीं करता उसी प्रकार पैरानोइया से पीड़ित व्यक्ति में अपने आपको प्यार करने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। वह अपने आपको ही संसार का प्रमुख व्यक्ति बनाना चाहता है। उसका प्यार अपने ऊपर ही केन्द्रित रहता है। यही कारण है कि उसका अच्छा होना कठिन होता है। जो मानसिक रोग किसी प्रकार प्रेम के प्रयत्न में निराश होने के कारण उत्पन्न होते हैं उन्हें अच्छा करना सरल होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि रोगी का प्रेम प्रवाह जब बाहर की ओर आता है तो उसे एक स्थान से छुड़ाकर दूसरी ओर मोड़ा जा सकता है। पर जिस व्यक्ति के प्रेम का केन्द्र स्वयं अपना अहंकार हो उसके प्रेम-प्रवाह को किसी नई ओर ले जाना कैसे सम्भव है? अतएव पैरानोइया का रोगी अनेक प्रकार का मानसिक त्रास पाता है।। वह अपने-आपको दुःखी बनाये रहता है पर अपने दुःख का कारण अपने से बाहर किसी दूसरे व्यक्ति अथवा परिस्थिति पर आरोपित करता है। जो व्यक्ति ऐसे लोगों को कुछ सलाह देना चाहते हैं उनकी वही दशा हो जाती है जो बन्दर को सलाह देनेवाली बया की हुई थी।

पैरानोइया का रोगी बड़ा ही जिद्दी और धुन का पक्का रहता है। यदि कोई पैरानोइया के रोगी की लगन देखे तो वह चकित हो जावेगा। पर इस लगन का विषय कोई ऐसा होता है जो साधारण बुद्धि में तुच्छ और समय के विपरीत होता है। उदाहणार्थ कागज के कपड़े बनाने अथवा कागज के बर्तन बनाने की धुन इस प्रकार के रोगी को सवार हो सकती है। वह संपूर्ण विज्ञान के आविष्कारों के प्रतिकूल तथा समाज की प्रगति के प्रतिकूल ही कोई बात करता है। वह समझता है कि सारा मानव समाज गलत मार्ग पर चल रहा है

और उसने जो मार्ग खोजा है वही सच्चा मार्ग है। यदि ऐसे व्यक्ति को कुछ सफलता मिली तो वह प्रतिभावान कहलाता है और विफलता मिली तो वह पागलों की गणना में आता है। समय की गति तथा बुद्धि के प्रतिकूल जाने के कारण उसे विफलता ही मिलती है। उस समय वह बड़ा क्रूर हो जाता है। वह दूसरों के साथ निर्दयता का व्यवहार करने लगता है और अन्त में अनशन करके अथवा किसी घातक अस्त्र-शस्त्र से प्राणान्त कर डालता है *।

सोमनेमव्यूलिजिम अथवा चलते-फिरते स्वप्न में मानसिक रोगी किसी अपने पुराने अनुभव का अभिनय करता है। जब मनुष्य प्रबल इच्छा को जाग्रता-वस्था में तृप्त नहीं कर पाता तो वह उसे अपनी स्वप्नावस्था में गुप्त रूप से तृप्त करता है। प्रबल उत्तेजना होने पर ये स्वप्न सक्रिय हो जाते हैं।

सोमनेव्यूलिजिम

स्टाउट महाशय का 'ग्राउन्डवर्क आफ साइकालाजी' में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

एक बार दो बहिनें एक ही साथ रहती थीं। वे घर के एक ही कमरे में सोती थीं। बड़ी बहिन के पास एक चाँदी की डब्बी थी। उसमें उसके प्रेमी का दिया हुआ कुछ उपहार रखा हुआ था। छोटी बहिन वह डब्बी अपनी बहिन से ले लेना चाहती थी। पर उसे ले लेने का उपाय न दिखाई दिया। चोरी कर के ही वह डब्बी मिल सकती थी, पर उसका नैतिक मन उसे चोरी करने से रोकता था। ऐसी अवस्था में उसे सक्रिय स्वप्न की बीमारी हो गई।

---

* कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता में एक बाबू साहब रहते थे। इनका बदन सुन्दर था और पोशाक अच्छी होती थी। ये सभी लोगों से बड़ी शिष्टता से कुशलता पूछते थे। कभी-कभी लोग इनके पास सरकार की अव्य-वस्था की शिकायत करते थे। वे तुरन्त बादशाह के नाम पत्र लिख देते थे। कभी-कभी वर्षा की कमी की शिकायत लोग उनसे करते तो वे इन्द्र अथवा वरुण के नाम पत्र लिख देते थे। उनकी मजाक उड़ाने के लिए कुछ मनचले लोग इस प्रकार के पत्र उनसे लिखवाते थे, पीछे वे उन्हें पागलखाने के डाक्टरों को दे दिया करते थे जो पागलों के विचारों को बताने के लिये क्लास में काम में लाते थे।

अब जब उसकी बहिन सोई थी तो उसने चुपके से बहिन की जेब से डिबिया निकाल ली और उसने उसे खोलकर देखा पीछे उसने उस डिबिया को अपने तकिये के भीतर रख लिया। सबेरा होने पर बड़ी बहिन ने डबिया की खोज की। छोटी बहिन से पूछा तो उसने कहा कि उसे डिबिया के विषय में कुछ भी नहीं मालूम है। वास्तव में उसे अब कुछ भी याद न था।

दूसरी रात को जब उसकी बड़ी बहिन सोई थी, छोटी बहिन ने फिर उस डिबिया को अपने तकिया के भीतर से निकाला और उसे खोलकर उसमें की वस्तुयें देखी और फिर बंद करके उस डिबिया को जैसी की तैसी तकिया के भीतर रख ली। वह अब प्रतिदिन अपनी सुप्तावस्था में इसी क्रिया को करने लगी। एक बार उसकी बड़ी बहिन की नींद खुल गई जब उसकी छोटी बहिन डिबिया लिये बैठी थी। उसने उसे देख लिया। पर जब सबेरे उससे डिबिया के बारे में पूछा तो उसने पहले जैसी ही अपनी अज्ञानता बताई। जब उसे तकिये के भीतर से डिबिया निकाल दी गई तो उसने यही कहा कि किसी दूसरे व्यक्ति ने ही उसे दोषी ठहराने के लिये यह षड्यंत्र रच लिया है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उसका कथन वास्तव में सत्य था। वह एक व्यक्तित्व से बहिन से बात करती थी और दूसरे व्यक्तित्व से डिबिया को तकिया में रखती थी। एक की क्रिया का दूसरे को कुछ भी ज्ञान न था।

हाल ही में लेखक की एक छात्रा ने अपने सम्बन्धी की सक्रिय स्वप्न की बीमारी का निम्नलिखित वृत्तान्त लिखा है—

"रोगी डाक्टरी का पेशा करते हैं। आप २७ साल के युवक हैं। इनकी शादी १५ साल की अवस्था की हो गई है। आप अपने विवाहित जीवन से सन्तुष्ट नहीं है। इनके चार साल का एक पुत्र है। आप अपनी माँ को भी भी प्यार नहीं करते। सदा पिता के साथ रहते आये हैं। उनकी स्त्री अशिक्षित है। वे घर पर कम रहते हैं और अधिक समय बाहर ही खर्च करते हैं। घर पर कर्तव्यवश ही आते हैं। उनका लड़का उनके पिता के पास रहता है। ये कुछ भूले-भूले से रहते हैं। इन्हें १२ वर्ष की अवस्था तक अनिद्रा की बीमारी रही है, और छोटी उमर से ये बोर्डिंग ये रखे गये हैं। रोग का पहला दौरा इन्हें साल की अवस्था में हुआ, जब कि वे अपने पिता के पास ठहरे थे।

सोते समय अपनी अचेतन अवस्था में ये चिल्ला उठते हैं बिस्तर पर से उठकर चल देते हैं और फिर वापस आकर सो जाते हैं। कभी-कभी उन्हें चलते-फिरते चोट लग जाती है। यदि कमरे का दरवाजा बंद रहता है तो ये उसे बन्द देखते हुए भी दरवाजे से टकरा कर गिर पड़ते हैं। फिर कोई इन्हें उठाकर लाता है अथवा कुछ समय के बाद ये होश में आ जाते हैं। इस प्रकार के रोग के दौरान के पूर्व इन्हें भारी भय होता है, फिर चिल्लाहट होती है और फिर रोग प्रारम्भ हो जाता है। भय की अवस्था में उन्हें कभी-कभी ज्ञात होता है कि उनकी छाती पर एक भारी बोझ रख दिया गया है। एक बार उन्होंने अपनी कल्पना में एक बड़े सर्प को दीवाल पर चलते देखा, इसके बाद रोग प्रारम्भ हो गया। जो पदार्थ देखे जाते हैं वे कल्पना-मात्र में रहते हैं। जो कुछ रोग की अवस्था में वे कहते हैं उसका उन्हें कुछ भी स्मरण नहीं रहता। निद्रा खूब अच्छी होती है। बीमारी के बाद आप फिर स्वस्थ हो जाते हैं केवल एक भय की अवस्था सी रहती है। इनकी स्त्री को शादी के बाद हिस्टी-रिया का रोग हुआ था। इस प्रकार के रोग का दौरा साल में एक बार होता है। ये अपने काम को ठीक तरह से करते रहते हैं। इनकी स्त्री का जीवन, इनकी बीमारी तथा मनोवृत्ति के कारण बहुत दुःखी है।"

शेक्सपियर के मेकबेथ नामक नाटक में लेडी मेकबेथ की सक्रिय स्वप्न की कहानी अँग्रेजी जाननेवाली जनता में प्रसिद्ध है। लेडी मेकबेथ अपनी सुप्तावस्था में उठकर हाथ धोती थी। वह अपने हाथों को रक्त-रंजित देखती थी। वह अपनी दासियों से पानी साबुन बुलवाती और हाथों को साफ कर-वाती। पर तिस पर भी उनमें उसे खून लगा हुआ दिखाई देता था। इस महिला ने अपने घर पर आये अतिथि राजा डन्कन को बिना किसी अपराध के राज्य के लोभवश अपने पति के द्वारा मरवा डाला था। जब से उसने राजा का खून किया था उसकी निद्रा नष्ट हो गई थी और उसे सक्रिय स्वप्न होते रहते थे।

कभी-कभी सक्रिय स्वप्न जैसे कार्य रोगी अपनी साधारण अवस्था में ही किया करता है। इस समय उसमें एक विशेष प्रकार की चेतना काम करती है। उसकी सामान्य चेतना को उसका ज्ञान नहीं रहता। इस काम के

करने के पश्चात् वह फिर उसे भूल जाता है और सामान्य चेतना में आता है। बर्नार्ड हार्ट महाशय ने एक महिला का इस प्रकार की बीमारी का उदाहरण अपनी "साइकालाजी आफ इनसेनिटी" नामक पुस्तक में दिया है। यह महिला अपनी माँ की मृत्यु का अभिनय अपनी अचेतन अवस्था में किया करती थी। वह इस प्रकार का अभिनय प्रायः प्रतिदिन करती थी।*

हेल्यूशिनेशन अथवा तन्द्रा में रोगी अपनी कल्पना में विचित्र प्रकार के दृश्य देखता है। इन दृश्यों का आधार कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती, पर उसे ये दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। भूत-पिशाच को जगाने वाले लोग कभी-कभी अपने-आपको इनके द्वारा घिरा पाते हैं। अधिक भय की अवस्था में अनेक प्रकार के भयावने दृश्य मनुष्य को दिखाई देने लगते हैं। लेखक के एक मित्र को वह जहाँ जाता पुलिस पीछा करते हुए दिखाई देती थी। वह एक डाकखाने का क्लर्क था। उसके डाकखाने में चोरी हो गई थी। चोरी नहीं पकड़ी गई थी, पर सरकार का सन्देह उसी व्यक्ति पर था। पुलिस के भय के कारण उसकी विक्षिप्त अवस्था हो गई और उसी में उसकी मृत्यु हो गई।

जब मनुष्य की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है तो उसकी अभद्र कल्पनाओं की संख्या बढ़ जाती है तो वह अपने कल्पित पदार्थ को ही प्रत्यक्ष देखने लगता है। इस प्रकार बहुत से लोग कल्पित भूतों तथा भयंकर जानवरों से डरा करते हैं। डर निर्बल मन के लोगों को ही होता है। मानसिक निर्बलता का कारण कोई नैतिक समस्या होती है।

न्यूरोसिस (अर्द्धविक्षिप्तता)

न्यूरोसिस (अर्द्धविक्षिप्तता) में वे मानसिक रोग आते हैं जिनका उपचार मनोवैज्ञानिक विधि अथवा आध्यात्मिक विधि से होना सरल है। पर ये रोग समय पर चिकित्सा न होने पर बढ़ सकते हैं और पीछे रोगी को किसी न किसी प्रकार का पूरा पागल पन हो सकता है। समय पर चिकित्सा हो जाने पर किसी भी व्यक्ति का मानसिक रोग अधिक जटिल होने से रोका जा सकता

---

* Psychology of Insanity. P. 28.

है। इन रोगों के लक्षणों को जानना चिकित्सक को अत्यन्त आवश्यक है जिससे कि वह उनका ठीक से उपचार कर सके।

न्यूरोसिस के मुख्य तीन भेद बताये गये हैं—न्यूरेस्थेनिया, साइकेस्थेनिया और हिस्टीरिया। न्यूरेस्थिनिया में रोगी की चेतना में रोग का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। वह अपने मानसिक रोग का न तो रूप जानता है और न कारण। न्यूरेस्थेनिया की अवस्था में मनुष्य को अनिद्रा की बीमारी हो जाती है, अथवा उसे भयंकर स्वप्न होते हैं पर वे उसे याद नहीं रहते। जब रोगी सोकर उठता है तो उसे थकावट की अनुभूति होती है मानो वह किसी बड़े संग्राम में युद्ध कर रहा हो। न्यूरेस्थेनिया की बीमारी होने पर मनुष्य अपने में शक्ति के अभाव की अनुभूति करता है। उसका मन किसी काम में लगता ही नहीं।

मानसिक थकावट

लेखक कुछ दिन पहले एक नवयुवक को मिला। यह नवयुवक सरकार के कृषिविभाग में काम करता था। वह पहले बहुत काम करत था और वह अपने परिश्रम से सभी साथियों के आगे बढ़ गया। उससे उसके सभी साथी ईर्ष्या करने लगे। उसके आफिसर उससे बहुत खुश रहते थे। इसे उसके साथी देख नहीं सकते थे। पीछे वह युवक स्वयं अभिमान करने लगा। पर थोड़े ही काल में उसे न्यूरेस्थेनिया (मानसिक थकावट) की बीमारी उत्पन्न हो गई। अब वह किसी भी काम को मनोयोग से नहीं कर सकता था। उसे छोटी-छोटी बातें विस्मृत होने लगी और उसकी रुचि सभी कामों से जाती रही। उसे बीच-बीच में अनिद्रा की बीमारी हो जाती थी। कभी-कभी न्यूरेस्थेनिया के रोगी को अनिद्रा की बीमारी के बदले बहुनिद्रा की बीमारी हो जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी सोता बहुत है, पर उसे सो कर उठने पर आनंद की अनुभूति नहीं होती, वरन् मानसिक थकावट होती है।

अर्द्ध पागलपन का एक सामान्य प्रकार झक है। इसे अंग्रेजी में आ[illegible]-शेशन-न्यूरोशिश कहा जाता है। झक्की मनुष्य अपनी बात पर [illegible] रहता है। जब कोई बात कमजोर मन के व्यक्ति की कल्पना में आ जाती है तो वह

प्रयत्न करने पर भी नहीं अलग होती। रोगी स्वयं उस बात को मन से हटाने का प्रयत्न करता है, पर वह मन से नहीं जाती।

अर्धपागलपन का एक सामान्य-प्रकार—झक

लेखक को एक ऐसा रोगी मिला जिसे झक सवार हो गई थी कि उसका झगड़ा एक मेहतर से हो जावेगा और इसके कारण उसको फांसी हो जावेगी। वह इस झक को निकालने का जितना ही प्रयत्न करता था वह और भी दृढ़ होती जाती थी।

झक के रोगी को असगुन के विचार बहुत सताते हैं। वह जहाँ चलता है उसे असगुन ही दिखाई देते हैं। लेखक के एक फुफेरे भाई को स प्रकार की झक सवार हो गई थी वे जब कभी घर से बाहर निकलते तो उन्हें कोई न-कोई असगुन हो जाता—कभी बिल्ली रास्ता काट जातीं, तो कभी रीता घट राह में मिल जाता, तो कभी अंग-भंग व्यक्ति मिल जाता। इस प्रकार जब कभी कोई महत्त्व का काम करने के लिये वे घर से निकलते तो उन्हें अवश्य कोई-न-असगुन हो जाया करता था। फिर वे यह भी देखते थे कि कोई असगुन व्यर्थ भी नहीं जाता था। असगुन के हो जाने पर जब वे काम करते तो उन्हें अवश्य हानि उठानी पड़ती थी।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण हेनरी फिशर महाशय ने अपनी "इन्ट्रोडक्शन टू एबनार्मल साइकालाजी" नामक पुस्तक में दिया है। इस व्यक्ति की उमर कोई पचास वर्ष की थी। यह एक जगह पादरी का काम करता था। यह आजन्म क्वाँरा था। गाँव के लोग इसे बहुत अच्छा पादरी मानते थे। इसके उपदेश सुन्दर होते थे और अपने सदाचार के लिये यह प्रसिद्ध था। यह स्वयं भी एक बड़ा सदाचारी व्यक्ति था और सबको सदाचार का उपदेश देता था। इस व्यक्ति को एक बार सब जगह तेरह अंक देखने अथवा सुनने की झक उत्पन्न हो गई थी। विलायत में तेरह संख्या अशुभ सूचक मानी जाती है। वह जहाँ जाता उसे तेरह ही व्यक्ति अथवा तेरह वस्तुएँ ही दिखाई देती थीं। यदि कहीं वह दावत में जाता तो उसे तेरह ही मनुष्य वहाँ मिलते; किसी के घर जाता तो १३ नम्बर का घर उसको अवश्य दिखाई दे जाता जिस घर में वह जाता उसमें यदि दूसरे मंजिल में

जाना हो तो उसे तेरह सीढ़ियाँ ही चढ़नी पड़तीं; खाने को दावत में तेरह वस्तुयें मिलतीं, यदि कोई उससे नमस्कार करता तो वह तेरह अक्षर के शब्द कहता, उदाहरणार्थ वह Good afternoon कहता अथवा सिर्फ Good morning न कहकर Ah Goodmorning कहता। वह इस प्रकार के असगुन से परेशान हो गया था।

कुछ काल के बाद यह व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक के पास अपनी मानसिक व्याधि को लेकर गया। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि जब वह २४ वर्ष का युवक था तब उसका प्रेम एक ग्रामीण स्त्री से हो गया था। इस स्त्री को तेरह की संख्या से डर रहता था। वह तेरह संख्या की अशुभ सूचक बात में विश्वास करती थी। युवक को इसमें कोई विश्वास न था, पर उसकी ५० वर्ष की अवस्था में एक झक के रूप में १३ संख्या का भय उत्पन्न हो गया। पादरी स्वयं १३ संख्या के भय को व्यर्थ जानता था, पर वह उसके मन से जाता नहीं था। वास्तव में यह झक उससे अपने पुराने प्रेम की आत्म-स्वीकृति के लिये उत्पन्न हुई थी। उसने इस प्रेम को भुला दिया था और समाज में अपने आपको पूर्ण ब्रह्मचारी प्रसिद्ध कर दिया था। उसकी बात-चीत, उपदेश और आचरण भी ऐसे थे जिनसे यह पता चलाना कठिन था कि इस व्यक्ति का किसी स्त्री से कभी प्रेम रहा होगा। तेरह संख्या की झक ने उससे आत्म-स्वीकृति करा ली। जब इस व्यक्ति को अपनी पुरानी स्मृति याद आ गई तो उसकी झक जाती रही।

उक्त उदाहरण से झक के स्वरूप और उसके कारण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। झक किसी दबी हुई भावपूर्ण स्मृति की सूचक होती है। झक का एक और उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। यह भी हेनेरी फिशर महाशय ने अपनी उक्त पुस्तक में दिया है। एक व्यक्ति को यह झक उत्पन्न हो गई थी कि सभी लोग उसकी ओर देखकर थूकते हैं। वह जहाँ जाता सभी लोगों को अपनी तरफ देखकर थूकते हुए देखता। एक बार अपनी उक्त धारणा को निश्चित करने के लिये वह एक दरवाजे के पास खड़ा हो गया। उसने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति ने, जो उस दरवाजे से निकला उसकी ओर देखकर थूका। यह व्यक्ति युवावस्था का था और अभी तक क्वाँरा था।

वह अपनी माँ के पास रहता था और लोगों का उसके चरित्र के विषय में सन्देह था। इसके सन्देह का उसे ज्ञान था। यह झक आत्म-भर्त्सना के रूप में हुई थी। वास्तव में वह स्वयं अपने आपसे घृणा करने लगा था और सभी लोगों का उसकी ओर थूकना कल्पनामात्र थी। अपने अचेतन मन की प्रेरणा के कारण उसका ध्यान ऐसे ही लोगों की ओर जाता था जो थूकते हुये रहते थे। वह अनायास ही उनके थूकने का सम्बन्ध अपने-आप से जोड़ लेता था। जिस प्रकार पहले उदाहरण में झक्की का अचेतन मन सदा तेरह संख्या की खोज में रहता था, इसी प्रकार इस व्यक्ति का मन सदा थूकने वालों की खोज में रहता था। आत्म-स्वीकृति के पश्चात् इस प्रकार की झक नष्ट हो जाती है।

कितने ही लोगों को बहुत सफाई रखने की झक सवार रहती है। उन्हें उनके आस-पास गन्दा ही गन्दा दिखाई देता है। उनकी सोने की चादर पर किसी प्रकार का यदि दाग लग जाय तो उन्हें नींद नहीं आती, भोजन करने की थाली को वे कई बार साफ करते है; इतने पर भी मन को संतोष नहीं होता। अपने कपड़ों को वे इतना धोते हैं कि उन्हें फाड़ डालते हैं। लेखक की एक शिष्या को घर, बर्तन कपड़े साफ रखने की झक सवार हो गई थी। इसके कारण कोई भी नौकरानी उसके घर पर ठहरती नहीं थी। वह प्रति दिन उससे अपने घर को धुलवाती थी; बर्तनों को कई बार साफ करवाती थी।

लेखक की एक दूसरी छात्रा ने अपनी महिला मित्र के झक के विषय में निम्नलिखित बात कही। यह महिला अपनी सभी वस्तुओं को खूब साफ रखती है। वह अपने कमरे को प्रतिदिन धुलवाती है। एक दिन उसके कमरे के सामने बरामदे में एक कुत्ते ने पेशाब कर दी, उसने उसे ठीक से धुलवाया। फिर उसे वह प्रति दिन धुलवाती थी। पर उसका कहना था कि उसे उस पेशाब की महक पन्द्रह दिन के बाद भी ज्यों की त्यों आती थी। यह महिला २५ साल की है और अभी तक अविवाहित है।

गुरुकुल काँगड़ी (हरिद्वार)के डाक्टर महादेव प्रसाद जी ने लेखक से हाल ही में अपने एक रोगी की झक का वृत्तान्त कहा। वह सफाई

पसंद करता था। प्रत्येक वस्तु को बार बार धुलवाते रहता था; वह प्रतिदिन अपने कमरे को साबुन से धुलवाता था। लेखक के एक मित्र ने अपने एक अठारह वर्ष के संरक्षित युवक के विषय में कहा कि यह युवक जब शौच से आता तो वह घंटों तक अपने हाथ धोता रहता। वह एक पूरा टब भर पानी इसमें खर्च कर देता था। पर वह नहाने से जी चुराता था और बड़ी मुश्किल से कई दिनों के बाद नहाता था। इस व्यक्ति को पीछे और भारी रोग हो गया।

झक्की मनुष्य जो कुछ करता है उसे वह प्रायः ठीक समझ कर ही करता है। वह किसी न किसी प्रकार का तर्क उसके लिये ढूँढ़ लेता है। वास्तव में उसका अचेतन मन उससे बरबस झक के काम कराता है दूसरे लोगों को झक्की मनुष्य की झक अखरती है, स्वयं उसे अपनी झक स्वाभाविक दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कितने ही महान् पुरुषों को विशेष प्रकार की झकें रहती हैं। डाक्टर सेमुयल जानसन जब रास्ते पर चलते थे तो रास्ते में आने वाले प्रत्येक खंभे को अपने डंडे से पीटते जाते थे। यदि वे किसी खंभे को बिना डंडा मारे आगे बढ़ जाते तो उसे डंडा मारने के लिये लौटते थे,उसे डंडा मारकर ही आगे चलते थे। यह एक प्रकार का नशा सा हो गया था *।

इल्लत अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी काम करने का नाम है। झक्की मनुष्य जो कुछ करता है उसे वह करना चाहता है पर इल्लत में इच्छा के न रहने पर जान-बूझकर मनुष्य को ऐसे काम करने पड़ते हैं जिनका उसे कारण ज्ञात नहीं रहता। इल्लत शारीरिक क्रियाओं का रूप धारण कर लेती है। कितने ही लोगों को नाक फुसकने, खाँसते रहने अथवा मुँह बनाने की इल्लत

इल्लत

* बनारस में कोई पचास वर्ष पूर्व झक्कड़ साहू हो गये हैं। ये समय समय पर अपनी तिजोरी से रुपया निकलवा कर धूप में सुखवाते थे। जब तक कुछ सूखने न निकल जाय तब तक वे रुपया कई दिनों तक सुखवाते रहते थे। इसी प्रकार जब वे किसी व्यक्ति को कपड़े पहने हुए रास्ते से जाते देखते तो कोठे के ऊपर से उसके ऊपर थूक देते थे और फिर उसे प्रसन्न करने के लिये अपनी ओर से नये कपड़े पहना देते थे।

हो जाती है। वे इनको छोड़ना चाहते हैं पर वे नहीं छूटतीं। वे इन्हें शारीरिक बीमारियाँ समझ लेते हैं। लेखक के एक छात्र को अपना मुँह बनाने की इल्लत लग गई थी। पहले वह एक सार्वजनिक कार्यकर्ता की नकल के रूप में अपने मित्रों को हँसने के लिये मुँह बनाता था। पीछे उसे इसकी इल्लत ही लग गई। जबतक वह बीच-बीच में मुँह नहीं बना लेता था तब तक उसे चैन नहीं मिलती थी। कितने ही लोगों कोबदन ऐंठने की, नाक भौं सिकोड़ने की, हाथ मलने की आदत रहती है। इन आदतों को वे छोड़ नहीं सकते। लेखक के एक मित्र जब बात करते हैं तो अपना हाथ कोट के भीतर डाल कर छाती पर रख लेते हैं। बिना इस प्रकार की मुद्रा के वे ठीक से बात-चीत नहीं कर सकते।

मनुष्य की किसी प्रकार की इल्लतों को छुड़ाना कठिन है। जब तक उनका मानसिक कारण ढूँढ़ कर उसका विनाश नहीं किया जाता, इल्लत को हटाना संभव नहीं। यदि एक प्रकार की इल्लत चली जाती है तो दूसरी प्रकार की इल्लत लग जाती है। अपनी इल्लतों को जान-बूझ कर भी मनुष्य नहीं छोड़ पाता। इल्लतें अचेतन मन की क्रियायें हैं और इनका अर्थ सांकेतिक होता है। रोगी की मानसिक व्याधि समझने में उसकी सांकेतिक चेष्टायें बहुत सहायता देती हैं सांकेतिक चेष्टायें मनुष्य की दबी भावनाओं अथवा इच्छाओं को विशेष प्रकार के संकेतों के द्वारा व्यक्त करती हैं। ये संकेत दूसरे लोगों को स्पष्टतः दिखाई देते हैं परन्तु स्वयं रोगी को नहीं दिखाई देते। कितने ही अध्यापक पढ़ाते समय चाबी के गुच्छे घुमाते रहते हैं। कितने ही सार्वजनिक नेताओं को भाषण देते समय मुँह पर बारबार हाथ फेरने की आदत रहती है। कुछ लोगों को महत्व की बातचीत करते समय पुलिया में पेन्सिल बारबार डालने और निकालने की आदत रहती है यदि उन्हें इन कामों से रोक दिया जाय तो उनका भली प्रकार से पढ़ाना अथवा धाराप्रवाह भाषण देना अथवा सोचकर बातचीत करना ही रुक जाता है।

सांकेतिक चेष्टायें कई प्रकार की होती हैं। ये मनुष्य के अनजाने ही होती रहती हैं। निम्नलिखित सांकेतिक चेष्टायें उल्लेखनीय हैं -

(१) जाँघों का हिलाना (२) ओंठ चाटना अथवा काटना (३) आँख मिचकाना (४) कंधा हिलाना (५) नाक फुँसकना (६) हाथ मलना (७) मुँह पर हाथ फेरना (८) बार बार अंगूठी निकालना और पहनना (९) पेन्सिल को पुलिया या क्लिप में बार बार डालना और निकालना (१०) कोट की बटन पर हाथ फेरते रहना (११) मक्खी भगाने जैसा हाथ हिलाते रहना (१२) अंगुलियों से मट्टी मलना। (१३) दांत से नख काटते रहना (१४) हाथेली बार-बार सूंघना।

चिन्ता

चिन्ता एक व्यापक मानसिक रोग है। सभी लोगों को किसी न किसी प्रकार की चिन्तायें रहती हैं। यदि चिन्तायें न हों तो सम्भव है कि हम किसी प्रकार का काम ही न करें। किसी प्रकार की हानि का भय ही चिन्ता का रूप धारण करता है। चिन्तायें दो प्रकार की होती हैं—एक परिस्थतिजन्य और दूसरी मानसिक स्थितिजन्य किसी भी प्रकार की चिन्ताओं में दोनों प्रकार के कारण होते हैं, पर परिस्थिति- जन्य में बाह्य परिस्थिति ही प्रधान होती है और मानमिक-स्थितिजन्य चिन्ता में मानसिक-स्थिति। जब शहर में हिन्दू-मुसलमान दंगा हो जाता है तो प्रत्पेक नागरिक चिन्ता में पड़ जाता है। जब कुसमय आकाश में बादल दिखाई देते हैं तो किसान चिन्तित हो जाता है। जब राजा देश में बगावत की तैयारी सुनता है तो वह चिन्तित हो जाता है। इस प्रकार की चिन्तायें परिस्थितिजन्य हैं। पर इनमें भी भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तित होते हैं। कमजोर मन के लोगों की चिन्तायें अधिक होती हैं और दृढ़ इच्छाशक्ति के लोगों की कम।

मानलीजिये हमारा एक आठ वर्ष का बच्चा घर से बाहर निकलकर शहर की ओर जाता है। शहर में उसे स्कूल जाना है। कमजोर मन की माँ तब तक शान्त मन नहीं होती जब तक बालक घर नहीं आ जाता। उसे डर लगता है कि कहीं मोटर इक्का, बग्गी, ताँगा से बालक दब न जाय, उसे कोई जानवर न मार दे, उसे कुत्ता न काट खाय, कहीं कोई लड़का उसे न मार दे। इस प्रकार की अनेक कल्पनायें उसके मन में उठती हैं। ज्यों ही

उसकी एक कल्पना का समाधान किया जाता है दूसरी कल्पना उठ बैठती है जो उसे फिर बेचैन बना देती है।

मानसिक परिस्थितिजन्य चिन्ता का वास्तविक कारण कोई दूसरा होता है और वह प्रकाशित दूसरे रूप से ही होती है। कितने ही लोग सदा चिन्ता की अवस्था में रहते हैं, उनकी चिन्ता एक पदार्थ से छूट कर दूसरे पदार्थ पर आरोपित होती रहती है। किसी प्रकार की सामान्य घटना ही उनके मन को उथल-पुथल कर देती है। मान लीजिये, उनका आफिसर उनसे ठीक तरह से नहीं बोला तो वे कल्पना कर बैठेगें कि अब उनकी नौकरी ही चली जायगी। यदि कोई व्यंगचित्र अथवा लेख उनके बारे में निकल गया तो वे समझ लेगें कि अब संसार में उनके लिये स्थान ही नहीं रहा। कितने ही लोग चरित्र की आलोचना सुनते ही पागल हो जाते हैं अथवा संसार से ही चल बसते हैं। उनके इस प्रकार के उद्विग्न मन होने का कारण कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। उनकी चिन्ता का प्रधान कारण बाहर नहीं अपितु भीतर होता है। लेखक की एक छात्रा परीक्षा में बैठने से इतनी घबड़ाती थी कि वह कई बार परीक्षा-भवन में बेहोश हो जाती थी। कितने ही लोग सभी लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। किसी भी आगन्तुक से वे भलाई की आशा नहीं करते। कितने ही लोगों को चिन्ता लगी रहती है कि उन्हें कहीं कोई संक्रामक रोग न लग जाय। इसके कारण वे जगह जगह भागते फिरते हैं। इस प्रकार की चिन्तायें अज्ञात मानसिक झंझटों की प्रतीक मात्र रहती है।

चिन्ता और भय का घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस प्रकार चिन्ता का विषय ज्ञात अथवा अज्ञात रहता है, इसी प्रकार भय का विषय भी ज्ञात अथवा अज्ञात हो सकता है।

अकारण भय

लेखक को हाल ही में एक किशोर बालक का पत्र मिला जो लिखता है कि उसे सदा डर लगा रहता है। किस बात का डर लगता है यह बताया ही नहीं जा सकता। लेखक के मित्र का एक सत्रह वर्ष का बालक अकेले कमरे में सोने से डरता है। कितने ही लोगों को कीड़े पतंगों का भय रहता है। कितने ही लोगों को साँप का भय सदा तंग किया

करता है। लेखक के एक चौतीस वर्ष के ट्रेनिंग कालेज के छात्र को साँप से इतना भय हो गया था कि वह अंधकार होने पर घर के बाहर निकल ही नहीं सकता था। वह कभी घास पर नहीं चलता था, पेड़ के नीचे साँप के भय से नहीं ठहरता था। वह जानता था कि उसका भय निराधार है, तिस पर भी वह उससे मुक्त नहीं होता था। कभी कभी मानसिक रोगी को कल्पित सर्प दिखाई देने लगता है।

लेखक के मित्र को अकेले रह जाने का बड़ा भय है। उनकी आयु इस समय कोई चालीस वर्ष की है वे एक कालेज के कुशल अध्यापक हैं। वे सरकारी स्कूलों के हेडमास्टर भी रह चुके हैं। वे बिना किसी साथी के घर से बाहर नहीं निकल सकते। स्कूलों में जाने के लिये उन्हें किसी न किसी व्यक्ति की सदा आवश्यकता रहती है। घर में एक साथी सदा अवश्य रहना चाहिये। बाहर जाते समय यदि कोई साथी न मिला तो वे अपनी पांच वर्षीय बालिका को ही साथ ले लेते हैं। कालेज में जाने के लिये अकसर बालिका को साथ लेना पड़ता है।

अकारण भय में जिस बात से व्यक्ति डरा करता है उसका कारण उसके मन के भीतर होता है। भय का बाहरी पदार्थ भीतरी पदार्थ का प्रतीक मात्र होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार के अनेक भय बताये हैं—अकेले रहने का भय, बंद कमरे में रहने का भय, बाहर रहने का भय, पानी का भय, कीड़ों फतंगों का भय, आवाज का भय,* अंधकार का भय इत्यादि। जिस मनुष्य के भय का कारण उसके मन में रहता है उससे बहस करने से उसका भय नहीं जाता। लेखक के मित्र के पिता, जो इस समय साठ वर्ष के हैं और बड़े विद्वान् हैं, अकेले नहीं सो सकते। किसी न किसी व्यक्ति को उनके पास सोना पड़ता है। जब कभी उन्हें अकेले सोने का अवसर पड़ता है तो वे डर के मारे रात को चौंक कर उठ जाते हैं और फिर रात भर नहीं सो पाते।

---

* एक प्रौढ़ व्यक्ति को बिजली की कड़क से इतना भय होता है कि जब बादल गरजने और बिजली चमकने लगती है तो वह डर के मारे अपने पलंग के नीचे बच्चे जैसा छिपने की चेष्टा करता है। उसकी बुद्धि इस समय बे ठिकाने को हो जाती है।

जिस प्रकार चिन्ता समाज का एक व्यापक रोग है इसी प्रकार हिस्टीरिया भी समाज का एक व्यापक रोग है। यह सभी जगह पाया जाता है। पढ़ी-लिखी महिलाओं को हिस्टीरिया उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अपढ़ स्त्रियों को। हिस्टीरिया की पूर्व अवस्था में रोगी को मानसिक चिन्ता होती है।

हिस्टीरिया

वह मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अनुभूति करता है, पर चिन्ता का कारण उसे ज्ञात नहीं रहता। हिस्टीरिया स्त्री और पुरुष दोनों को ही होता है। यह रोग अधिकतर युवावस्था में ही रहता है। कभी-कभी हिस्टीरिया की अवस्था में मनुष्य सम्पूर्ण बेसुध नहीं होता, परन्तु उसे अपने शरीर के अंगों पर काबू नहीं रहता। वह जो कुछ करता है बरबस करता ही जाता है। वह कई बातें ऐसी करता है जिसका वह कोई अर्थ नहीं समझता। गाँव खेड़ों में इस रोग को भूत लगना, प्रेतबाधा होना कहा जाता है।

हिस्टीरिया कभी कभी शारीरिक बीमारी का रूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में शरीर का विशेष प्रकार का अवयव बेकाम हो जाता है। हिस्टीरिया से एक तरफ का अंग बेकाम हो सकता है। कभी कभी आँख से दिखना बंद हो जाता है, कभी हाथ बेकाम हो जाता है और कभी पैर बेकाम हो जाता है। इस प्रकार के बेकाम अंग में कोई वास्तविक क्षति नहीं होती, पर रोगी उनसे काम नहीं ले सकता। कभी कभी रोगी को किसी विशेष अंग में दर्द होता है जिसका कोई भौतिक कारण नहीं होता। जब हिस्टीरिया किसी शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है तो कनवर्सन हिस्टीरिया (रूपान्तरित हिस्टीरिया) कहलाता है। वमन की बीमारी रूपान्तरित हिस्टीरिया का एक रूप है।

हिस्टीरिया का सम्बन्ध कामबासना के दमन से अधिक रहता है। जिन लोगों को हिस्टीरिया होता है उन्हें अपने जीवन से किसी-न-किसी प्रकार का असन्तोष रहता है। जब पति अपनी स्त्री को ठीक से प्यार नहीं करता, अथवा जब किसी नवयुवती की शादी किसी अधेड़ व्यक्ति से हो जाती है तो स्त्री को प्रायः हिस्टीरिया की बीमारी हो जाया करती है; पर कुछ काल

के बाद इस प्रकार की बीमारी अपने आप छूट जाती है। बाल-बच्चों के हो जाने पर युवतियों की हिस्टीरिया की बीमारी प्रायः जाती रहती है।

मानसिक विकारों का शारीरिक रोगों में प्रकाशन

मनुष्य का जीवन विकासोन्मुख है और उसका आन्तरिक स्वभाव भला है; अतएव किसी प्रकार की मानसिक गंदगी उसके स्वत्व में देरतक नहीं ठहर पाती। उसका आन्तरिक मन उसे किसी न किसी प्रकार बाहर करने की चेष्टा करता रहता है। मनुष्य का अहंकार मानसिक विकार को बाहर निकलने से रोकता है; वह उसके उपस्थित को स्वीकार नहीं कराना चाहता। इससे मनुष्य के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। यही मानसिक रोग है। यह अनेक रूप से निकलता है। हमारे कितने ही शारीरिक रोग भी मनसिक रोग को प्रकाशित करते हैं। जब किसी मनुष्य के मन में देर तक मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है तो वह शारीरिक रोग का रूप ग्रहण कर लेता है। यह रोग मानसिक भावना का प्रतीक होता है। चिन्ता ग्रस्त व्यक्तियों को दमा की बीमारी हो जाती है। कितनी स्त्रियों को दमा इसलिये हो जाता है कि उन्हें अपने पति के प्रेम में सन्देह रहता है। वे अपने सन्देह को प्रगट नहीं कर पाती, अतएव वह उनके हृदय पर एक बोझ के रूप में बना रहता है। इसी प्रकार कितने ही पुरुषों को अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह होने पर दमा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है।

प्राकृतिक परिष्कार की प्रक्रिया

लेखक की दृष्टि में एक ऐसा मानसिक रोगी आया जिसे अपने पुरुषत्व में सन्देह हो गया था। उसे कई प्रकार के वहम हो गये थे। कभी-कभी वह कल्पित साँप को अपने सामने देखता था। उसकी चार सन्तानें भी थीं, पर उसका विश्वास हो गया था कि वे सन्तान उसकी नहीं है, वे किसी दूसरे व्यक्ति से उत्पन्न हैं। उसके इस प्रकार के सन्देह से उसका जीवन दुःखी हो गया था। जब मनोवैज्ञानिक विधि से उसके सन्देहों को दूर किया गया तो उसे कुछ शान्ति मिली। उसमें सन्देह के कारण जो वास्तविक नपुंसकता उत्पन्न

आत्म-ग्लानिजन्य रोग

हो गई थी वह रेचन विधि से दूर की गई। इसके बाद उसके एक सन्तान हुई और तब उसका मानसिक रोग बहुत कुछ दूर हो गया। पर अब उसे दमा की बीमारी हो गई। दमा की बीमारी के हो जाने पर उसका मानसिक रोग जाता रहा। अब वह एक सामान्य व्यक्ति के समान हो गया। इस व्यक्ति का रोग आत्म-ग्लानिजन्य काम-कृत्य से हुआ था।।

जब मनुष्य कोई ऐसा काम कर बैठता है जिसके कारण उसका मन ग्लानि से भर जाता है तो उसे मानसिक बेचैनी हो जाती है। जिस व्यक्ति की नैतिक-भावना जितनी प्रबल होती है उसकी विस्मृत आत्म-ग्लानि की भावना भी उतनी ही प्रबल होती है। किशोर बालक कभी-कभी हस्तमैथुन करते हैं और वीर्यपात होने पर वे भारी आत्मग्लानि की अनुभूति करते हैं। वे इस प्रकार की आत्म-ग्लानि की स्मृति को दबाने की चेष्टा करते हैं। आत्मग्लानि की स्मृति इस प्रकार के प्रयत्न से दब जाती हैं। पर अब उन्हें किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। अकारण भय, चिन्ता तथा अनेक प्रकार के शारीरिक रोग इससे हो जाते हैं। किसी घृणित कार्य के करने से किसी प्रकार की घृणा उत्पन्न करने वाला रोग शरीर में पैदा हो जाता है। कभी-कभी कामवासना सम्बन्धी कुचेष्टाओं से एक्जिमा, कोढ़ अथवा वमन की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये बीमारियाँ दबी हुई प्रबल भावपूर्ण अनुभूतियों को प्रकाशित करती हैं। मानसिक व्यथा किस प्रकार शारिरीक रोग में प्रकाशित होती है, इसका एक सुन्दर उदाहरण ब्राउन महाशय की 'ले एनालैसिस" नामक पुस्तक में पाया जाता है—

एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को अपनी स्त्री के चरित्र पर यह सन्देह हो गया कि वह व्यभिचारिणी हो गई है। यह व्यक्ति इस सन्देह के कारण मन ही मन कुढ़ने लगा। पर समाज में अपनी प्रतिष्ठा के कारण वह उसे तलाक भी नहीं दे सकता था। इस तरह जब वह कई दिनों तक मन ही मन दुःखी होता रहा तो वह अन्धा हो गया। वास्तव में वह अपनी स्त्री को देखना नहीं चाहता था। उसका देखना आँख के होते हुए रोकना कठिन था, अतएव उसकी आँख ही जाती रही—"मूँदहु आँख कतहुँ कोई नाहीं।

जब बालकों का जीवन सन्तोषमय नहीं रहता तो उन्हें अनेक प्रकार

की बीमारियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार जिन स्त्रियों का जीवन किसी प्रकार के मानसिक दुःख से व्याप्त रहता है, उन्हें अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी मनुष्य को शारीरिक रोग किसी अप्रिय कर्तव्य से बचने के लिये उत्पन्न हो जाता है। जो विद्यार्थी परीक्षा में नहीं बैठना चाहता पर उससे जी बचाना भी कायरता समझता है वह परीक्षा के समय बीमार हो जाता है। रोग का सदा आवाहन करनेवाले व्यक्ति को रोग आ जाता है। इस प्रकार कितने ही रोग पाले हुए होते हैं। जब रोगी के विचारों में परिवर्तन हो जाता है अथवा उसके दलित भावों का रेचन हो जाता हो जाता है तो रोग नष्ट हो जाता है। इस प्रकार का फ्रायड महाशय का "अपनी" "इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको एनालासिस" नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

दो किशोर बालकों में आपस में बड़ा ही प्रेम था। वे एक दूसरे के बिना क्षण भर नहीं रहते थे। वे एक साथ खेलते, टहलने, जाते, भोजन करते और एक दूसरे के पास सोते भी थे। इस प्रेम का अन्तिम परिणाम समलिंगी काम-कृत्य हुआ। इसके बाद उनका आपस का सद्भाव जाता रहा। एक मित्र दूसरे को अपना शत्रु मानने लगा। जब यह व्यक्ति युवक हो गया तो उसके मन में अनेक प्रकार के घृणा के विचार उसके पुराने मित्र के सम्बन्ध में आते रहे। यह स्वयं सरकारी डाक्टर हो गया था। जर्मन युद्ध के समय उसे विश्वास हो गया कि उसका मित्र देश के प्रति षड्यंत्र करता रहता है। इसकी शिकायत उसने सरकारी अफसरों से भी की, अतएव उसकी जाँच की गई। पर उसका आरोपण भ्रममात्र सिद्ध हुआ। उसने एक दिन अपने मित्र को मार डालने की ठान ली और इस विचार से भरी पिस्तौल लेकर उसके पास गया। पर जब उसने अपने मित्र के ऊपर पिस्तौल दागने के लिये उसका कुन्दा दबाया तो पिस्तौल से गोली न निकली और उसके हाथ में लकवा हो गया। इस लकवा के कारण पिस्तौल छूटकर जमीन पर गिर पड़ी और वह स्वयं बेहोश होकर गिर पड़ा। उसे मानसिक चिकित्सक के पास ले जाया गया। उसके हाथ का लकवा तब तक नहीं गया जब तक कि उसके मानसिक भावों का रेचन नहीं हो गया।

जब मनुष्य अपने दलित भावों को स्वीकार नहीं करता तो ये भाव किसी न किसी प्रकार के शारिरीक रोगों के रूप में प्रकाशित होते हैं। इन रोगों के द्वारा दलित मानसिक भाव को समझना संभव है। दलित मानसिक भाव किस प्रकार शारीरिक रोग में प्रकाशित होता है इसका एक सुन्दर उदारण हेनरी फिशर महाशय ने अपनी "एन इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकालाजी" नामक पुस्तक में दिया है—

एक अंग्रेज सिपाही अपने साथियों के साथ अपनी बहादुरी की बहुत डींग मारता था। एक बार जब वह लड़ाई गया था, उसके सामने एक तोप का गोला गिरा और बड़ी आवाज के साथ फट पड़ा। तोप के गोले से तथा उसकी आवाज से उस सिपाही की कोई क्षति नहीं हुई। पर उसका मुँह उस घटना को देखकर खुलपड़ा। अब उसका मुँह बन्द नहीं होता था; उसके मुँह में लकवा हो गया था। इस घटना का उल्लेख करते हुए मनोविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् मेगडूगल महाशय ने बताया था कि उस व्यक्ति का मुँह असाधारण भय के कारण खुल पड़ा था। पर मनोविश्लेषण से दूसरे ही प्रकार की स्थिति ज्ञात हुई। वह व्यक्ति पहले से डरपोक था और अपने डर को स्वीकार नहीं करता था। अपने डर को छिपाने के लिये ही वह अनेक प्रकार की डींगे हाँकते रहता था। तोप का गोला फटने की घटना ने उसके डर को प्रगट कर दिया। जब तक उसने अपने डर को स्वीकार नहीं किया उसका लकवा नहीं गया। जिस व्यक्ति को ज्ञात डर रहता है उसे डर के कारण लकवा नहीं होता। लकवा ऐसे ही व्यक्ति को होता है जो अपने डर को स्वीकार नहीं करना चाहता। वह डर की घटना को भूल जाता है और बड़ी कठिनाई से यह घटना स्मृति पटल पर लाई जाती है।

लड़ाई में लकवा की बीमारी साधारण डर से डरनेवाले लोगों को नहीं होती, वरन् वह अपनी बहादुरी की डींग मारनेवाले लोगों को होती है। जिन लोगों को भीतर से डर रहता है वे ही अपनी बहादुरी की दूसरे से डींग मारते हैं। शारीरिक रोग उनसे आत्म-स्वीकृत्ति कराने के लिये उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति आत्मविकास की ओर ले जाती है इस आत्म-विकास से मनुष्य में आत्म-विश्वास की वृद्धि होती, उसकी कार्य क्षमता

बढ़ती है और उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती है परंतु इस प्रकार के आत्म-विकास का होना तभी संभव है जब कि मनुष्य अपने मन की वास्तविक स्थिति को जाने और उसको ध्यान में रखते हुए आचरण करे। जो व्यक्ति अपनी आन्तरिक स्थिति को भूल जाता है और उसे स्वीकार करने से मुख मोड़ता है अथवा उस पर आवरण डालता है उसे रोग के द्वारा बाध्य होकर स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है। चेतन मन की अत्यधिक निर्भीकता अचेतन मन की विपरीत परिस्थित की सूचक होती है। इससे अचेतन मन का संचित भय बाहर नहीं हो पाता। फिर वह शारीरिक रोग में प्रगट होता है। इसी प्रकार अन्य मानसिक विकार भी उनके ऊपर आवरण डालने के फलस्वरूप मानसिक और फिर शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं।

चौथा प्रकरण

मानसिक ग्रन्थियाँ

मानसिक ग्रन्थियों का स्वरूप

मन का स्वरूप समझाते समय यह बताया गया है कि हमारे मन के दो भाग हैं—एक चेतन, और दूसरा अचेतन। मनुष्य के चेतन मनमें उसके सामान्य विचार और क्रियायें होती हैं। किसी प्रकार की उद्वेगपूर्ण अनुभूति भी इसी मन में होती है और हमारा सांसारिक व्यवहार भी मन के इसी भाग के द्वारा होता है। हमारा अचेतन मन हमारे पुराने अनुभव के संस्कारों का खजाना है। हमने जो कुछ कभी अनुभव किया है वह अपना संस्कार हमारे भीतरी मन के ऊपर छोड़ जाता है। जब हम किसी पुरानी घटना को स्मरण करने लगते हैं तो हम अपने पुराने मानसिक संस्कारों में उसे खोजते हैं। हमारे अनुभव के संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं होते। वे हमारे स्वभाव के अंग बन जाते हैं और उनके कारण हमारे व्यवहारो में विशेष प्रकारका परिवर्तन हो जाता है। अपने जीवन की कितनी ही महत्वपूर्ण घटनायें हमें याद नहीं रहतीं, पर वे अपना संस्कार हमारे मन पर डाले रहती हैं। हम कभी किसी विशेष बात को स्मृति-पटल पर लाना चाहते हैं पर याद नहीं कर पाते, पीछे वही बात याद आ जाती है। यदि कोई मनुष्य अपने आपको किसी विशेष प्रकार का निर्देश देकर सो जाय तो वह उस निर्देश के अनुसार उठ कर काम करने लगेगा। विशेष समय पर उठने का निर्देश देने से व्यक्ति उसी समय पर उठ जाता है।

इस प्रकार की घटनाओं से यह प्रमाणित होता है हमारे पुराने अनुभव के संस्कार जड़ पदार्थों के संस्कार के समान निष्क्रिय नहीं हैं। वे हमारे अनजाने भी कुछ न कुछ काम करते रहते हैं। जब हम सोते रहते हैं तो हमारे

मन का एक भाग जागता रहता है और वह विशेष प्रकार के काम करता रहता है। हमारी जाग्रतावस्था में भी हमें अपने सम्पूर्ण मन का ज्ञान नहीं रहता। मन का एक भाग एक काम करता रहता है और दूसरा भाग दूसरा काम करता है। मन की स्वस्थ अवस्था में मन के विभिन्न भागों के कामों में सामञ्जस्य रहता है। जानबूझ कर किया गया काम और अपने आप किये हुए काम में समता रहती हैं अर्थात् मनुष्य का चेतन और अचेतन मन एक दूसरे की सहायता करते हैं। मनुष्य को अपने कार्य में सफलता तभी तक मिलती है जब तक उसके मन के दोनों भागों में अधिकतर एकता रहती है। ऐसी अवस्था में उसकी स्मृति ठीक रहती है और उसका स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। जब मन के दोनों भागों में विषमता उत्पन्न हो जाती है तो अचेतन और चेतन मन की क्रियायें विभिन्न प्रकार की होती हैं और उनका आपस में विरोध रहता है। अब प्रश्न यह है कि वह विरोध कैसे उत्पन्न हो जाता है। इसके समझने के लिये मानसिक ग्रन्थि का रूप समझना आवश्यक है।

हमारे जीवन में बहुत सी घटनायें ऐसी होती हैं जो हमें अच्छी लगती हैं और बहुत सी ऐसी होती है जो हमें अप्रिय लगती है। अप्रिय घटनाओं को हम भूल जाना चाहते हैं अतएव इस प्रकार की घटनाओं की स्मृति का दमन करते हैं इस प्रकार के दमन से मानसिक ग्रन्थि की उत्पत्ति होती है। यह मानसिक ग्रन्थि ही स्वप्न तथा अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण होती है। मनुष्य का अचेतन मन इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों का निवास स्थान बन जाता है। ये ग्रन्थियाँ एक दूसरे से मिल कर कभी कभी बहुत प्रबल हो जाती हैं और चेतना में प्रकाशित होने के लिये भारी प्रयत्न करने लगती हैं। इन्हें दबाये रखने के लिये मनुष्य की चेतना को भी विशेष प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है। अपनी मानसिक ग्रन्थियों को दबाने के प्रयत्न से मनुष्य के चेतन मन की बहुत सी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण वह कभी कभी भारी थकावट की अनुभूति करता है। वह इस थकावट का कारण नहीं जानता। जब किसी प्रकार की दुर्घटना ऐसे व्यक्ति के जीवन में घटित हो जाती है जिसके मन में पहले से ही मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बना है तो उसकी चेतना शक्तिहीन हो

जाती है और फिर मनुष्य विक्षिप्त अवस्था में हो जाता है, अर्थात् उसकी दबी हुई मानसिक ग्रन्थियों को वह फिर दबा नहीं पाता और वे चेतना की सतह पर आकर मनुष्य के विवेक को नष्ट करके मनमानी करने लगती हैं।

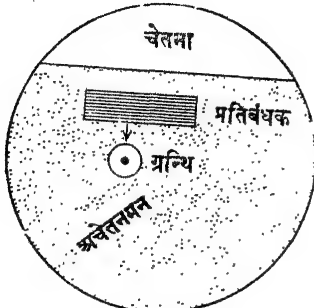
उपर्युक्त सिद्धान्तों को बाजू के पृष्ठ में दिये गये चित्र से स्पष्ट किया गया है—

चित्र नं० १ में मन की ग्रन्थि की पैदा होने की अवस्था दर्शायी है। यहाँ ग्रन्थि और प्रतिबंध के कार्य को दर्शाया है। यह ग्रन्थि प्रतिबंधक के कारण चेतना की सतह पर नहीं आ सकती। मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों ने प्रतिबंधक को 'सेन्सर' कहा है। यह प्रतिबंधक किसी भी ऐसी घटना की स्मृति तथा भावना को मन की सतह पर नहीं आने देता जिससे मनुष्य को किसी प्रकार का दुःख हो। यह ग्रन्थि किसी ऐसी वासना से सम्बन्ध रखती है जो इस समय भी वर्तमान है। ग्रन्थि के दमन होने से वह वासना और भी प्रबल हो जाती है। (वास्तव में वासना ही ग्रन्थि की उत्पत्ति का कारण होती है और उसे बल भी वासना से मिलता है) ?

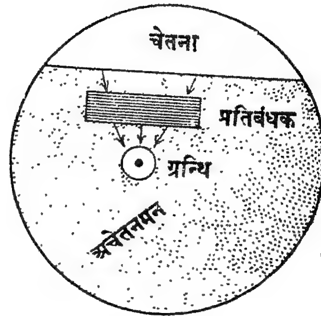
चित्र नं० २ में हम ग्रन्थि के दबाये रखने में चेतना के कार्य को देखते हैं। यह कार्य अज्ञात रूप से होता है। प्रतिबंधक के बल को बढ़ाने के लिये मनुष्य को अपनी चेतना में ग्रन्थि के प्रतिकूल शक्ति को बढ़ाना पड़ता है। मान लीजिये, मानसिक ग्रन्थि कामवासना से सम्बन्ध रखती है तो मनुष्य अपने जीवन में साधु बनने की चेष्टा करेगा और किसी प्रकार की कामवासना सम्बन्धी बातों की कटु आलोचना करेगा। यदि यह ग्रन्थि लोभ सम्बन्धी है तो वह व्यक्ति किसीका पैसा देने में बड़ा सतर्क रहेगा। जिन व्यक्तियों को बचपन में चोरी करने के कारण भारी आत्मग्लानि होती हो उन्हें एक पैसा किसी का अपने पास छूट जाने पर भारी अशान्ति हो जाती है।

चित्र नं० ३ में मानसिक ग्रन्थि के विकृत अथवा गुप्त मार्ग से प्रकाशित होने की स्थिति दर्शायी गई है। जब मानसिक ग्रन्थि अपने प्रकाशन का गुप्त अथवा विकृत मार्ग ग्रहण करती है तो स्वप्न, सांकेतिक चेष्टायें और साधारण मानसिक तथा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जिस मनुष्य के मन में जितना अधिक मानसिक ग्रन्थि का दमन रहता है अथवा उनकी संख्या

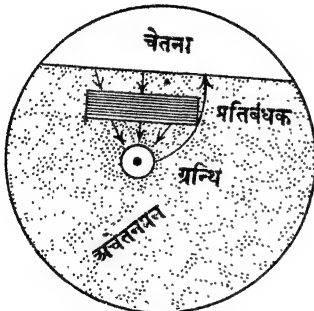
मानसिक ग्रन्थि की चार अवस्थायें



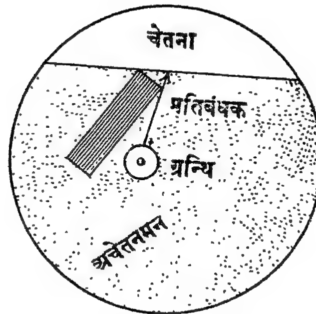
चित्र नं० १



चित्र नं० २



चित्र नं० ३



चित्र नं० ४

गोले का सफेद भाग चेतन मन का सूचक है ; धुँधला भाग अचेतन मन का और उसके भीतर का चतुर्भुज प्रतिबंधक का सूचक है। बड़ा गोला सम्पूर्ण मन को और छोटा गोला मानसिक ग्रन्थि को दर्शाता है।

अधिक रहती है उसके स्वप्न भी उतने ही जटिल होते हैं और उसके व्यवहारों में भी उतनी ही विलक्षणता पाई जाती है।

चित्र नं० ४ में मन की वह स्थिति बताई गई है जब मानसिक ग्रन्थि का बल इतना बढ़ जाता है कि उसे प्रतिबंधक सम्हाल नहीं सकता। ऐसी अवस्था में वह प्रतिबंधक को एक तरफ हटाकर चेतना को तोड़ते-फोड़ते बाहर आ जाती है। यह विषम मानसिक रोगों की अवस्था है। सम्पूर्ण पागलपन ऐसी ही अवस्था में होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिये मानसिक ग्रन्थियों का न बनने देना ही वांच्छनीय है। यदि एक बार मानसिक ग्रन्थियाँ बन जायँ तो फिर उनका नष्ट करना बड़ा कठिन काम हो जाता है। जब कभी हम किसी व्यक्ति के आचरण में किसी प्रकार की विलक्षणता देखें तो हमें उसके मन में मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति का सन्देह करना उचित है। द्वेष की मानसिक ग्रन्थि की अवस्था में मनुष्य अपनी चेतनावस्था में अत्यधिक मैत्री भावना दर्शाता है, कामवासना की मानसिक ग्रन्थि की अवस्था में वह साधुता दर्शाता है, मानसिक गन्दगी की भावना से पीड़ित व्यक्ति बाहर बहुत सफाई रखता है, प्रतिदिन कई बार अपने शरीर और रहने के कमरे को धोता है। जब मनुष्य की मानसिक ग्रन्थि को चेतना के ऊपर प्रकाशित होने दिया जाता है तो मनुष्य का सामान्य व्यवहार उच्चकोटि का नहीं रहता, पर उसकी मानसिक विषमता नष्ट हो जाती है। अति सुशील बालक पहले जैसे सुशील नहीं रहता, वह कुछ उद्दण्ड हो जाता है; पर उसकी दबी हुई लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति का भी रेचन हो जाता है और इसके कारण उसे ये मानसिक रोग (जैसे आत्महत्या करने की भावना आदि) नहीं होते जो अन्यथा होते हैं।

मानसिक ग्रन्थियों के प्रकार

१ (मानसिक ग्रन्थियाँ विकृत स्थायीभाव हैं। जिस प्रकार मनुष्य के स्थायीभाव उसके कार्यों के स्रोत होते हैं, इसी प्रकार उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ भी उसके कार्यों की स्रोत होती हैं) मनुष्य अपने स्थायीभाव स्वीकार करता

है पर वह मानसिक ग्रन्थि को स्वीकार नहीं करता और उसे भुलाने की चेष्टा करता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी माँ के प्रति अथवा सन्तान के प्रति प्रेम होता है; यह स्थायीभाव का रूप ले लेता है। इसी प्रकार वह अपने आप को नुकसान पहुँचानेवाले व्यक्ति के प्रति घृणा का स्थायी भाव रखता है। इन स्थायी भावों को मनुष्य स्वीकार करता है। पर यदि किसी व्यक्ति को अपने पिता के प्रति अथवा पिता को पुत्र के प्रति घृणा भाव हो तो वह स्वीकार नहीं करेगा। ऐसी अवस्था में यह भाव मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है।

मानसिक ग्रन्थि कई प्रकार की होती हैं—कोई मानसिक ग्रन्थि शोक के भाव से सम्बन्ध रखती है तो कोई घृणा से, कोई अपमान से तो कोई आत्म-ग्लानि से। प्रत्येक प्रकार की मानसिक ग्रन्थि किसी-न-किसी प्रकार की दुःखद घटना से सम्बन्ध रखती है। यह घटना ऐसी होती है जिसे मनुष्य स्मरण नहीं करना चाहता। यहाँ कुछ मानसिक ग्रन्थियों के तथा उनकी प्रति-क्रियाओं के उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

एक सामान्य मानसिक ग्रन्थि शोक की मानसिक ग्रन्थि है। जब किसी व्यक्ति का कोई ऐसा सम्बन्धी मर जाता है जिससे वह बहुत ही प्यार करता था तो उसकी स्मृति बड़ी दुःखद हो जाती है। शोकातुर व्यक्ति इस घटना को भुलाने की कोशिश करता है। पहले तो इस प्रकार की घटना भुलाना बड़ा कठिन होता है किन्तु यदि कोई व्यक्ति उसे भूलने में सफल हो जाय तो एक ओर उसकी सामान्य चेतना में शोक का लेशमात्र नहीं रहता और दूसरी ओर वह मानसिक बीमारी के रूप में प्रगट होने लगती है। हमने पिछले प्रकरण में बरनार्ड हार्ट महाशय द्वारा वर्णित आइरीन नामक महिला के बेसुध हो जाने की बीमारी का उल्लेख किया है। यह महिला अपनी बीमारी की अवस्था में अपनी माँ की मृत्यु के दृश्य का अभिनय किया करती थी। इस अभिनय के समय वह सामान्य वातावरण के विषय में बेसुध हो जाती थी और जब फिर होश में आती थी तो अपनी बेहोशी की बातों को बिलकुल भूल जाती थी। उसकी साधारण अवस्था

शोक की मानसिक ग्रन्थि

में जब कोई उससे उसकी माता के विषय में बातचीत करता तो वह बिना किसी प्रकार के शोक का अनुभव किये उसके विषय में चर्चा करती थी। उसकी सामान्य चेतना से शोक का लोप हो गया था, पर वह अब पूरे वेग के साथ उसके अचेतन मन में समा गया था। इसके परिणामस्वरूप यह शोक कभी-कभी चेतना के प्रतिबंध को अलग करके एकाएक बाहर आ जाता था।

जिस प्रकार शोक की मानसिक ग्रन्थि मनुष्य की विक्षिप्त अवस्था का कारण बन जाती है इसी प्रकार भय की मानसिक ग्रन्थि भी उसकी विक्षिप्त अवस्था का कारण बन जाती है। इस प्रसंग में लेखक के एक मनोवैज्ञानिक मित्र द्वारा हाल के पत्र में लिखा हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेनीय है। यह मित्र (श्रीकृष्ण कुमार वर्मा हेडमास्टर म्यूनिसिपल हाईस्कूल, गोंदिया) लिखते हैं:—

भय की मानसिक ग्रन्थि

"मेरे घर के पास एक नाई रहता है। उसे चार वर्ष हुए सोते समय कभी-कभी चार पाँच माह में एकाएक बेहोशी आ जाती थी। वह नींद में रहता था। हाथ पाँव अकड़ जाते थे, दाँत बँध जाते थे तथा जीभ भी दाँतों के बीच आ जाने से कट जाती थी। उसने कई बार डाक्टरों को भी बताया पर कुछ लाभ न हुआ। मैं उससे उसकी जीवन की घटनाओं को पूछता रहता था। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मकान के सामने एक आम का पेड़ था। कुछ लोग कहा करते थे कि उसमें भूत रहता है। एक दिन वह उस पेड़ के पास लेटा हुआ था। उसे एकाएक ऐसा ज्ञात हुआ कि जैसे पेड़ से उसकी ओर रेत फेंकी गई है। उसने आवेश में आकर पेड़ को जूता मारा। इस घटना के चार पाँच दिन बाद पहले-पहल उसे बेहोशी आई। वह न तो भूत से डरता था और न यही समझता था कि इसका कारण भूत का डर होगा। उसे कुछ भी ज्ञात नहीं रहता था।

मैं इस सम्बन्ध में विचार करता रहा। एक दिन जब वह संध्या समय मेरे पास बैठा था मैं उससे आम के पेड़ के सम्बन्ध बातचीत करने लगा। मैंने कहा, "भाई, आम तो बड़ा अच्छा वृक्ष है, गरमी में गाँव में अमराई में

बहुत ठंडक रहती है, तथा आम के फल भी स्वादिष्ट हैं। हम सब आम बहुत पसंद करते हैं। मेरा इतना कहना था कि उसे बेहोशी सी आ गई, पसीना निकलने लगा और उसका चेहरा भी घबड़ाया हुआ सा लगने लगा। उसका कहना था कि इसके पूर्व ऐसा जाग्रतावस्था में पहले कभी नहीं हुआ था। मैंने आम के गुण बताने की बात जारी रखी और वह एकदम ऐसा प्रदर्शित करने लगा जैसे उसे भूत सवार हो गया हो। उसका शरीर अकड़ गया। उसने मुझ पर प्रहार भी किया। यह सब एक मिनट तक रहा। मैंने उसका ध्यान अब अन्य बातों की ओर आकर्षित किया। उसे फिर लगभग १५ मिनट में शान्ति मिली।"

उपर्युक्त उदाहरण में नाई को भूत का भय था। वह इस भय को स्वीकार नहीं करना चाहता था। इसलिए वह असाधारण साहस को दिखाता था। जब कल्पना में उसे कोई रेत फेंकते हुए दिखाई दिया तो उसने आम को जूता मारा। यह उसकी झूठी निर्भीकता की पराकाष्ठा थी। इस समय उसका आन्तरिक मन का डर बेहद बढ़ गया था। पर वह उसे स्वीकार नहीं करता था। अतएव उसे नींद की अवस्था में डर की अनुभूति हुई। जब वह जागता था तो फिर अपने डर को भूल जाता था। जाग्रत अवस्था में बार-बार आम के दृश्य का चिन्तन करने से उसकी मानसिक ग्रन्थि खुल पड़ी और उसकी डर की भावना चेतना के सतह पर आ गई। अब तो उसे स्वीकार करना ही पड़ा कि वह डर गया था। इस मित्र ने अपने युक्त पत्र लिखने के पश्चात् अपना प्रयोग जारी ही रक्खा वह जब कभी मौका पाता धीरे धीरे भावपूर्ण भाषा में नाई से आम के दृष्य और उसके गुणों की चर्चा करता और इस चर्चा को सुनकर नाई उत्तेजित हो उठता था। परन्तु धीरे धीरे यह उत्तेजना कम होती गई और फिर रोगी पूर्ण स्वस्थ हो गया।

लड़ाई में लड़नेवाले कितने ही सिपाहियों को लड़ाई में मर जाने अथवा अंग भंग हो जाने का डर रहता है। जिस व्यक्ति के आन्तरिक मन में जितना अधिक डर होता है वह ऊपर से उतना ही निर्भीक और बहादुर दिखाई देता है; वह कभी कभी अपनी निर्भीकता की डींग मारता है। जब कोई व्यक्ति अपनी निर्भीकता की डींग मारे तब प्रायः समझना चाहिये कि उसके मन में

डर की ग्रन्थि उपस्थित है। यह डर की मानसिक ग्रन्थि कभी-कभी विस्फोट होकर बाहर निकल आती है। जब मनुष्य की चेतना को किसी विशेष प्रकार की चिन्ता में पड़ना पड़ता है अथवा जब कोई असाधारण घटना जीवन में घटित हो जाती है तो चेतना की शक्ति मानसिक ग्रन्थि को दबाने में खर्च होती रहती है जिससे उसकी कमी हो जाती है और यह मानसिक ग्रन्थि किसी प्रकार की विक्षिप्तता अथवा शारीरिक बीमारी में प्रकट हो जाती है। मान लीजिये, किसी भय की मानसिक ग्रन्थिवाले सिपाही के पास तोप का गोला फट जाय तो संभव है कि वह सिपाही एकाएक किसी प्रकार के लकवा से पीड़ित हो जाय अथवा पागल हो जाय। पहले एक उदाहरण में बताया गया है कि एक सिपाही के पास तोप का गोला फटने से उसका मुँह खुला ही रह गया था। फिशर महाशय ने भी एक सिपाही का उदाहरण दिया है जो उल्लेखनीय है। यह फ्रांस में अपने अफिसर की चिट्ठी लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहा था। बीच में एक तोप का गोला फट गया। तोप का गोला फटने से वह अपने आपको ही भूल गया और उसके अंगों में लकवा हो गया।

घृणा की मानसिक ग्रन्थि

जब किसी व्यक्ति से घृणा हो जाती है तो वह मनुष्य में विशेष प्रकार की विक्षिप्तता उत्पन्न कर देती है। घृणा की मानसिक ग्रन्थि उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य अपनी घृणा को भूलने की चेष्टा करता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी मनुष्य दूसरे लोगों को प्यार करता हुआ भी दिखाई देता है। पर उसका इस प्रकार का व्यवहार उसकी मानसिक ग्रन्थि को प्रबल बना देता है, इसके कारण उसे मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रसंग में हालिंगवर्थ महाशय का 'एन आउट लाइन आफ एबनारमल साईकोलाजी' में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है (यह उदाहरण उन्होंने ने हेथरमेन महाशय से लिया है—

एक मानसिक रोग से पीड़ित महिला मेरे पास लाई गई। इस महिला को वमन की बीमारी थी। पहले तो यह बीमारी कभी-कभी हो जाती थी, पीछे उसे वह बीमारी बार बार होने लगी। उसकी सभी प्रकार की डाक्टरी चिकित्सा की जा चुकी थी, पर उसकी बीमारी नहीं गई। रोगी के मनोविश्लेषण

से पता चला कि उसके माँ-बाप ने उस महिला का विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना निश्चित किया था जो देखने में उसे बहुत बुरा लगता था। उसमें रूप या सौन्दर्य बिल्कुल न था। महिला ने इस शादी से इन्कार किया पर माँ-बाप अपनी जिद्द पर अड़े रहे। फिर माता-पिता के साथ कई प्रकार की बहस, झगड़ा और तनातनी हुई। वह व्यक्ति उसे और भी बुरा लगने लगा। एक रात को वह महिला के पास आया। उसे वमन होते हुए जैसा ज्ञात हुआ। जब वह व्यक्ति चला गया तो उसे वमन हुआ। दूसरी रात फिर जब उसके आने का समय आया तो उसने उस व्यक्ति के आने पूर्व ही कय कर डाली। इसके बाद जब कभी वह व्यक्ति आता अथवा उसके आने की संभावना होती तो वह महिला कय कर डालती। पीछे उसके विचार मात्र से उसे वमन हो जाता था। *

यहाँ हम देखते हैं कि घृणा की मानसिक भावना वमन की बीमारी में परिणत हो गई।। जब किसी युवती का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी व्यक्ति से हो जाता है तो उसका बुरा परिणाम होता है। वमन की बीमारी का एक उदाहरण लेखक के अनुभव में भी हाल में ही आया। रोगी २० वर्ष की महिला है। इसका विवाह एक वर्ष पूर्व एक ऐसे व्यक्ति से हो गया जिससे वह अपरिचित थी। वह स्वयं एक दूसरे युवक को प्यार करती थी। महिला पढ़ी लिखी है और विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हो गया। विवाह के बाद वह महिला अपने पति के पास गई। इसके बाद उसे वमन की बीमारी हो गई। इस बीमारी के कारण उसका वजन ११२ पौंड से घटकर ७८ पौंड हो हो गया था।†

एक दूसरी महिला को अपनी इच्छा के विरुद्ध शादी होने से हाथ पैर में लकवा जैसा रोग हो गया। उसे अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ तब तक होती रहीं जब तक उसके पति ने उसे स्वतन्त्र जीवन रहने की अनुमति

---

* *An Outline of Abnormal Psychology.*
—Edited by Gardner Murpy P. 169

† निर्देश विधि के प्रयोग के द्वारा इस महिला की वमन की बीमारी नष्ट की जा सकी और अब यह पूर्ण स्वस्थ है।

न देदी, और अपना दूसरा विवाह न कर लिया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जितना ही रोगी अपने आन्तरिक मानसिक भावों को छिपाने की चेष्टा करता है उसके रोग की जटिलता उतनी ही बढ़ती है।

किसी प्रकार के अपमान अथवा निराशा होने की घटना भी मानसिक ग्रन्थि की उत्पत्ति करती है। मनुष्य इस प्रकार की घटना को भुलाने की चेष्टा करता है, पर मानसिक ग्रन्थि मनुष्य के विलक्षण प्रकार के विचारों अथवा व्यवहारों में प्रकाशित हो जाती है। अपमान की मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रिया स्वरूप भूलने की एक सुन्दर घटना का उल्लेख डाक्टर फ्रायड महाशय ने अपनी "साइकोपैथलाजी" नामक पुस्तक में दिया है।

अपमान की मानसिक ग्रन्थि

एक व्यापारी अपने साथ व्यापार करने वाले व्यापारी का नाम बार-बार भूल जाता था। जब कभी वह उसे पत्र लिखता तो उसे उसका नाम हर बार अपने मुनीम से पूछना पड़ता। यह व्यापारी बहुत दिन से दूसरे व्यापारी से परिचित था और कई बार उसे पहले पत्र लिख चुका था। उस समय उसे कभी इस व्यापारी का नाम नहीं पूछना पड़ता था। व्यापारी की इस विलक्षण विस्मृति का कारण ढूँढ़ने से पता चला कि उक्त व्यापारी के मन में दूसरे व्यापारी के प्रति द्वेष भावना की ग्रन्थि बन गई थी, जिसका सम्बन्ध पहले व्यापारी के जीवन की एक बहुत संवेगपूर्ण घटना से था। पहला व्यापारी एक ऐसी महिला को प्यार करता था जिसे दूसरा भी करता था। इस महिला ने पहले से विवाह नहीं किया और दूसरे से विवाह कर लिया। पहले व्यापारी को यह अपमान-जनक घटना थी। वह इसकी स्मृति भुलाना चाहता था, अतएव जिस व्यक्ति से उस महिला का विवाह हो गया वह उसका नाम भूल जाता था। कभी-कभी इस प्रकार की ग्रन्थि के परिणाम स्वरूप व्यक्ति ऐसी दूसरी वस्तुओं को भी भूल जाता है जिनका उक्त घटना से किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। फ्रायड महाशय ने यहाँ पर उक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं को नहीं बताया।

दबी मानसिक ग्रन्थि विशेष प्रकार की विचार-धारा पैदा कर देती है। इसके दो सुन्दर उदाहरण श्री हार्ट महाशय ने अपनी "साइकोलाजी आफ इनसेनिटी" नामक पुस्तक में दिये हैं। एक रविवार-स्कूल के शिक्षक को यह

विचार आया कि धर्म का आधार व्यर्थ है और अनीश्वरवाद ही प्रमाणित मत है। उसका यह मत इतना प्रबल हो गया कि वह अपनी धर्म-शिक्षक की नौकरी नहीं कर सकता था। उसने धर्म पुस्तक में अनीश्वर के प्रमाण पा लिये। वह अनीश्वर को इतनी कुशलता से सिद्ध करता था कि उसकी युक्तियाँ सुनकर लोग दंग रह जाते थे। यदि उसकी युक्तियों में कोई दोष दिखाया जाता था तो वह उन दोषों को समझने की चेष्टा नहीं करता था। उसकी मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से पता चला कि ईश्वरवाद के प्रति उसकी घृणा की जड़ में एक मानसिक ग्रन्थि थी। यह व्यक्ति एक महिला को प्यार करता था। इस महिला को एक दूसरा व्यक्ति भी प्यार करता था। वह भी रविवार के स्कूलों का धर्म-शिक्षक था। उस महिला ने इससे शादी न करके उस दूसरे धर्म-शिक्षक से शादी की। जब से यह घटना घटी तब से उक्त धर्म-शिक्षक की मनोवृद्धि में विशेष प्रकार का परिवर्तन हो गया। एक ओर वह अपमानसूचक घटना को भूल गया और दूसरी ओर धर्म-शिक्षा का ही विरोधी बन गया। जिस व्यक्ति के प्रति घृणा हो उसके द्वारा कही गई बात मिथ्या दिखाई देती है, उसका मत झूठा और उसकी युक्तियाँ दूषित दिखाई देती हैं।

एक दूसरे व्यक्ति को एक गिरजाघर के घंटे की आवाज अच्छी नहीं लगती थी। वास्तव में घटे की आवाज सुन्दर ही थी। उससे अधिक बात-चीत करने से पता चला कि उसकी घृणा न केवल घंटे की आवाज से ही, वरन् गिरजाघर में होने वाले गाने आदि से भी थी और उसके पादरी से से भी वह घृणा करता था। उसके विचार से उस गिरजाघर का पादरी बड़ी भद्दी कवितायें बनाता था। अब तो उक्त व्यक्ति को मानसिक धारणा का कारण ज्ञात हो गया। वह व्यक्ति स्वयं कविता करता था और जब इसकी कविता की उस पादरी को कविता से तुलना की गई थी तब लोगों ने पादरी की कविता को ही उच्च कोटि का माना था। इसी कारण पादरी से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें उक्त व्यक्ति को बुरी लगने लगीं।

अपमान सूचक घटना, मानसिक ग्रन्थि बनकर भारी मानसिक अथवा शारीरिक रोग में प्रकाशित हो सकती है। इस प्रकार के रोग का एक उदाहरण श्री हेडफील्ड महाशय ने अपनी "साइकोलाजी एण्ड मारल्स" नामकपुस्तक में दिया है·

एक पैंतालीस वर्ष के जर्मनी के बर्लिन नगर के बैरिष्टर को कभी-कभी अपने पैर में भारी पीड़ा हो जाती थी। इस का बहुतेरा इलाज कराया गया पर वह नहीं मिटी। पैर की डाक्टरी परीक्षा करने पर उसका कोई कारण नहीं मिला। इस बैरिष्टर ने पीछे मनोवैज्ञानिक की शरण ली। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उक्त बैरिष्टर को उसी समय पैर की पीड़ा होती थी जब वह कोई मुकदमा हार जाता था अथवा किसी अन्य कारणवश किसी निराशा का अनुभव करता था। इस प्रकार की परिस्थिति का कारण ढूँढ़ने से एक ऐसी मानसिक ग्रन्थि का पता चला जो बैरिष्टर के मन में उसकी बारह वर्ष की अवस्था में पड़ गई थी। यह ग्रन्थि उक्त व्यक्ति के अपमान की घटना से सम्बन्ध रखती थी।

जब उक्त व्यक्ति बारह वर्ष का बालक था तब स्कूल जाते समय उसके सामने एक दुर्घटना हो गई। उसने देखा कि एक मनुष्य के पैर के ऊपर से बग्गी निकल गई है और उसका पैर पहिये से बुरी तरह कुचल गया है। वह देर तक खड़े हो कर उस व्यक्ति के कुचले हुये पैर को देखते रहा। इसके कारण उसे स्कूल पहुँचने में देर हो गई। स्कूल देर में पहुँचने के लिये वह मास्टर के द्वारा डाँटा गया। वह एक प्रतिभाशाली बालक था। उसका डाँटा जाना उसे भारी दुःखद हो गया। इधर रास्ते में देखी गई घटना के कारण भी उसका मन उद्विग्न हो गया था। इस कारण से वह अपना ध्यान उस दिन पढ़ाई में ठीक से न लगा सका। जो प्रश्न उससे अध्यापक पूछते थे उनका ठीक से वह उत्तर नहीं दे पाता था। इसके कारण वह और भी डाँटा गया। इस प्रकार उसे उस दिन अपमान ही अपमान सहना पड़ा। बालक के अपमान के अनुभव का सम्बन्ध एक दूसरी संवेगजन्य घटना से हो गया। और इस प्रकार एक भाव का सम्बन्ध दूसरे भाव से हो गया। इसके कारण उसकी प्रौढ़ होने पर जब कभी एक प्रकार के भाव की पुनरावृत्ति होती थी तब दूसरे भाव की भी पुनरवृत्ति होती थी, तथा कुचले पैर का दृश्य उसके पैर के दर्द का कारण बन गया। इसका कारण दृष्टा का दुःखी व्यक्ति के साथ आत्मीयता स्थापित करना है। जब मनुष्य की कल्पना प्रबल

होती है, तो वह जिस व्यक्ति के दुःख के साथ सहानुभूति दर्शाता है, उसका दुःख उसके ऊपर ही आ जाता है।)

आत्मग्लानि की मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रियायें बड़ी प्रबल होती हैं। आत्मग्लानि के कारण जितनी अधिक विक्षिप्तता होती है सम्भव है दूसरी किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि से न हो। आत्मग्लानि की मानसिक ग्रन्थि मनुष्य को तब होती है जब वह किसी आवेश में आकर अपनी नैतिक भावना के प्रतिकूल काम कर बैठता है। इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ अधिकतर काम वासना के क्षेत्र में होती हैं। इस प्रसंग में हेनरी फिशर महाशय का अपनी पुस्तक "ऐन इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकोलाजी" में दिया हुआ निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

आत्मग्लानि का ग्रन्थि

एक बाइस वर्ष क शिक्षक क्लास पढ़ाते समय बहुत घबड़ाता था। वह बड़ा विद्वान था और अपना पाठ ठीक से तैयार करके जाता था, तिसपर भी वह लड़कों से बोलने में झिझकता था। यदि उसके पढ़ाते समय कोई विद्यार्थी उससे कोई प्रश्न पूछ बैठे तो वह पसीना-पसीना हो जाता था। उसकी आयु २२ साल की ही थी, पर उसके सिर के सभी बाल सफेद हो गये थे। इस युवक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि जब वह १६ वर्ष का था तब उसने जर्मनी के एक प्रसिद्ध डाक्टर की पुस्तक में पढ़ा था "जो व्यक्ति हस्तमैथुन करता है उसको स्वप्नदोष अधिक होने लगते हैं। ये स्वप्नदोष बढ़ते ही जाते हैं और पीछे उसे दिन को भी वीर्यपात होने लगता है। इसके बाद वह शरीर से कमजोर हो जाता है और उसके बाल सफेद हो जाते हैं। फिर उसके दाँत भी गिर जाते हैं।" यह व्यक्ति स्वयं हस्तमैथुन किया करता था। उक्त डाक्टर की ये बातें पढ़कर उसे भारी मानसिक घबड़ाहट हुई। पर अब जो होना था सो हो चुका था, उसे कैसे मिटाया जाय। अब तो उसका दण्ड मात्र भोगना रह गया था। अतएव जैसा कि डाक्टर ने लिखा था उसी क्रम से युवक को पहले रात को स्पप्नदोष होने लगे। ये सामान्य थे, पर इनसे वह घबड़ा उठा। पीछे ये बार-बार होने लगे। कुछ समय के बाद दिन में भी उसे वीर्यपात होने लगा। अब तो उसकी परेशानी का ठिकाना न रहा। वह शरीर से दुबला हो

गया और जैसा जर्मन डाक्टर ने लिखा था उसके बाल भी सफेद हो गये। उसके दाँत नहीं गिरे। पर वह सदा एक अपराधी व्यक्ति जैसा कमजोर मन का हो गया।

इस प्रसंग में ब्रिल महाशय का दिया हुआ एक और उदाहरण उल्लेखनीय है। एक बार एक युवक उनके पास बेहोशी की अवस्था में लाया गया। उसकी बेहोशी का कारण पूछने से पता चला कि उक्त युवक ने पिस्तौल से आत्महत्या करने की चेष्टा की थी। गोली उसे न लगकर उसके बाजू से निकल गई। पर उसे वहम हो गया था कि गोली उसे लग गई है इसलिये वह बेहोश होकर गिर पड़ा था। उसकी पिस्तौल तीन नली की थी। उसने एक गोली अपनी ओर चलाई थी, और बाकी दो उसने अपने सामने जलती हुई मोमबत्ती की ओर चलाई थीं। इसका कारण पूछने पर पता चला कि उसे मोमबत्ती की पिघलती हुई मोम बुरी लगती थी। वास्तव में उसे हस्तमैथुन की क्रिया से—जिसे वह पहले किया करता था—अत्यन्त घृणा हो गई थी और उसकी आत्मग्लानि ही उसकी आत्महत्या के प्रयत्न तथा मोमबत्ती की ओर गोली चलाने का कारण थी। पर प्रत्यक्ष कारण दूसरा ही समझा जाता था। यह व्यक्ति इस समय एक युवती को प्यार करता था। लोगों को अनुमान था कि युवती के प्रेम में निराश हो जाने के कारण ही उसने आत्महत्या का प्रयत्न किया था। पर युवक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से बात दूसरी ही पाई गई। स्वयं युवक को ऐसी अवस्था में अपने कामों के वास्तविक हेतुओं का ज्ञान नहीं था।*

---

* इस प्रसंग में महात्मा गाँधी का कामवासना जनित आत्मग्लानि का अनुभव उल्लेखनीय है—

जब महात्मा गाँधी के पिता मृत्यु शय्या पर थे उस समय महात्मा गाँधी अपनी कामवासना के आवेश को न रोक सके और अपने स्त्री के पास जा सोये। उसी समय उनके पिता का देहान्त हो गया। इसके कारण उन्हें भारी आत्मग्लानि हुई। उस समय के बच्चे के प्रति भी

(अपमानजनित अथवा आत्मग्लानि जनित मानसिक ग्रन्थि मनुष्य में आत्महीनता की भावना उत्पन्न कर देती है। जिसके कारण मनुष्य ऐसे कामों में हाथ डालता है जिससे वह समाज के समक्ष अपने-आपको विशेष व्यक्ति सिद्ध कर सके) उसके कार्य सदा अतिक्रम की ओर जाते हैं। यदि वह सेनापति होगा तो संसार भर पर विजय प्राप्त करना चाहेगा; यदि साधु होगा तो वह महीने-महीने का व्रत रखेगा, जिससे सभी लोगों का ध्यान उसकी

उनका अच्छा भाव न रहा। उनका बड़ा बेटा हीरालाल गाँधी इसी समय का था और महात्मा गांधी के विचार के अनुसार वह उनकी मानसिक कमजोरी का प्रतीक था। इस आत्मग्लानि के परिणाम स्वरूप महात्मा गांधी की जीवनधारा ही एक विशेष ओर प्रवाहित हो गई। वे अब कामवासना के कट्टर दुश्मन हो गये। इसके परिणाम स्वरूप जब कोई स्त्री या पुरुष उनके समक्ष विवाह करता था तो उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनको यह आदेश देते थे कि वे जबतक भारतवर्ष स्वतंत्र न हो जावे ब्रह्मचारी रहें। अपने बहुत से शिष्यों को तो वे उपदेश देते थे कि वे विवाह ही न करें।

उनकी अहिंसा की विचार-धारा का स्रोत भी एक दूसरी भाव-पूर्ण घटना में है, जब कि उन्होंने अपने मित्र के कहने पर बकरे का मांस खा लिया था और अपनी माँ से इस काम को झूठ बोलकर छिपाया था। इस तरह जैसा इस घटना में हिंसा और असत्य का साथ था, उनकी फिलासफी में अहिंसा और सत्य का सम्बन्ध हो गया। महात्मा गांधी को मांस खा लेने के कृत्य ने इतनी मानसिक वेदना उत्पन्न की कि जब वे सोये तो उन्हें नींद नहीं आई। वे बकरे को अपने पेट में "बें बें" करते ऐसा सुनते थे।

महात्मा गांधी ने वैष्णव धर्म के प्रतिकूल आचरण किया था। वे इस धर्म में पले थे। उनके माता पिता निरामिष भोजी थे। अतएव उन्हें घोर आत्मग्लानि होना स्वाभाविक था, और उसके प्रायश्चित स्वरूप संसार को नई फिलासफी देना भी स्वाभाविक था। यदि वे किसी बंगाली घर में जन्म लिये होते तो मांस खाने से उन्हें ऐसी आत्मग्लानि न होती जैसी अन्यथा हुई। फिर उनकी विचारधारा दूसरे ही प्रकार की होती।

ओर आकर्षित हो; यदि वह किसी नये मत का प्रतिपादन करेगा तो वह ऐसा होगा जिसे सामान्य लोग असम्भव समझते हों, और जिस पर और किसी व्यक्ति ने प्रयोग ही न किया हो। ऐसे व्यक्ति में विलक्षण लगन पाई जाती है, और वह अपनी लगन के कारण कुछ दूर तक अपने कामों में सफल भी होता है। पर उसके कार्यों का नियामक विवेक न रहने के कारण वह अन्त में अपने जीवन का दुःखपूर्ण अन्त करता है। जब तक उसकी मानसिक ग्रन्थि का रेचन न हो ऐसे व्यक्ति का सुधार होना असम्भव है।

आत्मग्लानि की मानसिक ग्रन्थि कभी-कभी शरीर से घृणा उत्पन्न करने वाले रोग में प्रकाशित होती है। एक किशोर बालक ने समलिङ्गी व्यभिचार में भाग लिया। इसके बाद उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने इस घटना को भुलाने का प्रयत्न किया। कुछ समय के बाद यह घटना उस बालक के स्मृति-पटल से चली गई, पर अब उसके मुँह पर सफेद कुष्ठ के दाग दिखाई देने लगे। इन दागों देखकर उसका मन बहुत उद्विग्न हो जाता था। उसके सफेद दाग शरीर के दूसरे भागों में भी फैलते गये। अपने शरीर की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर उसे बहुत ही मानसिक दुःख हुआ। उसने आत्म-हत्या करने का विचार किया। इस व्यक्ति का रोग कई दिनों के उपवास करने और कठोर जीवन के बाद तथा एक प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक साधु के समक्ष आत्म-स्वीकृति के बाद अपने आप ही जाता रहा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस शारीरिक रोग का मानसिक कारण होता है उसे देखकर मनुष्य का मन जितना उद्विग्न होता है उतना सामान्य रोग के देखने से नहीं होता। यहाँ रोग आत्मग्लानि के प्रतीक होने का कारण बड़ा मानसिक उथल-पुथल उत्पन्न करता है। वास्तव में इस प्रकार के रोग की उपस्थिति का हेतु ही उस व्यक्ति को अपने अनुचित कार्य के लिये मानसिक दुःख पहुँचाना होता है। मनुष्य अपने कुकृत्य की स्मृति भुलाने की जितनी ही अधिक चेष्टा करता है उसका रोग उतना ही प्रबल होता जाता है। रोग पुराने पाप का प्रायश्चित है; परन्तु किसी काम को पाप मान लेना अपने पुराने संस्कारों पर निर्भर करता है।

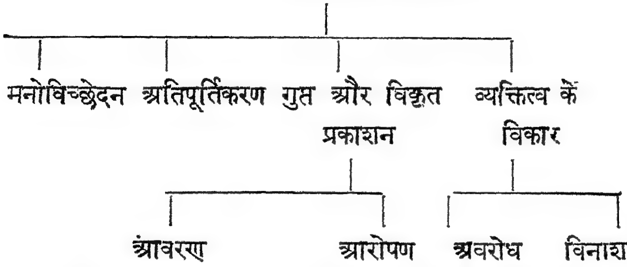
जब मनुष्य अपनी चेतना से घृणा की बात को भुलाने की कोशिश करता है तो यह घृणा की भावना शरीर पर अरोपित हो जाती है; क्योंकि शरीर भी एक प्रकार से अपना ही है। कभी-कभी इस प्रकार की अरोपण की क्रिया और भी जटिल हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी सन्तान, भाई, स्त्री अथवा अन्य सम्बन्धी के किसी प्रकार के वास्तविक अथवा कल्पित अपराध के लिये अपने-आपको दुःखी बनाता है और उनकी भूलों के लिये अपने-आप उपवास करता अथवा आत्म-शुद्धि करता है। कभी-कभी देश का नेता भी अपने अनुयायियों की भूल के लिये स्वयं इतना दुःखी होता है कि वह उनके लिये मरने के लिये तैयार हो जाता है। नेता की इस प्रकार की मनोवृत्ति अपनी आत्मग्लानि-जनित मानसिक ग्रन्थि के संवेग का आरोपण मात्र है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के दुःख का कारण उसके मनमें ही रहता है। (मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति की अवस्था में मनुष्य में आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं रहती, अतएव किसी प्रकार की अपने-आपको दुःखी बनाने वाली घटना के लिये वह अपने-आपको दोषी न समझ कर अपने दोष का आरोपण किसी बाहरी पदार्थ पर करता है)।

मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रियाएँ

ऊपर हमने अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों का परिचय कराया है, और उनकी प्रतिक्रिया पर भी कुछ प्रकाश डाला है। इन प्रतिक्रियाओं का मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रकार से वर्गीकरण किया है।

मानसिक प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण

मानसिक रोगों को समझने के लिए इन प्रतिक्रियाओं का समझना अत्यन्त आवश्यक है। मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। हमारी मानसिक घटनाओं में उसी प्रकार का कारण और कार्य का सम्बन्ध होता है, जिस प्रकार भौतिक घटनाओं में होती है। अतएव इन प्रतिक्रियाओं को समझ कर हम इनके स्वरूप को समझ सकते हैं। पिछले एक पृष्ठ में दिये चार चित्रों के आधार पर मानसिक ग्रन्थियों की प्रतिक्रियाओं का एक वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है:—



किसी प्रकार के अप्रिय मनोभाव का हमारी चेतना दमन करती है। किसी प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति का दमन मानसिक संयम से पृथक वस्तु है।

दमन का स्वरूप

संयम नियमित रूप से बिना उद्वेग के मानसिक प्रवृत्तियों को अपने काबू में लाना है। मानसिक प्रवृत्तियों का दमन किसी उद्वेगजनित घटना के कारण होता है। संयम धीरे-धीरे होता है, दमन एका-एक होता है। संयम की अवस्था में मनुष्य अपनी कमजोरियों को जानता है और उनकी आत्म-स्वीकृति करता है। दमन की अवस्था में मनुष्य अपनी कमजोरियों को भूल जाता है और वह उन्हें स्वीकार करने से बचता है। संयम ज्ञात रूप से होता है, दमन अज्ञात रूप से। संयम में मनुष्य अपनी मानसिक क्रियाओं का अर्थ जानता है, वे उसके नियंत्रण में रहती हैं; दमन में मनुष्य न तो अपनी मानसिक क्रियाओं का अर्थ जानता है और न क्रियाओं पर उसका कोई नियंत्रण रहता है। वे मानो अपने-आप ही होती हैं।

मनोविच्छेद

(मानसिक प्रवृत्तियों अथवा मनोभावों के दमन का पहला परिणाम मनोविच्छेद होता है। इसके कारण मनुष्य की ज्ञात और अज्ञात मानसिक क्रियाओं की एकता जाती रहती है। इस स्थिति में मनुष्य के चेतन मन में एक बात चलती है और उसके अचेतन मन में दूसरी बात चलती रहती है। इसके कारण मनुष्य एकाग्र मन होकर कोई काम नहीं कर पाता) मनोविच्छेद की साधारण स्थिति हम अपने पुस्तक के पढ़ने में प्रायः देखते हैं। मनोविच्छेद

की अवस्था में हम बहुत कुछ पढ़ जाते हैं और फिर अपनी कल्पना में हम एका-एक अपने-आपको मित्र के साथ जंगल में टहलते हुए अथवा बाजार में सौदा खरीदते हुए पाते हैं। जब हम देखते हैं कि हमें अपना पढ़ा हुआ विषय कितना याद रहा अथवा नहीं तो कुछ भी स्मरण नहीं आता। जब मानसिक विच्छेद और अधिक बढ़ जाता है तो फिर हमारी स्मरणशक्ति और भी कमजोर हो जाती है, हम से अपने काम में बार-बार भूलें होने लगती हैं। इसका कारण यह है कि हमारा बाहरी मन एक काम करता रहता है और भीतरी मन दूसरा काम करता है और मन के दोनों भागों में विरोध उत्पन्न हो जाता है। मनोविच्छेद की अवस्था में वे सभी मनोभाव जिन्हें हमारी चेतना अप्रिय समझती है, हमारे अचेतन मन में एकत्रित होकर एक गुट सा बना लेते हैं और वे एक दूसरे को अपनी शक्ति प्रदान करते हैं। जिस प्रकार राज्य से असन्तुष्ट सभी व्यक्ति कुछ काल के बाद एक दूसरे से मिल जाते हैं और गुप्तरूप से राज्य के कामों में बाधा डालने के लिए षड्यन्त्र किया करते हैं इसी प्रकार अनेक प्रकार के दलित मनोभाव मिलकर प्रबल मानसिक ग्रन्थि बना लेते हैं। उक्त तथ्य को लेखक की चिकित्सा में आये हुए एक विद्यार्थी की आत्मस्वीकृति के वृत्तांत से स्पष्ट किया जा सकता है। इस विद्यार्थी की आयु इस समय १८ वर्ष की है। इसे अकारण आत्मभर्त्सना तथा, स्मृति ह्रास का रोग है। यह रोग उसे गत दो वर्षों से हो गया है। रोगी का लेखक के प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव है। उसने एक पत्र में अपने जीवन की आत्म-ग्लानि जनक घटनाओं को लिखा। जब यह रोगी आठ वर्ष का था तभी से व्यभिचार का आदी हो गया था। यह अपनी मामा की लड़की के साथ खेल खेल में व्यभिचार करता था। पीछे वह इसी काम को पड़ोसी की लड़की के साथ करने लगा। इस प्रकार उसकी उत्तेजना बढ़ती ही गयी। लड़कियों के अभाव में वह हस्थमैथुन करने लगा। इसके पश्चात् जब वह पन्द्रह साल का हुआ तो कुछ अधिक उमर की स्त्रियों के प्रति आकर्षित होने लगा। वह एक न एक बहाने से अपनी मामी के पास, जब उसके मामा बाहर जाते थे, सो जाता था। इस प्रकार के नित्य प्रति के अभ्यास के परिणाम स्वरूप मामी को भी कामोत्तेजना हो गई और वह स्वयं इस किशोर बालक के साथ व्यभिचार में

लग गई। रोगी के पत्र से पता चलता है कि उसे इस प्रकार के कृत्य की स्मृति बहुत अप्रिय है। ऐसी स्मृति का मनुष्य दमन करता है। इसके परिणाम स्वरूप ही व्यक्तित्व का विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। स्मृति का ह्रास और अकारण आत्म-भर्त्सना इसी प्रकार के भावात्मक अनुभवों को भुलाने के प्रयत्न से होती हैं। जब मनुष्य अपने पुराने स्वत्व को भूलने की चेष्टा करता है तो वह उसकी शक्ति से भी वंचित रह जाता है। ऐसी अवस्था में उसका क्रमिक विकास रुक जाता है।

जब देश में विद्रोहियों की संख्या बढ़ जाती है तो राज्य को पुलिस और फौज की संख्या बढ़ानी पड़ती है। पुलिस और फौज की संख्या देखकर राजनीति के रहस्य को न समझने वाला व्यक्ति यही जानता है कि राज्य बड़ी सुव्यवस्था से चल रहा है। पर बात उलटी ही होती है। राज्य में क्रान्ति की सम्भावना के कारण ही पुलिस और फौज बढ़ाई जाती है। जिस प्रकार राष्ट्र में विच्छेद होने पर फौज और पुलिस की संख्या बढ़ती है, इसी प्रकार मानसिक विच्छेद की अवस्था में मनुष्य के चेतन मन में उन भावनाओं की वृद्धि होती है जो अवांच्छनीय भावों को दबाने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। मान लीजिए किसी व्यक्ति को किसी प्रकार के व्यभिचार के कारण काम-वासना से घृणा हो गई है। वह अब इस वासना के प्रकाशन को पूर्णतः दबाना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह इसके प्रति विशेष रूप से सतर्क हो जाता है और अपने प्रत्येक प्रकार के व्यवहार तथा बातचीत में कामवासना सम्बन्धी किसी बात को स्थान नहीं देना चाहता। शरीर के श्रृङ्गार करने अथवा दही, दूध और मलाई खाने से कामवासना की उत्तेजना की सम्भावना रहती है, अतएव वह किसी न किसी कारण को लेकर शरीर का श्रृङ्गार करना अथवा पौष्टिक भोजन करना छोड़ देता है। वह अपने शरीर को जितना अनाकर्षक हो सकता है बनाने की चेष्टा करता है। कई दिनों तक के उपवास भी इस वासना को दबाने में सहायक होते हैं; अतएव वह किसी न किसी बहाने लम्बे-लम्बे उपवास करने लगता है। पर ये सब काम वह जान-बूझ कर नहीं करता। उसको ये क्रियाएँ अज्ञात रूप से होती हैं। जब हम उससे उसके

अतिपूर्तिकरण

इस प्रकार के व्यवहार का कारण पूछते हैं तो वह कुछ दूसरे ही कारण बताता है।

मान लीजिए, किसी व्यक्ति में चोरी करने की प्रवृत्ति है। वह बचपन में अपने मित्रों की वस्तुएँ चुरा लेता था और कभी चोरी करते समय पकड़ भी गया था। चोरी करते समय पकड़े जाने से उसे बड़ी लज्जा लगी थी। अब वह चोरी करने को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। ऐसी स्थिति में उसके मन में चोरी के प्रति विशेष सतर्कता उत्पन्न हो जाती है। अब यदि किसी व्यक्ति का एक भी पैसा उसके पास रह जाय तो उसे चैन नहीं मिलती। वह दूसरों का पैसा चुकाने में बड़ा सावधान हो जाता है। हाल में लेखक के एक मित्र ने अपनी इमानदारी की स्थिति को बताते हुए कहा कि वे एक ताँगेवाले को एक आना नहीं दे पाये थे। इस घटना को पन्द्रह साल हो गये, पर यह घटना उन्हें बराबर स्मरण होती रहती है।

इस प्रसंग में हेडफील्ड महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—एक महिला बड़ी ही सुशील और मीठी भाषा बोलने वाली थी। इस महिला को एक बार अकारण आत्महत्या कर लेने की झक उत्पन्न हो गई। इसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि उसके मन में झगड़ा-सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थि बन गई है। वह बचपन में बहुत झगड़ालू थी। पर एक बार एक छोटे बच्चे से झगड़ा करने के कारण वह बहुत पीटी गई थी। इसके कारण उसकी झगड़ा करने की प्रवृत्ति का एकाएक दमन हो गया। अब वह बड़ी सुशील बालिका बन गई। यह सुशीलता उसके व्यवहार का स्थायी अंग बन गया। पर उसकी झगड़ालू प्रवृति ने पहले तो उसे चिन्ताएँ उत्पन्न करके बेचैन किया और पीछे उसकी आत्म-हत्या की भावना का रूप ले लिया। जब उक्त महिला की मानसिक ग्रन्थि का निवारण किया गया तो वह पहले जैसी सुशील तो न रही पर उसकी अकारण चिन्ता और आत्महत्या की प्रवृत्ति जाती रही।

जिस किसी व्यक्ति के व्यवहार में हमें अस्वाभाविकता दिखाई पड़े उसके मनमें मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति की सम्भावना मानना उचित है। अति विनीतता शत्रुभाव के छिपाने का आवरण है। सफाई गन्दगी को स्वीकार

करने से बचने की प्रतिक्रिया है। अपने-आपको दूसरों की चरणरज कहनेवाले व्यक्ति अति अभिमानी होते हैं। शत्रु का सर्वथा नाश करने की अज्ञात इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अपने-आपको संसार भर का मित्र विख्यात करता है और अहिंसा की शिक्षा संसार को देता है। पति को तालाक देने की गुप्त इच्छा रखनेवाली स्त्री पति प्रेम का ढिंढोरा पीटती है।

अचेतन मन की प्रति-क्रियायें व्यक्ति के चेतन मन से छिपी रहती हैं। वे उसे ज्ञात नहीं रहतीं, अतएव यदि कोई अतिपूर्ति की क्रिया को देखकर स्वयं उस व्यक्ति से उन्हें बतावे तो वह उन्हें स्वीकार न करेगा। यदि अतिविनीत भाव दिखाने वाले व्यक्ति से कहा जाय कि वह विनीत भाव उसके छिपे अभिमान का सूचक है तो वह इसे स्वीकार करना दूर रहा चिढ़ जायगा। इसी प्रकार पति के प्रति ऊपरी प्रेम दिखाने वाली स्त्री के गुप्त भावों को यदि कोई व्यक्ति उससे कह दे तो वह चिढ़ जायगी। वह ऐसे व्यक्ति का विनाश करने के लिये उद्यत हो जायगी। इसी प्रकार जो व्यक्ति संसार में शान्ति स्थापन का ढिंढोरा पीटते रहते हैं, उनको यदि उनकी इस प्रकार की चेष्टा का वास्तविक अर्थ बता दिया जाय तो वे अर्थ बताने वाले व्यक्ति के कट्टर शत्रु बन जायेंगे, ऐसे लोग मनोवैज्ञानिक सूझ के व्यक्तियों से सदा सशंक रहते हैं। वे उन्हें मूर्ख अथवा दुष्ट सिद्ध करने की चेष्टा करते रहते हैं।

मानसिक ग्रन्थि अथवा प्रवृत्ति को दबाने की कितनी ही चेष्टा क्यों न की जाय, वह अपने प्रकाशन का गुप्त मार्ग खोज लेती है। जब मनुष्य की कोई प्रवृत्ति प्राकृतिक रूप से प्रकाशित नहीं हो पाती तो वह विकृत रूप से प्रकाशित होती है। वह स्वप्न, सांकेतिक चेष्टाएँ, झक, इल्लत, तथा अनेक प्रकार के दूसरे मानसिक तथा शारीरिक रोगों में प्रकाशित होती है। वह इस प्रकार के प्रकाशन में विशेष प्रकार के उपायों को रचती है। इनमें से मुख्य उपाय आवरण, आरोपण और विचार दूषित करना है।

गुप्त प्रकाशन

(मनुष्य के स्वप्न दबी मानसिक ग्रन्थि के सामान्यरूप हैं) जो वासना हमारी सामान्य चेतना में प्रकाशित नहीं हो सकती वह स्वप्न में आवरण के साथ सांकेतिक रूप से प्रकाशित होती है। जिस व्यक्ति के जीवन में प्राकृतिक वासनाओं का जितना अधिक अधिक दमन पाया जाता है, उसके स्वप्न उतने ही अधिक भोग इच्छाओं से भरे हुए पाये जाते हैं। प्लेटो महाशय का कथन है कि हम लोग जिस बात को सामान्य जीवन में करते हैं उसी को साधू लोग स्वप्न में करते हैं।) पर स्वप्न में भी मनुष्य की नैतिक बुद्धि कुछ-कुछ जगी हुई रहती है, अतएव स्वप्न में हमारी दलित वासना सीधे रूप से प्रकाशित न होकर अनेक प्रकार के स्वाँग रचकर प्रकाशित होती है। स्वप्न में एक साधारण सी बात एक लम्बी चौड़ी घटना के रूप में प्रकाशित होती है; अथवा लम्बी चौड़ी घटना थोड़े में प्रकाशित हो जाती है। इसी तरह हमारे मनोभाव किसी नये व्यक्ति पर आरोपित होकर प्रकाशित होते हैं। स्वप्न में अनेक प्रकार के नये-नये पदार्थ व चित्र दिखाई देते हैं। ये पदार्थ अथवा चित्र दबी वासना के प्रतीक होते हैं। स्वप्न में किसी दबी भावना के रूप बदलने अथवा नये पदार्थ पर आरोपित होने के निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

आवरण

लेखक के एक शिष्य के प्रति उसके पिता अमैत्री भावना रखते थे। उन्हें भय था कि वह लड़का उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचावेगा। इस अमैत्री भावना ने एक मानसिक ग्रन्थि का रूप ले लिया था। अपने पुत्र के डर के मारे ही वे उसे घर से दूर किसी दूसरे स्थान पर काम पर लगाये हुए थे। एक बार यह लड़का बीमार पड़ा। बीमार होने के कारण उसकी पहली जगह नौकरी न रही। लड़के को बरबस नौकरी छोड़नी पड़ी। पर पिता के प्रयत्न से घर पर ही लड़के को पहले से भी अच्छी नौकरी मिल गई। अबतक लड़का घर नहीं आया था। जब उसके घर आने की बारी आई तो पिता ने स्वप्न देखा—

"एक शेर मेरी छाती पर चढ़ गया है। मैं उसे भगाना चाहता हूँ पर वह नहीं भागता। उसने मुझे बहुत घबड़ा दिया है और मैं अपने प्राण बचाने की किसी प्रकार चेष्टा कर रहा हूँ। घबड़ाहट में नींद खुल पड़ी।"

स्वप्न का अर्थ पूछने के लिये वह लेखक को बताया गया। लेखक ने स्वप्न का अर्थ बताना टाल दिया। लड़के आने के कुछ ही दिन बाद पिता पुत्र में अनबन होने लगी और पिता ने लड़के को कहा कि वह अलग मकान लेकर अपने परिवार के साथ रहे। पिता का यह प्रस्ताव लड़के की माँ को असह्य हो गया और जब लड़के ने घर छोड़ा तो माता भी लड़के के साथ हो चली गई। अब तो उक्त व्यक्ति का जीवन बहुत ही दुःखी हो गया और आत्म-हत्या तक के विचार उसके मन में आने लगे। पीछे लाचार होकर अपने बेटे और स्त्री को वह घर पर बुला लाये। परन्तु कुछ दिन ही साथ रहने पर पिता की मृत्यु हो गई

स्वप्न के द्वारा मनुष्य की गुप्त मनोभावना का पता चलता है। मानसिक चिकित्सा में स्वप्न-अध्ययन की बड़ी उपयोगिता है। इसे आगे चलकर बताया जायगा।

जिस प्रकार स्वप्न में आवरण को लेकर सांकेतिक रूप से दबी मानसिक भावना प्रकाशित होती है। इसी प्रकार सांकेतिक चेष्टायें भी दबी हुई भावनाओं को आवरण लेकर प्रकाशित करती हैं। बार-बार ओंठ काटना अथवा नख काटना दबी हुई प्रतिशोध की मानसिक ग्रन्थि का सूचक है। जाँघ का हिलाना, पुलिया में बार-बार पेन्सिल को डालना दबी कामवासना का सूचक है। इसी प्रकार हाथ धोने की सांकेतिक क्रिया आत्मग्लानि की ग्रन्थि की सूचक है। जिन लोगों के बचपन की हस्तमैथुन की आदत का एकाएक दमन होता है वे अपने सामान्य बोलचाल में हाथ पर हाथ इस प्रकार फेरते रहते हैं मानों वे हाथों को पानी से साफ कर रहे हो। मुँह पर हाथ फेरते रहना किसी लज्जास्पद भाव को प्रतीक रूप से दूर करने का सूचक होता है। इधर-उधर झाँकना मित्रों के प्रति अविश्वास का सूचक है। दूसरों से बातचीत करते समय छाती पर हाथ रखना अपनी गुप्त बात प्रकाशित न हो इस इच्छा का सूचक है।

मानसिक ग्रन्थि के गुप्त अथवा विकृत रूप से प्रकाशित होने का एक उपाय आरोपण है। आरोपण की क्रिया के कारण अपने भीतर का दोष मनुष्य अपने से बाहर देखता है। कभी-कभी ये दोष शरीर पर, कभी सम्बन्धियों

पर कभी, परिस्थितियों पर अथवा समाज पर आरोपित किये जाते हैं। जिस व्यक्ति में कामवासना सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थि रहती है वह एक ओर अपने

आरोपण

आचरण और विचारों में अत्यधिक पवित्रता दर्शाता है और दूसरे ओर दूसरे लोगों के चरित्र की नुक्ताचीनी करने अथवा उनके दोषों का अन्वेषण करने में भारी रुचि दिखाता है। हार्ट महाशय का कथन है कि हम उसी दोष को दूसरे व्यक्ति में अक्षम्य पाते हैं जो हमारे चरित्र में ही सबसे अधिक रहता है पर हमें दिखाई नहीं देता। इस प्रसंग में फ्रायड महाशय का अपनी पुस्तक "इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइकोएनालैसिस" में दिया हुआ निम्न-लिखित उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है—

एक कारखाने के मैनेजर जिनकी उमर कोई पैंतालीस वर्ष की हो गई थी अपनी पत्नी के विलक्षण व्यवहार से परेशान होकर डाक्टर फ्रायड से सलाह लेने आये। इस महिला को हाल में ही यह भ्रम हो गया था कि उसके पति उसी कारखाने में काम करने वाली एक युवती के प्रेम में फँस गये हैं। यह युवती टाइपिष्ट का काम करती थी और बहुत दिनों से वह उस कारखाने में थी। मैनेजर साहब की स्त्री ने पहले कभी इस प्रकार का संदेह नहीं किया था। मैनेजर साहब जितनी ही अपने चरित्र की सफाई देते थे उस महिला का उनके चरित्र पर सन्देह और भी बढ़ते जाता था। युवती की इस मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से पता चला कि हाल में ही मैनेजर साहब का जमाई उस कारखाने में नौकर होकर गया था और वह अपने ससुर के पास रहता था। यह व्यक्ति बहुत रूपवान नवयुवक था। सास का मन इस व्यक्ति के रूप से मोहित हो गया था और उसकी बुद्धि विचलित हो गई थी। पर वह जो दोष अपने-आप में उत्पन्न हो गया था अपने से बाहर अपने पति में देखती थी।

जो लोग दूसरे लोगों के विषय में शिकायत करते रहते हैं कि वे उनसे ईर्ष्या करते हैं वास्तव में वे स्वयं ही दूसरे लोगों से ईर्ष्या करते हैं। जिस व्यक्ति के मन में द्वेष की मानसिक ग्रन्थि जितनी ही प्रबल होती है वह दूसरे व्यक्ति को उतना ही अधिक दोषी मानता है। स्वयं अपने जीवन में असफल

रहने वाले लोग संसार के सभी लोगों को निकम्मे देखते हैं। जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मारने को इच्छा रखता है पर उसे स्वीकार नहीं करना चाहता वह दूसरे व्यक्ति पर अनेक प्रकार के दोषारोपण करता है। यह उसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया है जो भेड़ को खाने की इच्छा रखने वाले भेड़िये की मिथ्या दोषारोपण वाली कहानी में प्रदर्शित की गई है।

निकम्मे मनुष्य अपनी असफलता के लिये अपने-आप को दोषी न ठहरा कर परिस्थिति, भाग्य अथवा काल को दोषी ठहराते हैं। इस प्रकार मनुष्य को मिथ्या आत्म-संतोष हो जाता है। हिन्दू-मुस्लिम फूट के लिये अंग्रेजों के के सिर दोष मढ़ देना कितना सरल है। यह आत्म-निरीक्षण तथा अप्रिय कर्तव्य से बचने का एक उपाय है। जिस प्रकार निकम्मे पुरुष भाग्य, परिस्थिति, समाज अथवा काल का दोष देते हैं उसी प्रकार वे अपने स्वास्थ्य को भी दोष देते हैं। कभी-कभी आत्मग्लानि की यंत्रणा से बचने के लिये मनुष्य का मन नए-रोग उत्पन्न कर लेता है। घर का सेवा से बचने के लिये महिलायें बीमार हो जाती हैं। लकवा आदि की बीमारी मनुष्य को अप्रिय कर्तव्य से बचा लेती है।

कितने ही मनुष्यों को अपने किसी कुकृत्य से घृणा हो जाती है। यह घृणा उस कृत्य से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति पर आरोपित हो जाती है। इस प्रकार काम वासना के कारण आत्मग्लानि का अनुभव करनेवाले व्यक्ति स्त्री मात्र को घृणाकी दृष्टि से देखने लगते हैं। कभी-कभी वे स्त्रियों को पीटते अथवा उनकी हत्या कर डालते हैं। अपनी कामवासना को न मारने के बदले वे स्त्री को मारते-पीटते अथवा उसकी हत्या कर डालते हैं। भारतवर्ष में पुरुष समाज कामवासना को प्रायः घृणा की दृष्टि से देखता है। यह घृणा कामवासना को उत्तेजित करनेवाले पदार्थ पर आरोपित हो जाती है। यही कारण है कि हमारे समाज में स्त्रियों को निकृष्ट दृष्टि से देखा जाता है और उन्हें मारा-पीटा जाता है। कभी-कभी घृणा की मानसिक ग्रन्थि के कारण मनुष्य अपने शरीर को अथवा उसके विशेष अंग को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रकार वह शरीर को अनेक प्रकार की यंत्रणा देता है

मनुष्य के शारीरिक और मानसिक रोग स्वभावगत छिपे रूप से मानसिक-

ग्रन्थि के प्रकाशन के मार्ग हैं। इन रोगों के द्वारा मनुष्य का मानसिक विकार बाहर निकलता है। जिस प्रकार मनुष्य का शारीरिक विकार बुखार, फोड़ा, फुंसी, खांसी, अतिसार आदि रोगों के द्वारा निकलता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग मानसिक-ग्रन्थि के विकार को बाहर करते हैं। ये रोग इन ग्रन्थियों के प्रतीक होते हैं। जब हम किसी मनुष्य की झक का बाहरी कारण देखते हैं तो हम उसके विषय में कुछ भी पता नहीं चला पाते। मनुष्य की किसी प्रकार की झक, वहम अथवा इल्लत का कारण उसकी मानसिक ग्रन्थि में रहता है। लेखक के पास एक ऐसा व्यक्ति आया जिसे झक उत्पन्न हो गई थी कि किसी-न-किसी कारण से वह मेहतर से पीटा जायगा और उसको फांसी हो जावेगी। उसका कथन था कि उसने कोई ऐसा काम नहीं किया है जिससे उसे फांसी की सजा हो। उसने कई वकीलों से फांसी की सजा के विषय में पूछा पर उसका विचार उसके दिमाग से नहीं जाता था। इस रोगी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। उससे बातचीत करने से पता चला कि उसने अपने पुराने मित्र को किसी कारणवश झगड़ा हो जाने पर एकबार बाजार में पिटवाया था। इस घटना के बाद उसे भारी आत्मग्लानि हुई, पर वह किसी प्रकार का प्रायश्चित नहीं कर सका। कुछ समय के बाद एक व्यक्ति जो किसी की हत्या करके आया था रात को इस रोगी के घर ठहर गया। सवेरे उसकी खोज करते हुए पुलिस इसके घर पर आई। अब इस व्यक्ति को भय हो गया कि उसे हत्या के अपराध में अभियुक्त न बना लिया जाय और उसको फांसी न लग जाय। यह कल्पना इतनी प्रबल हो गई कि वह कभी मन से नहीं जाती थी कुछ दिन के बाद यह कल्पना चली गई। उसी समय रोगी ने एक भंगी को सड़क झाड़ते देखा। उसके मन में कल्पना आई कि कहीं यह भगी उसे झाड़ू न मार दे और उसको फांसी न हो जावे। अब यह विचार अक्सर उसके मन में आ जाता था और इसके कारण उसका जीवन बहुत दुःखी हो गया था।

यहाँ रोग का कारण आत्मग्लानि की मानसिक ग्रन्थि प्रत्यक्ष है। अपने पुराने मित्र के प्रति जो इस व्यक्ति ने व्यवहार किया, वह अक्षम्य था और उसके लिए वह फांसी की सजा भी अपने आपको देना चाहता था। पीछे वह

आत्मग्लानि की भावना को भूल गया। पर अब वह किसी भी साधारण सी घटना पर आरोपित हो जाती थी। इस प्रकार की आत्मग्लानि का अन्त आत्म-स्वीकृति और मैत्री भावना के अभ्यास से हो जाता है। वास्तव में इस रोगी का रोग इसी विधि से चला गया।

उपर्युक्त उदाहरण में रोगी की झक की शक्ति बाहरी दृश्य अथवा घटना के ऊपर निर्भर नह करती थी वरन् उसकी गुप्त मानसिक ग्रन्थि पर निर्भर करती थी। कभी-कभी रोगी के मन में कोई ऐसा विचार आ जाता है जिसे वह लाख प्रयत्न करने पर भी मन से नहीं हटा सकता। अपने ही विचारों में कितने ही लोग व्यस्त रहते हैं। वे जितना ही अधिक इन विचारों को मन से निकालने की चेष्टा करते हैं वे विचार उतने ही प्रबल हो जाते हैं। लेखक की एक छात्रा अपने पिता की मृत्यु का विचार अपने मन से निकालना चाहती थी। वह जितना ही इस विचार को निकालने की चेष्टा करती थी वह विचार उतना ही प्रबल हो जाता था। एक बार लेखक को विचार आया कि उसे क्षय रोग होनेवाला है। इस रोग के होने का कोई कारण न था पर जितना ही अधिक वह इस विचार को निकालने का प्रयत्न करता था वह विचार और भी प्रबल हो जाता था। पीछे आत्म-निरीक्षण से पता चला कि इस प्रकार के विचार का कारण लेखक के मन में एक द्वेष भावनाजनित मानसिक ग्रन्थि थी। जब तक इस ग्रन्थि का निराकरण नहीं हुआ क्षय रोग की भावना मन से नहीं गई।

बुद्धि में विकार उत्पन्न होना

मानसिक ग्रन्थि विशेष प्रकार से बुद्धि में विकार उत्पन्न कर देती हैं, जिसके कारण मनुष्य को अपनी ओर की युक्तियाँ ही सत्य दिखाई देती हैं और प्रति पक्षी की युक्तियाँ उसे व्यर्थ दिखाई देती हैं। अ-नी बात को सिद्ध कग्ने के लिए वह युक्तियाँ देते ही जाता है वह कभी-कभी प्रतिपक्षियों की युक्तियों को काटने में बड़ी कुशलता दिखलाता है। पर जब उसके सामने कोई ऐसा प्रमाण दिया जाता है जिसे घह काट नहीं सकता तो वह उसे अनसुना कर देता है अथवा उसे महत्व ही नहीं देता। कभी-कभी ऐसा व्यक्ति अपनी युक्तियों से दूसरे व्यक्तियों को अपना अनुयायी बना लेता है। पर उसमें समय के अनुसार अपने-आपमें परिवर्तन करने की शक्ति नहीं होती।

अतएव कुछ काल तक सफल होकर भी वह अन्त में विफल हो जाता है। कितने ही पागलखाने के रोगी अपने-आपको राजा अथवा रानी मानते हैं। पर वे देखते हैं कि उन्हें साधारण से काम करने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में वे कल्पना कर लेते हैं कि किसी व्यक्ति ने षड़यंत्र करके उन्हें जेल में डाल दिया है। इसी तरह सामान्य जीवन में किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि से प्रेरित व्यक्ति जब किसी काम को करता है और उसमें उसे सफलता नहीं मिलती तो वह किसी ईर्षालु व्यक्ति को उसकी असफलता का कारण मान लेता है। इस प्रकार की क्रिया को अँग्रेजी में "रेशनालाइजेशन" कहते हैं

ऊपर बताई गई मानसिक प्रतिक्रियाओं में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति चित्रित की गई है। इस प्रकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के परिणाम-स्वरूप विशेष प्रकार के व्यक्तित्व के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। पहले तो मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसी अवस्था का रह जाता है जिस अवस्था की वासनायें रहती हैं। मानलीजिये, किसी व्यक्ति की किशोरावस्था की मानसिक भावना का दमन हुआ तो वह शरीर से बढ़कर भी संवेग की दृष्टि से किशोर बालक ही बना रहेगा। कभी-कभी मनुष्य बुद्धि में बढ़ जाता है पर वह भावों की दृष्टि से बालक ही बना रहता है। जिन व्यक्तियों की खानेपीने की इच्छा की बचपन में तृप्ति नहीं होती वे प्रौढ़ होने पर भी खाने-पीने के विषय में ही अधिक चिन्तित रहा करते हैं। इस प्रसंग में हेडफील्ड महाशय का अपनी "साइकोलाजी एण्ड मारल्स" में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है। हेडफील्ड महाशय लिखते हैं कि "मेरी दृष्टि में एक ऐसा व्यक्ति आया जो एक कालेज में लेक्चरर का काम करता है। वह बड़ा विद्वान है और अपनी तर्कबुद्धि से सभी लोगों को दंग कर देता है। पर यह व्यक्ति साधारण-सी नुक्ताचीनी से इतना उद्विग्न मन हो जाता है कि वह अपनी नींद खो देता है। वह बुद्धि की दृष्टि से बड़ा होकर भी भाव की दृष्टि से बालक ही है।"

व्यक्तित्व-विकार

मानसिक ग्रन्थि मानसिक विकास में रुकावट ही नहीं डालती वरन्

कभी-कभी मानसिक ह्रास भी करती है इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का प्रवाह उलटी ओर होने लगता है। इसके कारण व्यक्ति एक बार प्रौढ़ावस्था को प्राप्त करके भी पीछे बच्चे जैसा व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार की स्थिति डिमेन्शिया नामक पागलपन में होती है। रोगी भूल जाता है कि वह शरीर से बढ़ गया है और उसे बालक जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। वह बच्चे जैसा दूसरे लोगों से भीख माँगने लगता है।

लेखक के मित्र का एक तेईस वर्ष का लड़का इस समय विक्षिप्त अवस्था मे है। इसकी विक्षिप्तता जटिल है। वह दूसरों को किसी प्रकार कीत कलीफ नहीं देता, पर उसके व्यवहार बच्चे जैसे हो गये हैं। उस पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं किया जा सकता। वह घर छोड़कर भाग जाता है। उसकी बीमारी के अध्ययन से पता चला कि उसे बीमारी उस समय आरम्भ हुई जब कलकत्ता पर हवाई जहाज से जापानी आक्रमण हुआ था। यह युवक उस समय वहीं काम करता था। एक गोला उसके मुहल्ले में ही गिरा पर इस घटना के पूर्व से ही उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। उसे अपने पुरुषत्व में सन्देह था और वह अपनी स्त्री के चरित्र पर भी सन्देह करता था। उसकी कामवासना का अवरोध हो गया था और अब उसने उलटा मार्ग ग्रहण कर लिया। युवक अपनी युवावस्था को ही भूल गया और अब वह बालक जैसा व्यवहार करने लगा।

अनेक प्रकार के जटिल मानसिक रोग जैसे, द्वि-व्यक्तित्व, बहु-व्यक्तित्व, मेलेन्कालिया, हेल्यूसिनेशन, तथा हिस्टीरिया आदि मानसिक ग्रन्थि के चेतना के प्रतिबन्ध को तोड़कर बाहर आ जाने के परिणामस्वरूप होते हैं। जिस प्रकार जब तक नदी का बाँध पक्का होता है तो बँधा हुआ पानी गुप्त मार्ग की खोज करके बाहर निकलने की चेष्टा करता है, पर जब बाँध ककजोर हो जाता है तो एकत्रित पानी उसे तोड़-फोड़ कर बाहर चला आता है, इसी प्रकार जब तक मनुष्य में चेतना की शक्ति प्रबल होती है तो वह दमित भावों को तथा मानसिक ग्रन्थियों की शक्ति को प्रकाशित होने से रोकने में समर्थ होती है, पर जब चेतना की शक्ति किसी बाहरी संकट से लड़ने के कारण कम हो जाती है तो प्रतिबंधित मानसिक शक्ति अपने बीभत्स

रूप में बाहर चली आती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य पशु से भी निकृष्ट-तम व्यवहार करता है। उसके कार्यों का कोई नियम नहीं रह जाता। यही पूर्ण विक्षिप्तता की अवस्था है।

लेखक के मित्र के एक किशोर बालक को शौच के बाद बार बार हाथ धोने की झक उत्पन्न हो गई थी। वह कभी कभी घंटों अपने हाथ साफ करते रहता था। हाथ साफ करने के लिये एक टब पानी और एक बट्टी साबुन भी पर्याप्त नहीं होता था। यह स्थिति लगभग दो साल तक रही। एक बार हिंदू मुसलिम दंगा होने पर उसे भय हो गया कि कोई मुसलमान उसका पीछा कर रहा है। इस भय के होने पर उसका विवेक नष्ट हो गया। फिर वह कल्पना में बार बार हिन्दू-मुसलमान का दंगा देखने लगा।

उक्त बालक की स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती ही गई। इस समय उसका पिता के प्रति द्वेष प्रगट हुआ और वह बढ़ता गया। कुछ समय के बाद उसने अपनी साधारण चेतना खो दी फिर वह मारने पीटने दौड़ने लगा। उसे एक कमरे में बंद कर दिया। यहाँ पर वह बड़ा दुखी हो गया। वह कमरे में ही टट्टी पेशाब करता था और सभी लोगों के समक्ष हस्तमैथुन करता था। इससे उसे रोकने के लिये एक तगड़ा आदमी रखा गया।

इस रोगी का सफल उपचार निर्देश विधि एक कुशल वैद्य ने की। यहाँ यह स्पष्ट है कि रोगी के मन में दबी काम वासना ने मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न कर दी थी और जब वाह्य परिस्थितियाँ कठिन हो जाने के कारण चेतना की शक्ति खर्च हो गई तो वह वासना विस्फोट के रूप में बाहर आगई।

यदि नियमित रूप से मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को योग्य मार्ग से प्रवाहित करते रहे तो उसे किसी प्रकार की विक्षिप्तता को अनुभूति करने का अवसर ही न पड़े। किसी प्रकार का अतिक्रम करने से ही मनुष्य की दशा दय-नीय होती है।

पाँचवाँ प्रकरण

मनोविश्लेषण चिकित्सा-विधि

मनोविश्लेषण विधि की रूपरेखा

दो प्रकार की मानसिक चिकित्सा विधियाँ

मानसिक रोगों को नष्ट करने की दो मनोवैज्ञानिक विधियाँ हैं—एक मनोविश्लेषण-विधि और दूसरी निर्देश-विधि निर्देश-विधि पुरानी विधि है। इसका प्रयोग संसार के सभी लोग करते हैं। संसार में मानसिक रोगों के निराकरण में झाड़ने-फूँकने की महत्ता सभी लोगों ने मानी है। कुछ समय के पूर्व हिस्टीरिया के निराकरण का झाड़ने-फूँकने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय किसी व्यक्ति को ज्ञात न था। पर इस विधि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन बहुत कम किया गया है, अतएव इसका वैज्ञानिक प्रयोग भी नहीं होता। निर्देश-विधि से चिकित्सक बहुत से रोगों को नष्ट कर देता है पर वह अपनी सफलता का कारण नहीं जानता। इस विधि से चिकित्सा करने में रोग का कारण भी जानने की चेष्टा नहीं की जाती। अतएव यह विधि कभी-कभी सफल हो जाती है और कभी विफल भी हो जाती है। चिकित्सक यह नहीं बता सकता कि भूल कहाँ पर हुई। फ्रांस के नेन्से नामक नगर में इस विधि का प्रयोग श्री इमील कूये महाशय करते थे। इस विधि से अनेक मानसिक रोगियों को लाभ होता था। उन्होंने अपनी "सेल्फ मास्टरी थ्रू आटोसजेशन" नामक पुस्तक में इस विधि की रूपरेखा बतायी है। इस विधि का अध्ययन डा० फ्रायड महाशय ने किया और उससे असन्तुष्ट होकर अपनी मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार किया। यह विधि पूर्णतः वैज्ञानिक विधि है।

मनोविश्लेषण अब एक स्वतन्त्र विज्ञान हो गया है। यह बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा अन्वेषण है। इसके अन्वेषक डा० फ्रायड वियना नगर के प्रसिद्ध डाक्टर थे। वे मानसिक चिकित्सा को वैज्ञानिक रूप देना चाहते थे।

उन्होंने देखा कि रोग का कारण जाने बिना किसी रोग को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। मानसिक रोगों की जड़ रोगी के किसी विशेष प्रकार के संवेगात्मक अनुभव में होती है; अतएव वे इस अनुभव को खोजने की विधि के आविष्कार में मनोयोग से लग गये। फ्रायड महाशय के प्रयत्न के परिणामस्वरूप मनोविश्लेषण विज्ञान पैदा हो गया।

मनोविश्लेषण के विधि का आविष्कार

मानसिक रोगियों के जीवन से डाक्टर फ्रायड को पता चला कि किसी भी मानसिक रोग की जड़ दुःखद उद्वेगात्मक अनुभव में रहती है। इस अनुभव से मानसिक शक्ति का प्रवाह विकृत हो जाता है। स्वयं रोगी इस अनुभव को भूल जाता है और वह उसे स्मरण करने का प्रयत्न भी करता है तो वह उसे स्मरण नहीं आता। वह जितना ही अधिक प्रयत्न उसे अपनी अपने स्मृति-पटल पर लाने के लिये करता है उसका अनुभव और भी अज्ञात होता जाता है। उसके स्मृति-पटल पर आने पर मनुष्य को दुःख होता है, अतएव उसकी चेतना उसकी स्मृति दबाती है। यही मानसिक रोग का कारण है। जब तक अप्रिय अनुभव चेतना की सतह पर नहीं आ जाता और मनुष्य के जीवन का प्रवाह स्वाभाविक रूप से फिर नहीं बहने लगता तब तक मनुष्य रोग से मुक्त नहीं होता। देखा गया है कि दबे हुए अनुभव को चेतना की सतह पर आते ही और उसकी आत्म-स्वीकृति होते ही बहुत से मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। पुराने अनुभव की स्वीकृति क्लेशकर होती है। इससे व्यक्ति के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है अथवा भारी आत्म-भर्त्सना होती है। धन की, सम्बन्धी की, मित्र की हानि अथवा सम्मान की हानि दुःखद होती है। यह हानि मानसिक ग्रन्थि को बना देती है। इसी प्रकार अपने आप का नैतिक पतन भी आत्म-ग्लानि उत्पन्न करता है। ऐसे अनुभवों की स्मृति अप्रिय होती है। अतएव इन्हें मनुष्य भुलाना चाहता है।

जिस प्रकार स्टीम इञ्जिन का आविष्कार अनायास जेम्स वाट के प्रयोग से हो गया, इसी प्रकार ब्रूअर महाशय के एक साधारण से प्रयोग से मनोविश्लेषण का आविष्कार हुआ। मानसिक भावों के रेचन से मानसिक रोगों को

कितना लाभ होता है यह बात ब्रूअर महाशय के अनुभव में आने वाली साधारण सी घटना से ज्ञात हुई। ब्रूअर महाशय के पास एक हिस्टीरिया रोग से पीड़ित स्त्री प्रतिदिन आती और अपनी मानसिक कथा सुनाती रहती थी। ब्रूअर महाशय को इस महिला से सहानुभूति थी, अतएव वे इस महिला की बातें धैर्यपूर्वक सुनते रहते थे। अपनी मानसिक व्यथा को प्रतिदिन ब्रूअर महाशय से कहने से उसका हिस्टीरिया का रोग अनायस ही जाता रहा। ब्रूअर महाशय को यह देखकर आश्चर्य हुआ। ब्रूअर की इस खोज का फ्रायड महाशय ने अपनी विधि को वैज्ञानिक रूप देने में उपयोग किया।

ब्रूअर महाशय का प्रयोग

मनोविश्लेषण विधि के अंग

वर्तमान मनोविश्लेषण विधि के निम्नलिखित अंग हैं—(१) मानसिक ग्रन्थि की खोज, (२) उसका रेचन, (३) शक्ति का शोध, (४) पुनःशिक्षा।

मनोविश्लेषण विधि रोगी के अन्तःपटल के अध्ययन की विधि है। किसी मनुष्य के आन्तरिक मन की स्थिति जानने के लिये एक विशेष प्रकार की वैज्ञानिक विधि और सूझ की आवश्यकता होती है। मनोविज्ञान के अध्ययन के द्वारा कोई भी मनुष्य इस विधि को जान सकता है, किन्तु इसे प्रयोग में कोई विरला ही व्यक्ति ला सकता है। इसका कारण साधारण मनुष्य में प्रत्युत्पन्न बुद्धि और मनोवैज्ञानिक सूझ का अभाव होता है। मनुष्य के आन्तरिक मन का ज्ञान निम्नलिखित बातों की सहायता से किया जाता है।

मानसिक ग्रन्थि की खोज

(१) रोगी के स्वप्नों का अध्ययन।

(२) रोगी के विलक्षण व्यवहार तथा विचार का निरीक्षण।

(३) सांकेतिक चेष्टाओं का निरीक्षण।

(४) भूलों का निरीक्षण।

(५) शब्द-सम्बन्ध के द्वारा आन्तरिक स्थिति का ज्ञान।

(६) संमोहन के द्वारा पुराने अनुभवों का स्मरण ।

हमने इस पुस्तक के पृष्ठ में मनोनिश्लेषण विधि सम्बन्धी हेडफील्ड महाशय के एक उदाहरण का उल्लेख किया है। इस उदाहरण में हमने देखा था कि एक महिला अपने स्वप्न में एक रेल की दुर्घटना को देखती है जिसमें उसके पति को भारी चोट पहुँचती है, फिर वह पति के विषय में बहुत चिन्ता दिखाती है और अपने प्रेम का ढिंढोरा पीटती है। पर वह पति को स्टेशन पर लाने के लिये जाना भूल जाती है, और डाक्टर हेडफील्ड से जब वह ये सब बातें कहती रहती है तो अपनी विवाह-मुद्रा को बार बार उंगली से निकालती और उसमें पहनती है। उसका यह स्वप्न अपने पति से मुक्त होने की इच्छा को प्रगट करता था। इस इच्छा को प्रेम का प्रलाप करके छिपाया जाता था, पर उसकी भूल और सांकेतिक चेष्टायें उसकी आन्तरिक इच्छा को उसके चेतन मन के प्रयत्न के प्रतिकूल भी प्रगट कर देती थी।

हमने पिछले प्रकरण में मानसिक ग्रन्थियों की प्रतिक्रिया समझाते हुए मनुष्य के विलक्षण व्यवहार तथा विचार, उसकी सांकेतिक चेष्टाओं और भूलों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्वप्न के विषय में भी कुछ चर्चा की गई है, पर मनोविश्लेषण विज्ञान में स्वप्न-अध्ययन का जितना महत्त्व है उसके लिये यह पर्याप्त नहीं है। अतएव इस प्रकरण में हम स्वप्न अध्ययन की मानसिक उपचार में महत्ता तथा शब्द-सम्बन्ध और संमोहन विधि पर ही विशेष रूप से विचार करेंगे।

स्वप्न अध्ययन

पिछले प्रकरण में हम ने बताया है कि स्वप्न मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रिया का फल है। स्वप्न के द्वारा मनुष्य की दबी हुई भावनायें गुप्त रूप से व्यक्त होती हैं। स्वप्न के विषय में महत्व-पूर्ण खोजें फ्रायड महाशय ने ही की हैं। हम अपने बहुत से स्वप्न जागते ही भूल जाते हैं और फिर स्वप्न का जो कुछ भाग याद रहता है वह इतना विचित्र होता है कि उसका अर्थ समझना असंभव होता है। कहा जाता है कि मनुष्य के बहुत से स्वप्न झूठे होते हैं और मनुष्य को अपने

स्वप्न और मानसिक ग्रन्थि

स्वप्नों पर न तो अधिक विचार ही करना चाहिये और न उन पर विश्वास ही करना चाहिये । कितने ही लोगों का कथन है कि स्वप्न हमारी नींद में बाधा डालते हैं और स्वप्नों का होना बुरा है । मनोविश्लेषण-विज्ञान ने स्वप्नों के विषय की उक्त धारणा में भारी परिवर्तन कर दिया है । आज सभी मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य के आन्तरिक मन के विषय में उसके स्वप्न के अध्ययन के किये बिना अधिक कुछ जानना अत्यन्त कठिन है । मानसिक चिकित्सा में तो स्वप्न के अध्ययन की इतनी महत्ता दर्शाई गई है कि किसी भी रोगी का भली प्रकार मनोविश्लेषण उसके स्वप्नों के भली प्रकार अध्ययन के बिना संभव ही नहीं । हम साधारणतः स्वप्न अध्ययन को इसलिये महत्व नहीं देते क्योंकि स्वप्न का अर्थ लगाना नहीं जानते । स्वप्नों का ठीक अर्थ लगाने के लिये न सिर्फ स्वप्न विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता है, वरन् मानसिक चिकित्सा के पर्याप्त अनुभव की भी आवश्यकता है ।

स्वप्न मनुष्य के अचेतन मन का कार्य है । यह मनुष्य की चेतना द्वारा नियंत्रित नहीं रहता है, अतएव स्वप्न में मनुष्य अपने आप को वैसा ही देखता है जैसा वह भीतरी मन से है । स्वप्न में व्यक्त इच्छायें उसकी वास्तविक इच्छायें हैं । रोगी की वास्तविक इच्छाओं को जानने के लिए, उसके अचेतन मन की स्थिति समझने के लिये उसके स्वप्नों को जानना नितांत आवश्यक होता है । हम अपने आप को भी जितना अपने स्वप्नों के द्वारा जान सकते हैं, दूसरे किसी प्रकार नहीं जान सकते । मनुष्य की बाहरी और भीतरी इच्छाओं में बड़ी विषमता रहती है । बाहर से वह नम्र रहता है और भीतर से अभिमानी, बाहर से वह मृत्यु से डरता है और भीतर से उसका आवाहन करता है, बाहर से वह व्यभिचार नहीं करना चाहता और भीतर से चाहता है । चेतन मन के भय कभी-कभी अचेतन मन की इच्छा के प्रतीक होते हैं । कोई युवती स्वप्न में अपने आप पर बलात्कार होते देखती है । वह इससे बचने की चेष्टा करती है पर आन्तरिक मन से वह उसे चाहती है । स्वप्न उसकी आन्तरिक इच्छा को छिपे ढंग से स्पष्ट कर देता है । रोगी के स्वप्न रोग के उपचार के समय बदलते रहते हैं । यह रोगी की बदलती हुई इच्छाओं को

दर्शाते हैं। कभी-कभी स्वप्न ही रोग के उपचार की विशेष बात को बता जाता है, अतएव रोगी के स्वप्नों का सतत् अध्ययन करना उसके सफल उपचार के लिये नितांत आवश्यक है।

फ्रायड महाशय ने स्वप्नों का अर्थ समझाने के लिये "इन्टर प्रिटेशन आफ ड्रीम्स" नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में बताये सिद्धान्तों को जानना स्वप्न के अर्थ को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हमारा बाहरी स्वप्न आन्तरिक स्वप्न से भिन्न होता है, अर्थात् हम जो कुछ स्वप्न में देखते हैं उससे उसका अर्थ दूसरा ही होता है। स्वप्न के अध्ययन में अचेतन मन की अन्य क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। मनुष्य के चेतन और अचेतन मन के बीच जो प्रतिबन्ध है वही आन्तरिक वासना को स्वप्न चेतना के समक्ष प्रकाशित होने के पूर्व भिन्न भिन्न प्रकार के स्वांग रचने के लिये बाध्य करता है। यह एक प्रकार का प्रतिहारी है। इसके कारण हम अपने स्वप्नों में अपने मनोभावों को छिपे हुए अथवा विकृत रूप में देखते हैं जिससे कि हम उनका अर्थ नहीं समझ सकते। जो मनुष्य आत्म-स्वीकृति से जितना ही अधिक भागता है उसके स्वप्न उतने ही अधिक अस्पष्ट होते हैं। जब मनुष्य रोग से तंग होकर अपने अभिमान को खो देता है और आत्म-स्वीकृति करने के लिये तत्पर होता है तब उसके स्वप्न भी स्पष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी वे आदेशात्मक बन जाते हैं।

स्वप्न अचेतन मन का कार्य है। स्वप्न के निर्माण में मनुष्य का अचेतन मन विशेष प्रकार की कला से काम लेता है। इस कला के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं—

स्वप्न कला

(१) आकुञ्चन।
(२) रूपान्तरण।
(३) आरोपण।
(४) विस्तारण।
(५) मूर्तिकरण।

कभी कभी स्वप्न का विचार बहुत बड़ा रहता है पर स्वप्न बहुत छोटा

होता है। कभी इसका ठीक उलटा होता है; हमारे मन की एक सामान्य भावना एक लम्बे स्वप्न में प्रदर्शित होती है। जिस प्रकार नैतिक शिक्षा को शिक्षक कहानी का रूपक बनाकर बालक को कहता है, इसी प्रकार स्वप्न भी एक साधारण सी इच्छा को हेरफेर करके बड़ी कहानी के रूप में व्यक्त करता है। स्वप्न में हम अपने मनोभावों को किन्हीं दूसरे व्यक्तियों पर आरोपित पाते हैं। पिता की मृत्यु की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अपने मरे हुए चचा की मृत्यु को देखता है। प्रत्येक स्वप्न किसी न किसी प्रकार के कथानक अथवा चित्र में प्रकाशित होता है। सब से महत्व की बात स्वप्न में सांकेतिक पदार्थों की है। फ्रायड महाशय ने स्वप्न के पदार्थों के जो अर्थ बताये हैं वे विचार करने योग्य हैं। उनसे कभी कभी स्वप्न के अर्थ लगाने में सहायता मिलती है, पर कभी कभी वे ठीक अर्थ का बोध नहीं करते। स्वप्न में देखे खंभे, बच्चे, साँप जननेन्द्रिय के बोधक हैं। पानी में तैरना, हवा में उड़ना, सीढ़ी पर चढ़ना रति क्रिया के बोधक हैं।

स्वप्न की उपयोगिता

फ्रायड महाशय के कथनानुसार स्वप्न का कारण उसके अतीतकाल के अनुभव में है, एडलर के अनुसार उसकी वर्तमान मानसिक स्थिति में है, और युंग महाशय के अनुसार स्वप्न का अर्थ मनुष्य के भविष्य से संबंध रखता है। स्वप्न न केवल उसकी दबी हुई भावना को प्रकाशित करते हैं वरन् उसे अपने कल्याण के लिये क्या करना चाहिये इसका भी आदेश देते हैं। स्वप्न से मनुष्य को निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) उसकी दबी हुई मानसिक ग्रन्थि का रेचन होता है।

(२) उसकी वर्तमान मानसिक स्थिति का ज्ञान होता है।

(३) आत्म-कल्याण के लिये मनुष्य को भविष्य के लिये आदेश मिलता है।

स्वप्न में मानसिक भावना का आंशिक प्रकाशन होता है। इसके कारण मनुष्य के मन का अन्तर्द्वन्द्व शिथिल हो जाता है। इस दृष्टि से स्वप्नों का होना मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये लाभदायक है। स्वप्नों को नींद के

लिये विघ्नकारी माना जाता है। पर यह भूल है । स्वप्न नींद में विघ्न न डालकर उसकी रक्षा करते हैं । प्रबल मानसिक भावनाओं के दमन की अवस्था में मनुष्य को जब स्वप्न नहीं आते तो अनिद्रा की बीमारी हो जाती है । चिन्ता के कारण प्रायः नींद नहीं आती । चिन्ता प्रबल मानसिक भावों के दमन से उत्पन्न होती है। इन भावों का आंशिक रेचन स्वप्नों से हो जाता है और तब मनुष्य को नींद आ जाती है। मनुष्य को भले अथवा बुरे स्वप्न हो सकते हैं । ये स्वप्न उसकी वर्तमान मानसिक स्थिति से हमें परिचित कराते हैं । पर भयंकर स्वप्न का होना स्वयं बुरा नहीं है । कभी कभी भयंकर स्वप्न मनुष्य के आन्तरिक भय और चिन्ता के कारण होते हैं। इन स्वप्नों से चिन्ता और भय के भावों का रेचन हो जाता है, इसीलिये मनुष्य अपने जीवन के साधारण कार्य शान्ति से कर लेता है। देखा गया है कि विद्यार्थी लोग परीक्षा के समय अपनी पिछली परीक्षाओं में, जिसमें वे पास हो चुके हैं, फेल होने का स्वप्न देखते हैं। इसी प्रकार प्रौढ़ लोग संकट के समय ऐसी परीक्षा में फेल होने के स्वप्न देखते हैं जिनमें वे पास हो चुके हैं। इस प्रकार के स्वप्न एक ओर उनकी निरर्थक चिन्ता तथा भय का रेचन करते हैं और दूसरी ओर उनके उत्साह की वृद्धि करते हैं परीक्षा में फेल होने के स्वप्न पर जब मनुष्य जागकर विचार करने लगता है तो उसे उत्साह-जनक विचार आते हैं। वह सोचने लगता है कि जिस प्रकार उसकी परीक्षा का भय निरर्थक था उसी प्रकार वर्तमान संकट का भय भी निरर्थक है। फ्रायड महाशय का कथन है कि जिस परीक्षा में मनुष्य वास्तव में फेल होता है वह उसका स्वप्न कभी नहीं देखता। फ्रायड महाशय के उपर्युक्त कथन की सत्यता लेखक के एक सुशिक्षित मित्र के स्वप्नों से सिद्ध होती है।

जब लेखक का यह मित्र एक ऊँचे पद के प्राप्ति की चेष्टा में लगा हुआ था तब वह अकसर अपनी एम० एस० सी० की परीक्षा में फेल होने का स्वप्न देखता था। वास्तव में वह इस परीक्षा में तृतीय श्रेणी में पास हुआ था। वह अपनी एल० एल० बी० की परीक्षा में फैल हो गया था और उसके कारण उसे यह परीक्षा पास करने का प्रयत्न भी छोड़ना पड़ा। उसने इस परीक्षा में फेल होने का स्वप्न कभी नहीं देखा।

कभी-कभी हम अपनी ही मृत्यु का स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार के स्वप्न हमारे मृत्यु के भय के भावों का रेचन कर देते हैं। इस प्रकार के स्वप्न के पश्चात् मनुष्य की अनेक प्रकार की अकारण चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं और उसके विचार सकारात्मक हो जाते हैं। स्वयं लेखक को एक बार क्षय रोग से पीड़ित होकर अपनी ही मृत्यु का स्वप्न हुआ। इसके पूर्व लेखक को अकारण विचार हो गया था कि उसे क्षय रोग होने वाला है। यह विचार किसी प्रकार भी उसके मन से नहीं जाता था। इस स्वप्न के पश्चात् यह विचार शिथिल हो गया और मैत्री भावना के अभ्यास के पश्चात् वह सदा के लिए लोप हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य के अशुभ स्वप्न स्वयं बुरे नहीं हैं, वे मनुष्य को एक ओर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देते हैं और दूसरी ओर उसके दबे मानसिक विकारों का रेचन करते हैं, जिसके कारण दूसरे प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होते।

अपनी मृत्यु के स्वप्न

स्वप्नों का अर्थ लगाने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम किसी विशेष नियम के अनुसार उसका अर्थ लगा लें। एक ही स्वप्न भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। किसी स्वप्न का वास्तविक अर्थ लगाने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वप्न-द्रष्टा की मानसिक स्थिति को समझें। स्वप्न के द्वारा रोगी मनुष्य का अचेतन मन मनुष्य के आरोग्य होने का मार्ग बताता है, अतएव रोगी की चिकित्सा करते समय रोगी के स्वप्नों का जानना मानसिक चिकित्सक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब चिकित्सक को रोग नष्ट करने का कोई उपाय नहीं सूझता तो यह उपाय स्वयं रोगी का अचेतन मन स्वप्न के द्वारा दर्शाता है। अतएव रोगी से प्रतिदिन उसके स्वप्न पूछते रहना अच्छा है। जिस स्वप्न को रोगी बिना पूछे ही बतावे उसका तो रोगी की चिकित्सा में बहुत भारी महत्व है। किसी स्वप्न का वास्तविक अर्थ लगाने के लिए चिकित्सक को रोगी से सहायता लेनी पड़ती है। स्वप्न का ठीक-ठीक अर्थ क्या हुआ यह तब तक निश्चित न करना चाहिए जब तक उसे रोगी स्वयं स्वीकार न करे। स्वप्न के ठीक

अर्थ लगाने की विधि

अर्थ लग जाने पर रोगी को एक प्रकार का संतोष होता है। यह संतोष उसके ठीक अर्थ लग जाने का सूचक है। व्यक्ति की मानसिक परिस्थितियों पर उनके स्वप्न के अर्थ किस प्रकार निर्भर करते हैं यह निम्नलिखित स्वप्नों से स्पष्ट होता है—

एक बार लेखक एक नवयुवक की मानसिक चिकित्सा में लगा हुआ था। इस नवयुवक को कुछ मानसिक बीमारी थी, जिसने पेट और हृदय के रोग का रूप धारण कर लिया था। इसके कारण वह बिस्तर से उठ नहीं सकता था, अन्यथा वह पूर्ण स्वस्थ था। उसे चिकित्सा के समय स्वप्न हुआ कि उसके पिता उससे कुछ दूरी पर बैठे अपने मित्रों से बातचीत कर रहे हैं और उसकी शारीरिक बीमारी पर हँसते हैं। वे उन लोगों से कह रहे हैं कि उस लड़के का रोग झूठा है।

इस स्वप्न का अर्थ लगाने से पता चला कि पिता का रोगी के विषय में लापरवाही का भाव ही प्रधानतः रोग का कारण था। जितना ही उसके रोग के विषय में उसके समक्ष कहा जाता था कि रोग झूठा है उसका रोग और भी जटिल होता जाता था। इससे लेखक ने निष्कर्ष निकाला कि रोगी को अपने पिता से दूर रखना उसके रोग को नष्ट करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसे सहानुभूति के वातावरण में रखना उचित था। ऐसा करने पर वास्तव में रोगी को लाभ हुआ।

दूसरा स्वप्न एक पचास वर्ष के अनुभवी व्यक्ति का है। इन्हें अकसर स्वप्न होता है वे हवा में उड़े जा रहे हैं। वास्तव में इन्हें घुटने के पास पैरों में बीमारी है, जिसके कारण वे सीधे खड़े नहीं हो सकते और न ठीक से चल-फिर सकते हैं। पर इस समय भी ये एक ओर एक बड़े हाई स्कूल की हेडमास्टरी किये हुए हैं और दूसरी ओर अपना रेशम की साड़ी का कारोबार सम्हाले हुए हैं। इनके दोनों ही काम ठीक से चल रहे हैं। इन्होंने इस प्रकार पन्द्रह वर्ष से दोनों रोजगारों को सम्हाला है। इनकी जीवनचर्या से पता चला कि इन्होंने अपनी गिरती हुई आर्थिक परिस्थिति को सम्हालने के लिए पिछले कुछ दिनों में असाधारण पुरुषार्थ किया था। इनका रोग अब उनके सांसारिक चिन्ताओं के भार से दबे हुए रहने का प्रतीक है। अपने रोग

के विषय में कहते-कहते इन्होंने अपना उक्त स्वप्न कहा जो उन्हें अकसर होता रहता है। इस स्वप्न का एक अर्थ है कि रोगी ठीक से चलने की प्रबल इच्छा रखता है। इस इच्छा की पूर्ति उसकी जाग्रतावस्था में नहीं होती, अतएव उसकी स्वप्नावस्था में इस इच्छा की पूर्ति होती है। स्वप्न अचेतन मन की अतिपूर्ति की क्रिया का प्रतीक है । पर स्वप्न का इतना ही अर्थ लगाना उसे वास्तव में रोग की चिकित्सा के लिये अर्थ-हीन बताना है। यह स्वप्न रोगी की उड़ती हुई आशाओं का प्रतीक है । रोगी शारीरिक बीमारी के कारण अशक्त हो गया है, पर उसके हौसले बहुत बढ़े हुए हैं और उसके मन की उड़ान बहुत भारी है। यही मन की उड़ान अर्थात् उसके हौसले उसके शारीरिक रोग के कारण हैं ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रोगी का रोग ऊपरी दृष्टि से केवल शारीरिक था। उसकी सब प्रकार की शारीरिक चिकित्सा भी की जा चुकी थी, पर रोग नहीं गया। रोगी स्वयं एक बड़ा विद्वान् और अनुभवी व्यक्ति है । उसने सोचा कि संभव है कि उसके रोग का मानसिक कारण हो। अतएव उसने अपने रोग के विषय में लेखक से सलाह ली थी। लेखक ने वास्तव में रोग का मानसिक कारण पा लिया । पर रोगी अब इस मानसिक परिस्थिति में नहीं है कि उसके रोग की चिकित्सा हो सके। उसके स्वास्थ्य लाभ के लिये यह आवश्यक है कि वह (रोगी) पहले तो स्कूल की हेड मास्टरी तुरंत ही छोड़ दे और दूसरे अपने साड़ी के व्यव-साय के विषय में भी कम चिन्ता करे। पर उसका मन अभी तक दोनों कामों में इतना फँसा है कि उसे इस प्रकार की सलाह देना उसे शत्रु बनाना है। मनुष्य अपने आन्तरिक मन के प्रतिकूल कार्य करने के कारण ही अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है ।

तीसरा स्वप्न लेखक के एक युवक छात्र का है। इस छात्र ने काम-वासना के विषय में सोते समय लेखक से कुछ बात-चीत की । लेखक का मत था कि काम-वासना को अपना शत्रु न बना कर उसे अपना मित्र बनाना चाहिये। दमन से काम वासना शत्रु हो जाती है। छात्र कह रहा था कि बिना काम-वासना के दमन के मनुष्य किसी प्रकार की आत्मोन्नति नहीं

कर सकता। यह बातचीत करते-करते यह छात्र सो गया। सबेरे ज्यों ही यह छात्र उठा उसने लेखक से अपना निम्न लिखित स्वप्न सुनाया—

मैं घर के दरवाजे के पास खड़ा हूँ और कहीं बाहर जाना चाहता हूँ! मेरे सामने एक जंगली सूअर खड़ा है। वह मेरी ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। उसकी आँखें चमकती हैं। मैं कुछ डर जाता हूँ और उसे भगाने के लिए दरवाजे को खड़खड़ाता हूँ, परन्तु उसमें से आवाज नहीं निकलती और वह सूअर बिना हिले डूले मेरी ओर देखते वहीं खड़ा रहता है। मुझे घबड़ाहट होती है कि कहीं वह सूअर मेरे ऊपर आक्रमण न कर दे। इतने में देविका नाम की एक मेरी परिचित गाँव की स्त्री दिखाई देती है। यह बड़ी सीधी और सदाचारिणी स्त्री है। उसके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। वह विधवा है और अपने बच्चों को मजदूरी करके पालती है। वह स्त्री कहती है—भय डरो मत, वह कुछ नहीं करेगा। इसके बाद नींद खुल जाती है।

स्वप्न को सुनाने के पूर्व इस छात्र ने जागते ही कहा था—मैंने आज वाराह भगवान को स्वप्न में देखा। वास्तव में स्वप्न एक रूपक के रूप में स्वप्नद्रष्टा को अपनी वासनाओं के प्रति मानसिक धारणाओं के विषय में उचित शिक्षा दे रहा था। सूअर अर्थात् उसकी पाशविक प्रवृत्ति उसके घर से बाहर निकलते समय मार्ग में अर्थात् आत्मविकास के मार्ग में रुकावट डाल रही थी। स्वप्न का सूअर वास्तव में उसकी ओर टकटकी लगाकर देखता मात्र था। वह उसे मारने की नहीं सोचता था। पर डर के मारे वह घर से आगे नहीं बढ़ता था। उसने दरवाजा खड़-खड़ाया पर उससे आवाज भी न निकली। इसका अर्थ है कि वास्तव में उसकी पाशविक वासना उसकी शत्रु नहीं है, पर वह उसे शत्रु समझता है। अब वह डरकर उसे अपने मार्ग से हटाना चाहता है, पर इस प्रकार वह हट नहीं सकता। वह दरवाजे को खड़खड़ाता है तो उसमें से आवाज भी नहीं निकलती। यह वासना से झगड़ने की व्यर्थता का सूचक है। इससे झगड़ने पर मनुष्य शक्तिहीन हो जाता है हमारी वासना शक्तिरूपा है। हमारी कार्यक्षमता इसकी अनुकूलता पर निर्भर करती है। जब हम उसके प्रतिकूल ही कार्य करते हैं तो अपने आप

को शक्तिहीन पाते हैं और हमारे कार्यों का परिणाम कुछ भी नहीं होता। देविका मनुष्य की विवेक बुद्धि है। यह वासना के प्रति छात्र को निर्भीक बनाती है और उसके प्रति उचित दृष्टिकोण रखने का आदेश करती है। उसकी छेड़खानी करने से वह शत्रु का काम करने लगती है, अर्थात् अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न करती है।

लेखक इसी सिद्धान्त को छात्र को सोते समय समझा रहा था। वह इस सिद्धान्त को अपनी युक्तियों से नहीं समझा सका क्योंकि छात्र के पुराने संस्कार इसके विरुद्ध थे। जब यह बात उसके हृदय की आवाज के रूप में भीतर से आई तो वह उक्त सिद्धान्त को तुरंत समझ गया। यह उसके स्वप्न होने के बादवाले विचारों से प्रत्यक्ष है। इस स्वप्न ने छात्र का दृष्टिकोण बदल दिया और इस प्रकार जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व पहले से उसके मन में चल रहा था और जिसके कारण किसी प्रकार का मानसिक संकट होना संभव था। उसका अन्त हो गया। छात्र को स्वयं उक्त स्वप्न का अर्थ ग्राह्य भी हुआ, इससे यह प्रत्यक्ष है कि स्वप्न का अर्थ ठीक तरह से लगाया गया है।

प्रोफेसर युंग महाशय ने अपनी "दी माडर्न मेंन इन सर्च आफ ए सोल" नामक पुस्तक में ऐसे कई स्वप्नों का वर्णन किया है जो रोगी को बार-बार होते थे और जिनमें रोग से मुक्त होने के उपाय का प्रदर्शित था। युंग महाशय का कथन है कि जब एक ही प्रकार का स्वप्न किसी व्यक्ति को बार बार हो तो उसकी अवहेलना उस व्यक्ति को न करनी चाहिये। ऐसे स्वप्न अन्तरात्मा अथवा अचेतन मन के आदेशरूप होते हैं। इन्हें समझने की चेष्टा करना चाहिये। कितने ही रोगियों के मानसिक और शारीरिक रोग स्वप्न में मिले निर्देशों के अनुसार काम करने से नष्ट हो गये हैं। युंग महाशय के दिये हुए कुछ स्वप्न यहाँ उल्लेखनीय है—

युंग का स्वप्न विश्लेषण

एक बार एक उच्च पदाधिकारी ने युंग महाशय से अपने मानसिक क्लेशों के सम्बन्ध में सलाह ली। उसे चिन्ता और भय रहता था, और सिर भारी होने और चक्कर आने की बीमारी थी। उसका सिर भारी होना तथा चक्कर खाना उसी प्रकार का था जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ने से होता

है। उसका जीवन बड़ा सफल था। वह अपने उत्साह, परिश्रम और योग्यता की सहायता से एक साधारण गरीबी की दशा से उठकर बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँच चुका था। वह एक-एक सीढ़ी आगे चढ़ते ही गया और समाज में उसने बहुत ऊँचा स्थान पा लिया था, अब आगे बढ़ने को अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी। वह थोड़े ही परिश्रम से समाज में सबसे ऊँचा स्थान पाने ही वाला था। इसी बीच उसे उक्त रोग उत्पन्न हो गया। जब वह अपनी सब चर्चा सुना रहा था तो उसने युंग महाशय को पिछली रात को देखे हुए निम्नलिखित दो स्वप्न कह सुनाये—

पहला स्वप्न—मैं अपने जन्मस्थान के गाँव में हूँ। कुछ किसानों के लड़के जो पहले मेरे साथ गाँव के स्कूल में पढ़ते थे रास्ते में खड़े हुए हैं। मैं उनके पास से जाता हूँ और वहाँ से इस प्रकार निकल जाता हूँ मानो मैं उन्हें नहीं पहचानता। उनमें से एक मेरी ओर अँगुली बताकर अपने साथियों से कहता है—"वह अब हमारे गाँव को वापस नहीं आता है।"

दूसरा स्वप्न—मैं यात्रा पर जा रहा हूँ और बड़ी जल्दी कर रहा हूँ। मैं अपना असबाब ढूँढ़ता हूँ पर उसे नहीं पाता। समय जा रहा है और गाड़ी छूटने को ही है। मैं अन्त में अपनी सभी वस्तुओं को इकट्ठा कर लेता हूँ। मैं जब जल्दी-जल्दी स्टेशन के रास्ते पर जाता हूँ तो मुझे स्मरण आता है कि आवश्यक कागजातों का बैग मैं घर पर ही भूल गया हूँ। मैं फिर तेजी से घर की ओर दौड़ता हूँ और उस बैग को लेकर स्टेशन दौड़ता हूँ। पर बीच में अनेक रुकावटें मार्ग में आ जाती हैं और मैं आगे नहीं बढ़ पाता हूँ बहुत प्रयत्न करने पर मैं प्लेटफार्म तक पहुँच जाता हूँ और देखता हूँ कि गाड़ी स्टेशन पर चली आ रही है। गाड़ी बड़ी लम्बी और टेढ़ी मेढ़ी है। मुझे विचार आता है कि यदि ड्राइवर सावधान न आ और पूरी तेजी से उसने गाड़ी चलाई तो गाड़ी नीचे गिर जायगी। से चिल्लाकर ड्राइवर से गाड़ी धीरे-धीरे चलाने को कहता हूँ गाड़ी के पीछे के डब्बे पटरी से नीचे उतर जाते हैं और पूरी गाड़ी गिर पड़ती है। मैं इस भयंकर दृश्य को देखता हूँ और भयमीत अवस्था में जाग उठता हूँ।

इन दो स्वप्नों में उक्त व्यक्ति को आगे बढ़ने में सावधान होने का आदेश दिया गया है। पहला स्वप्न उसे अपनी गरीबी की हालत का स्मरण कराता है और अपनी स्थिति से संतोष करने का आदेश देता है। दूसरा स्वप्न आदेश देता है कि यदि वह अपनी स्थिति से संतोष नहीं करेगा तो उसकी जीवन गाड़ी पटरी से नीचे उतर कर टूट फूट जायगी। उस व्यक्ति ने युंग महाशय की सलाह नहीं मानी और अपनी अन्तरात्मा के आदेश के प्रतिकूल आगे ही बढ़ते गया। इसके परिणाम स्वरूप वह विक्षिप्तावस्था में पहुँच गया।

एक स्त्री के निम्नलिखित तीन स्वप्न यहाँ उल्लेखनीय हैं जो उसके रोग की चिकित्सा होते समय आये थे और जिन्हें फिर उसने युंग महाशय को कह सुनाया था। जब वह पहले चिकित्सक से मानसिक चिकित्सा करा रही थी तो उसने यह स्वप्न देखा—

"मुझे अपने देश से दूसरे देश में जाना आवश्यक हो गया है। मैं उसकी सीमा पार करना चाहती हूँ, पर कोई नहीं कह सकता कि उसकी सीमा कहाँ है।"

जब वह दूसरे चिकित्सक से चिकित्सा करवा रही थी तो उसने स्वप्न देखा—

"मैं अपने देश की सीमा पार करना चाहती हूँ। रात अंधेरी है, मुझे सीमाघर नहीं मिल रहा है। कुछ दूरी पर उजाला दिखाई देता है। मैं सोचती हूँ कि वही सीमाघर होगा। किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिये एक घाटी पार करनी पड़ती है और अँधेरे जंगल मेंसे जाना पड़ता है। जब मैं वहाँ पहुँचती हूँ तो दिशा भूल जाती हूँ। मैं देखती हूँ कि मेरे साथ कोई है। यह व्यक्ति मुझ से पागल जैसे लिपट जाता है और मैं घबड़ाकर जाग उठती हूँ।"

जब स्त्री युंग महाशय से चिकित्सा करा रही थी त उसने निम्नलिखित स्वप्न देखा—

मुझे सीमा पार करने की भ री इच्छा है। थोड़ी देर में मैं देखती हूँ कि मैंने सीमा पार कर ली और नये देश में आ गई हूँ। मैं एक चुंगीघर

के पास आती हूँ। इस समय मेरे हाथ में एक हैण्डबैग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और मैं सोचती हूँ कि मेरे पास चुंगी देने के लिये कोई सामान नहीं है। पर चुंगीवाला मुझे रोकता है और मेरे हेण्डबैग में हाथ डाल कर दो दरियाँ निकाल लेता है।

पहले स्वप्न का अर्थ था कि जो चिकित्सा उसकी हो रही है उसका कोई फल न होगा। वास्तव में हुआ वैसा ही। दूसरे स्वप्न का अर्थ चिकित्सक के साथ स्त्री की मानसिक झंझट को लक्षित करता है। चिकित्सक अपनी चिकित्सा में सफल हो रहा था किन्तु वह उस स्त्री के प्रेम में ही पड़ गया, अतएव चिकित्सा का कार्य बन्द करना पड़ा। तीसरे स्वप्न में सफल चिकित्सा का संकेत था। इस चिकित्सा के होते-होते उस स्त्री का एक ओर मानसिक रोग अच्छा हो गया और दूसरी ओर उसने शादी कर ली। इस तरह उसने दो प्रकार से सीमा पार कर डाली। वह स्वयं अपनी मन की दबी इच्छा को नहीं जानती थी। इसे चिकित्सक ने खोज कर निकाल दिया। यही दरियों का हैण्डबेग से निकालना था।

एक रोगी को अपनी बहिन की बच्ची की (जिसे वह प्यार करता था।) बीमारी का स्वप्न बार-बार आता था। इसका कोई कारण न था क्योंकि उसकी बहिन के सभी बच्चे स्वस्थ थे। युंग महाशय ने रोगी के मनोविश्लेषण से पता चलाया कि यह बच्ची उसकी आध्यात्मिक विषय में नई रुचि की प्रतीक है, जिसकी वह इस समय अवहेलना कर रहा था। जब अपने स्वप्न का अर्थ समझ कर उसने फिर आध्यात्मिक विषयों का पढ़ना आरम्भ कर दिया तो उसका मानसिक रोग जाता रहा।

हाल में लेखक की एक छात्रा को स्वप्न आया कि एक भयंकर पिशाच उसकी छाती पर चढ़ बैठा है। वह घबड़ाकर जाग गई। इस समय वास्तव में वह एक भारी संकट में पड़ गई थी। उसने एक ऐसे व्यक्ति से शत्रुता कर ली थी जो बड़ा शक्तिशाली था और जिससे उसे भारी अज्ञात भय था। इस स्वप्न ने उसे एक ओर तो सावधान किया और दूसरी ओर उसके भय का रेचन किया।

कभी-कभी मनुष्य के स्वप्न उसे भावी दुर्घटनाओं से बचने के लिये

सावधान करते हैं। युंग महाशय के एक साथी ने उनसे अपना एक स्वप्न कहा—"मैं पहाड़ पर चढ़ रहा हूँ। मैं ऊपर ही चलता जाता हूँ और अंत में हवा में चलने लगता हूँ।" इसका अर्थ बताते हुए युंग महाशय ने उनसे कहा कि यह स्वप्न आपको पहाड़ पर बार-बार चढ़ने से रोक रहा है यदि आप नहीं रुकेंगे तो आप अपनी जान खो देंगे। वे इस पर हँसे और पहाड़ पर चढ़ने के लिये जाते ही रहे। अंत में उनकी मृत्यु पहाड़ पर से गिर कर हुई।

शब्द-सम्बन्ध की प्रक्रिया

हमारे विचार साधारणतः एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित रहते हैं कि जब हम एक विचार को मन में लाते हैं तो दूसरा विचार मन में अपने आप आ जाता है। विचारों के आपस के स्वाभाविक सम्बन्ध प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—सहचारिता, समानता और विरोध। जिन दो बातों का अनुभव हमें एक साथ होता है अथवा एक के बाद एक का होता वे दोनों एक दूसरे को स्मरण कराती हैं। इसी प्रकार एक-सी वस्तुयें एक दूसरे को याद कराती हैं, और विरोधी वस्तुयें भी एक दूसरे को याद कराती हैं। जब हम किसी व्यक्ति से कोई शब्द कहते हैं तो उसके मन में शब्द को बोध करने वाली वस्तु आती है, फिर उससे सम्बन्धित दूसरी वस्तुयें भी ध्यान में आती हैं। यदि हम निश्चित शब्दों में से रोगी को एक के बाद शब्द एक कहें और उससे कहें कि तुम्हारे मन में जो शब्द आता जाय उसे तुरंत कहो तो एक विलक्षण बात पावेंगे। इस प्रकार के प्रयोग में समय को लिखते जाना आवश्यक होता है। देखा गया है कि जब किसी व्यक्ति से कोई ऐसा शब्द कहा जाता है जिसका सम्बन्ध उसकी किसी भावात्मक वृत्ति से नहीं है तो वह एक-आध सेकन्ड में ही उत्तर दे देता है, पर जिसका सम्बन्ध किसी भावात्मक वृत्ति अर्थात् छिपी मानसिक ग्रन्थि से रहता है उसका उत्तर देर में आता है और वह उत्तर विलक्षण होता है।

विचारों के साधारण सम्बन्ध

अपने अनुभव से चिकित्सक रोगी की मानसिक ग्रन्थि का अन्दाज लगाता है और इसके विषय में अधिक निश्चय करने के लिये शब्द-सम्बन्ध का प्रयोग करता है। वह इसके लिये पन्द्रह-बीस शब्द चुनता है। इन शब्दों को वह एक-एक करके रोगी से कहता है। बीच-बीच में वह ऐसे शब्द रोगी से कहता है जिनका सम्बन्ध रोगी की मानसिक ग्रन्थि से होने की संभावना होती है। चिकित्सक प्रत्येक शब्द के उत्तर देते समय रोगी के चेहरे को भली प्रकार से देखता रहता है। जिस शब्द का सम्बन्ध मानसिक ग्रन्थि से रहता है उसके सुनते ही रोगी के चेहरे पर कुछ घबड़ाहट-सी दिखाई देती है; कभी कभी वह उत्तर में समय भी अधिक लगाता है और किसी शब्द का उत्तर भी विलक्षण देता है। जिन शब्दों से रोगी की उक्त प्रतिक्रियायें होती हैं उन्हें मार्मिक शब्द (नोडल आइडिया) कहा जाता है। उत्तर देने में रोगी को देरी इसलिये लगती है कि उसका मन स्वाभाविक सम्बन्ध को काम करने से रोकता है, ताकि मानसिक ग्रन्थि का किसी प्रकार पता न चल जाय। रोगी को घबड़ाहट भी इसीलिये होती है और उसके विलक्षण उत्तर का यह भी कारण है।

शब्द सम्बन्ध की प्रयोग विधि

उक्त सिद्धान्त को युङ्ग और पीटरसन महाशय के दिये हुए निम्नलिखित प्रयोग के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

युङ्ग और पीटरसन का प्रयोग

(इस प्रयोग में समय मापने के लिये स्टाप वाच से काम लिया जाता है)—

संख्या	उत्तेजक शब्द	प्रतिक्रिया	सेकन्ड
१	सिर	बाल	१.४
२	हरा	मैदान	१.६
३	पानी	गहरा	५.०
४	लाठी	छुरी	१.६
५	लम्बा	टेबुल	१.२
६	जहाज	डूबना	३.४
७	पूछना	उत्तर देना	१.६

संख्या	उत्तेजक शब्द	प्रतिक्रिया	सेकण्ड
८	ऊन	बुनना	१.६
९	घृणित	भला	१.४
१०	झील	पानी	४.०
११	बीमार	आरोग्य	१.८
१२	स्याही	काली	१.२
१३	तैरना	तैर सकते हैं	३.८

उक्त उदाहरण में हम देखते हैं कि शब्द-संख्या नं० ३,६,१० और ३ के उत्तर देते-समय रोगी ने औसत समय से तिगुना समय लिया और शब्द-संख्या १३ जबाब बड़ा ही विचित्र था। रोगी के मन में इस समय भारी निराशा हो रही थी। उसके मन में आत्म-हत्या के विचार आ रहे थे। जिन शब्दों के उत्तर में अधिक समय लगा है उनका सम्बन्ध पानी से है। वास्तव में रोगी की आन्तरिक इच्छा पानी में डूब कर मर जाने की हो गई थी। इस इच्छा का पता युङ्ग महाशय ने उपर्युक्त प्रयग से लगा लिया। इसे जानकर रोगी के मानसिक रोग का उचित उपचार किया गया।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह प्रयोग रोगी के अन्य प्रकार से मानसिक अध्ययन करने के साथ साथ होने पर उसके रोग के समझने में सहायक होता है। इसका सफल प्रयोग करने के लिये मानसिक रोगों की चिकित्सा में पर्याप्त अनुभव की आवश्यकता होती है। इसके कारण इस विधि का अभी तक प्रचार अधिक नहीं हो पाया है। इसका आविष्कार युङ्ग महाशय ने किया है और मनासिक चिकित्सा में इसका सबसे अधिक सफल प्रयोग भी उन्होंने किया है।

संमोहन को प्रक्रिया

मानसिक ग्रन्थि का पता संमोहन के द्वारा चलाया जा सकता है। कभी कभी इसका प्रयोग प्रत्येक मनोविश्लेषक को करना पड़ता है। आजकल संमोहन के द्वारा बहुत से ;मानसिक रोग भी नष्ट किये जाते हैं। छोटे बालकों को तथा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व होनेवाले व्यक्ति को सम्मोहित करना सरल होता है। सम्मोहन दो प्रकार का होता है—एक सोनेवाला और दूसरा जाग्रत्।

सोनेवाले सम्मोहन में व्यक्ति को पहले सुलाया जाता है, पीछे उससे प्रश्नों के उत्तर देने को कहा जाता है। जो उत्तर इस समय वह व्यक्ति देता है वह अपने साधारण अवस्था में नहीं दे सकता। संमोहित व्यक्ति को उसके बचपन तक की बातें याद कराई जा सकती हैं। इस स्थिति में उसकी मानसिक स्थिति का कारण जाना जा सकता है। श्री मार्टिन प्रिन्स और वेल्स महाशय इस विधि को प्रायः प्रयोग में लाते थे।

संमोहन के प्रकार

सुप्त सम्मोहन को पैदा करने के लिये पहले संमोहित किये जानेवाले व्यक्ति को समझाया जाता है कि उसे किस प्रकार नींद आयगी। जब उसका ध्यान किसी बिन्दु पर लगाया जायगा तो उसे मानसिक शिथिलता आ जावेगी, फिर उसका बदन ढीला पड़ जावेगा, फिर उसे नींद आती मालूम होगी और फिर वह सो जायगा। उससे यह कह दिया जाता है कि उसे इस स्थिति में निर्देशक के शब्द के अतिरिक्त और कुछ न सुनावेगा। इस प्रकार कह देने के बाद उस व्यक्ति को किसी बिन्दु पर मन को लगाने के लिये कहा जाता है। कुछ देर के बाद उससे कहा जाता है कि अब उसे मानसिक शिथिलता आ रही है, अब उसका बदन ढीला हो रहा है, अब उसे नींद आ रही है, अब नींद आ गई। इस प्रकार संमोहित व्यक्ति अपनी साधारण चेतना को खो देता है। अब उससे अपने पुराने अनुभव के विषय में पूछा जा सकता है।

सुप्त संमोहन

जाग्रत संमोहन में कोई बात सुझा दी जाती है। उसका मन उस बात में लग जाता है। साथ ही साथ वह दूसरा काम भी अपने चेतन मन से करता रहता है। कभी-कभी गणित के सवाल भी इस प्रकार कराये जा सकते हैं। श्री वेल्स महाशय ने अपने एक प्रयोग में संमोहित व्यक्ति को १७५ से २५ का गुण करने को दिया और उसका मन दूसरे काम में लगा दिया। इस व्यक्ति से पहले से कह दिया गया था कि वह एक अंकगणित का सवाल बिना उसके जाने कर डालेगा और उत्तर भी अनजाने ही लिख देगा।

जाग्रत सम्मोहन

जब सवाल दिया जा चुका तो उसे अनेक बातों में लगा दिया गया। बीच में कुछ समय भी दिया गया। उस समय उसे सवाल स्मरण नहीं था। जब कुछ देर के बाद उससे सवाल का उत्तर लिखाया गया तो अनायास उत्तर ४,३२५ कहा गया। यहाँ रोगी ने गुणा करने में कुछ भूल कर दी, पर इस प्रकार की भूल वह साधारण चेतना से सवाल करने में भी कर सकता था।

कभी कभी जाग्रत् सम्मोहन में अपने आप लिखने की विधि को काम में लाया जाता है। इस विधि में रोगी को अपने अंग शिथिल करने को कहा जाता है। उससे फिर कोई बातचीत छेड़ दी जाती है। उसके सामने कागज पहले से ही रख दिया जाता है, धीरे से उसके हाथ में पेन्सिल पकड़ा दी जाती है और उसके कान में प्रश्न को कह दिया जाता है। अब व्यक्ति उसके अनजाने से ही उस प्रश्न का उत्तर लिख देता है। इस प्रसंग में मार्टिन प्रिन्स महाशय का निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है,—

एक स्त्री को गिरजाघर की मीनारों और गिरजाघर की ऊँची दीवालों से भय हो गया था। वह विशेषकर ऐसे गिरजाघर से डरती थी जिसमें घंटे बजते हों। इसका कारण जानना बड़ा कठिन था। उसका कारण स्वगत लेख के द्वारा ज्ञात किया जा सका। जब उसकी माँ दुःख के मारे मर रही थी और उसका आपरेशन हो रहा था, तब गिरजाघर का घंटा बजता था। यह उसे असह्य हो गया था। अतएव घंटे की आवाज उसे सदा के लिये अप्रिय हो गई थी। अतएव वह गिरजाघर और उसके घंटे की आवाज से डरने लगी।

भूत-प्रेत के भगाने में उपयोग

संमोहन विधि के द्वारा भूत-प्रेत को झाड़ा जाता है। जब रोगी को सुझाया जाता है कि अब उसके सिर अमुक भूत आवेगा तो वह आ जाता है। कभी-कभी इसके लिए लाल बत्तियों (लालटेन) का प्रयोग किया जाता है। रोगी को लालटेन की ओर एक टक होकर देखने को कहा जाता है। उसे टकटकी लगाकर जब रोगी देखने लगता है तो उसकी साधारण चेतना चली जाती है और दूसरी चेतना ही आ जाती है। डाक्टर फ्रेन्कलिन प्रिन्स महाशय ने डोरिस नाम की महिला का उदाहरण दिया है जिसके भीतर कई व्यक्तित्व थे। इसी तरह डाक्टर अनीटा म्हूल महाशय ने

इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकोलाजी, में एक उदाहरण दिया है जिसमें एक ही व्यक्ति के भीतर सात व्यक्ति आते थे। इसमें से चार स्त्रियाँ थीं और तीन पुरुष थे। ये लोग भिन्न भिन्न प्रकार के थे। इनका पता स्वगत लिखावट से चलाया गया।

किसी भी बालक को अथवा मानसिक झंझटवाले व्यक्ति को एकटक उसकी ओर देखकर सम्मोहित करना सम्भव है। लेखक के एक मित्र 'राम-राम' कहते-कहते बालकों का सम्मोहित कर देते हैं। कितने ही लोग पास देकर सम्मोहित करते हैं। प्लेनचेट के प्रयोग सम्मोहन पर ही निर्भर करते हैं। मनुष्य स्वयं अपने हाथ से ऐसी बातों के उत्तर लिख सकता है जिनके उत्तर उसके चेतन मन का नहीं मालूम है। इस प्रकार के प्रयोगों में कुछ लोग बहुत रुचि दिखाते हैं। पर मानसिक चिकित्सा के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य के लिए किसी व्यक्ति को सम्मोहित करना हानिकारक होता है। इससे मानसिक विच्छेद और भी बढ़ जाता है और मनुष्य की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है।

बहुत से मनोविश्लेषक मानसिक ग्रन्थि की खोज के लिए सम्मोहन क्रिया का प्रयोग उचित नहीं समझते। अब इसका प्रयोग कम होते जा रहा है। सम्मोहित अवस्था में जो भाव रोगी के मानस पटल पर आते हैं उससे उसके रोग का विनाश नहीं होता। रोग का विनाश तभी होता है जब कि रोगी की साधारण चेतना में उसकी दुःखदायी स्मृतियाँ आती हैं, वह दुःख की अनुभूति करता है और उन स्मृतियों से न भागकर उनका अपने आपसे समन्वय स्थापित कर लेता है।

मानसिक ग्रन्थि का रेचन

मानसिक ग्रन्थि की खोज करना एक भारी काम है, पर अनुभवी मनोवैज्ञानिक के लिये ग्रन्थि का अन्दाज लगा लेना कठिन नहीं है। पर ग्रन्थि का खोजना उसका निवारण नहीं है। जिस प्रकार शारीरिक रोग का कारण जान लेने से शारीरिक रोग नष्ट नहीं हो जाता, इसी तरह मानसिक रोग का ठीक कारण जान लेने से मानसिक रोग नष्ट नहीं होता। मानसिक रोग के नष्ट होने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि दबी

मानसिक ग्रन्थि के रेचन से लाभ

हुई ग्रन्थियों के आवेग का रेचन हो। इसके लिए पुराने अनुभव की स्मृति को रोगी के मानस पटल पर लाना पड़ता है। जब रोगी अपने अनुभव को पूरी वेदना सहित स्मरण करता है, अर्थात् जिस दुःख के कारण वह पुरानी घटना को भूलने की चेष्टा करता है उसका पूरा अनुभव कर लेता है तो उसका मानसिक रोग साधारणतः नष्ट हो जाता है। फ्रायड महाशय अनेक रोगियों का रोग उनकी दबी हुई वेदना-पूर्ण स्मृति को चेतना के ऊपर लाकर नष्ट कर डालते थे।

भाव के रेचन की महत्ता

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जब तक रोगी अपने पुरानी अनुभूति को वेदना के साथ फिर से अनुभव नहीं करता और उसकी आत्म-स्वीकृति नहीं करता उसका मानसिक रोग नष्ट नहीं होता। देखा गया है कि संमोहन की अवस्था में रोगी की मानसिक ग्रन्थि का पूरा पता चल जाता है, रोगी अपनी अनुभूति को स्वीकार करता है पर इसका उसके रोग पर कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। पीछे दिये गये ११६ पृष्ठ के उदाहरण में रोगी ने अपनी माँ की मृत्यु का दुःख सहज लेखन क्रिया के द्वारा व्यक्त किया। जब पीछे उस घटना को पूछा गया तो उसने उसे सामान्य व्यक्ति की तरह बिना वेदना के वर्णन भी कर दिया पर इससे मानसिक रोग नष्ट नहीं हुआ। महात्मा गांधी जी को अपने पिता की मृत्यु की घटना अथवा मांस खाने की घटना याद रह सकती है और वे उसे बिना किसी वेदना के वर्णन कर सकते हैं पर इस प्रकार इस वर्णन से मानसिक ग्रन्थि के भावों का रेचन नहीं होता। जब पिछली घटना उसी दुःख अथवा आत्मग्लानि के साथ, जिसका अनुभव रोगी को अतीत में हुआ था, स्मृति के पटल पर आती है तभी पुराने भावों का रेचन होता है और मानसिक ग्रन्थि नष्ट होती है। यदि कोई व्यक्ति अपने कुकृत्य का अभिमान के साथ वर्णन करता है ताकि उसे सभी लोग सत्यवक्ता कहें तो इससे उसका मानसिक विकार नष्ट नहीं होता। जब पुरानी स्मृति मनुष्य के अभिमान में अन्तर करती है तभी उसका सच्चा लाभ होता है।

मानसिक ग्रन्थि के रेचन के लिए मनुष्य को अचेतन अवस्था में न रह चेतन अवस्था में ही रहना आवश्यक है जिससे कि वह अपने अनुभव को

स्वीकार कर सके। इसके कारण रोगी से कई दिनों तक बातचीत करना आवश्यक होता है। पर जब तक मानसिक चिकित्सक और रोगी में सहानुभूति का भाव नहीं होता और रोगी चिकित्सक को अपना मित्र नहीं समझ लेता तब तक उसमें अपने पुराने कृत्यों को उसके समक्ष स्वीकार करने की हिम्मत नहीं आती। इसके कारण जैसे-जैसे चिकित्सक उसकी मानसिक ग्रन्थि का पता चलाने जाता है वैसे-वैसे रोगी का मन उसे छिपाने की नई-नई विधि काम में लाता है। इस प्रकार की लुका छिपी के परिणाम-स्वरूप कभी-कभी रोगी का रोग और भी बढ़ जाता है। लेखक के एक मित्र मनोविश्लेषण विधि द्वारा एक महिला की वमन की बीमारी के मानसिक कारण का पता चला रहे थे। इसी बीच उसका रोग इतना बढ़ गया कि जिस नगर में उसका उपचार हो रहा था वहाँ उसका ठहरना कठिन हो गया। इतना ही नहीं स्त्री के पति को अपनी नौकरी छोड़ कर उस स्थान से चला जाना पड़ा।

सहानुभूति से सहायता

मानसिक रोगी की नैतिक भावना प्रायः बड़ी ऊँची रहती है। रोगी चिकित्सक की नैतिक भावना को भी ऐसी ही ऊँची समझता है, अतएव उसके समक्ष अपने रोग के कारण को स्वीकार करना बड़ा कठिन होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि स्वयं चिकित्सक अपनी नैतिक धारणाओं को नीचा ही दिखावे। उसके नैतिक दृष्टिकोण का उदार होना अत्यन्त आवश्यक है। आलोचक और अधिक शिष्टाचार की बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति कभी भी मानसिक चिकित्सक नहीं हो सकता। मानसिक चिकित्सक को सभी प्रकार के रोगियों के प्रति सहानुभूति का भाव रखना पड़ता है अर्थात् उसके लिए किसी प्रकार का पाप अक्षम्य नहीं हैं। इतना ही नहीं स्वयं चिकित्सक को अपनी भूलों की आत्म-स्वीकृति करने की भी हिम्मत आती है। मानसिक चिकित्सक को कोई ऐसी बात रोगी में ढूँढ़नी पड़ती है जिससे वह उसके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखा सके। जब रोगी और चिकित्सक में भावों की एकता हो जाती है तो रोगी अपने दुःखद अनुभव को स्मरण कर लेता है और उसके भावों का रेचन हो जाता है।

मानसिक ग्रन्थि का निवारण एकाएक नहीं होता। इसके लिये मानसिक

चिकित्सक को बड़े धैर्य से काम लेना पड़ता है। रोगी को अपने साथ रखना इसमें लाभदायक होता है। जो बातें रोगी अनायास करता है वे रोग के निवारण करने में जितनी सहायक होती हैं उतनी प्रयोग के समय कही गई बातें सहायक नहीं होती। यदि कोई मानसिक चिकित्सक किसी मानसिक रोगी को अपने पास रख कर उससे प्रेम से रोज बातचीत करे तो संभव है कि रोगी का मानसिक रोग बिना किसी विशेष प्रयास के नष्ट हो जाय। मानसिक रोग की चिकित्सा में जितना ही उतावलापन दिखाया जाता है वह उतना ही अधिक जटिल हो जाता है। सहज भाव में आने पर रोग सरलता से नष्ट हो जाता है।

कितने ही मानसिक चिकित्सक दबे हुए मानसिक विकार के नष्ट करने के लिये प्रतिकूल आचरण करने की सलाह देते हैं। पर यह उचित नहीं है। मान लीजिये कोई व्यक्ति मानसिक ग्रन्थि के कारण बड़ा शिष्टाचारी व्यक्ति बन गया है। इसके कारण उसे विशेष प्रकार की झक अथवा शारीरिक रोग हो गया है, तो इस मानसिक अथवा शारीरिक रोग को नष्ट करने के लिये उक्त व्यक्ति की मानसिक धारणा में परिवर्तन आवश्यक है पर आचरण में परिवर्तन आवश्यक नहीं है। फिर मानसिक धारणा का परिवर्तन मानसिक ग्रन्थि के रेचन के रूप में ही होना चाहिए, अन्यथा पुराना रोग नष्ट नहीं होता और नयी कोई मानसिक झंझट उत्पन्न हो जाती है। इस प्रसंग में हेड-फील्ड महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण जिसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है उल्लेखनीय है—

मानसिक भावों का रेचन और आचरण

एक महिला को निराशा और आत्महत्या की भावना उत्पन्न हुई। उसका आचरण अति विनीत था। वह जब मनोवैज्ञानिक के पास सलाह के लिये गई तो उसने उसे सलाह अपने विनीत भाव को छोड़ने की दी। पर इससे उसकी मानसिक व्यथा नष्ट न होकर और भी बढ़ गई। उसे अब आत्मभर्त्सना होने लगी। फिर वह हेडफील्ड महाशय के पास आई तो उन्होंने उसकी पुरानी मानसिक ग्रन्थि का पता चलाय और उसकी आत्म-स्वीकृति कराके दबे भाव का रेचन किया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वह बचपन में

बड़ा ही लड़ाका थी और इसके कारण वह एक बार खूब पीटी गई थी। इससे उसकी लड़ने की प्रवृत्ति का दमन हो गया। और वह अति सुशील हो गई। पर प्रौढ़ होने पर उसमें निराशा और आत्महत्या के भावों का उदय हो गया। पुरानी दलित भावनाओं को स्वीकार करने पर उसके आचरण पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, पर उसका मानसिक रोग नष्ट हो गया। वह अब एक साधारण महिला जैसा व्यवहार करने लगी। न अब उसमें अति विनीत भाव था और न उद्दण्डता ही थी।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि दलित मनोभाव के रेचन से मनुष्य के वर्तमान आचरण में अनैतिकता नहीं आती, किन्तु उसकी अस्वाभाविकता मिट जाती है। दलित भावों के रेचन होने पर मनुष्य सामान्य व्यक्ति जैसा व्यवहार करने लगता है। एक ओर उसका अपने चरित्र के सद्‌गुण के लिये घमंड मिट जाता है और दूसरी ओर उसका मानसिक रोग भी नष्ट हो जाता है।

भिन्न-भिन्न मानसिक चिकित्सकों में रोगी की मानसिक ग्रन्थियों को रेचन कराने की कम अथवा अधिक योग्यता रहती है। जो व्यक्ति जितना अधिक रोगी के प्रति उच्च तथा आदर का भाव रखता है वह उतने ही जल्दी उसकी मानसिक ग्रन्थियों का निवारण कर डालता है। कितने ही मानसिक रोगी डाक्टर फ्रायड से चिकित्सा कराने के बाद डाक्टर होमरलेन के पास आते थे और जिन लोगों की सफल चिकित्सा डाक्टर फ्रायड करने में असमर्थ रहते थे उन्हें डाक्टर होमरलेन आरोग्य बनाने में समर्थ होते थे। इसका कारण दोनों व्यक्तियों का रोगी के प्रति दृष्टिकोण में भेद था। डाक्टर फ्रायड की दबी मानसिक ग्रन्थि के प्रति अनुदार नैतिक दृष्टि रहती थी, वे उसे बुरी ही मानते थे; डाक्टर होमरलेन दबानेवाली नैतिक भावना को दोषी ठहराते थे। अतएव दलित भावना को डाक्टर होमरलेन के समक्ष प्रकाशित होने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। डाक्टर होमरलेन का दृष्टिकोण रोगों को नष्ट करने के लिये उपयुक्त था। सामान्यतः यह दृष्टिकोण एक आरोग्य व्यक्ति के लिये उतना उपयुक्त न होगा। साधारण व्यक्ति की नैतिक भावना को ऊँची और प्राकृतिक इच्छाओं को नीची ही मानना पड़ता है। पर मानसिक स्वास्थ्य

मानसिक चिकित्सक की योग्यता

कायम रखने के लिये अपनी नैतिक धारणा को अत्युच्च न बनाना आवश्यक होता है। न नैतिकता विहीन जीवन और न अनैतिक जीवन मानसिक स्वास्थ्य के लिये उपयुक्त है। व्यवहारिकता को सदा ध्यान में रखकर ही मनुष्य को अपना नैतिक आदर्श बनाना चाहिये।

मानसिक शक्ति का शोध

दलित मानसिक ग्रन्थि के मानस पटल पर आने से मनुष्य अपने भीतर बहुत-सी शक्ति की अनुभूति करता है। इसमें कुछ शक्ति तो नष्ट हो जाती है और कुछ मन में ही रह जाती है। इस शक्ति का शोध होना अत्यन्त आवश्यक है। मानसिक शक्ति का शोध मानसिक ग्रन्थि के निवारण का एक उपाय है। यहाँ यह आवश्यक है कि मानसिक शक्ति का शोध तब तक नहीं होता जब तक मनुष्य उस शक्ति को जानता नहीं है। दमन से मानसिक शक्ति विनाशकारी काम में लग जाती है; रचनात्मक काम में शक्ति को लगाना उसका शोध करना है। यह तभी संभव है जब मनुष्य अपनी शक्ति को जानता है और उसपर अपना नियन्त्रण रखता है। जिस शक्ति का हमें ज्ञान नहीं रहता उसपर हमारा नियन्त्रण भी नहीं रहता और जो शक्ति हमारे नियन्त्रण में नहीं रहती वह चमत्कारिक कार्य भले ही कर दे, पर वह अन्त में ध्वंसात्मक कामों में परिणत हो जाती है। विवेक के नियन्त्रण में रहनेवाली शक्ति ही रचनात्मक काम में लगाई जा सकती है। वही शक्ति विवेक के नियन्त्रण में रहती है जिसे हम जानते हैं और जिसका उपयोग हम जहाँ चाहते हैं कर सकते हैं।

मानसिक रोगी को अच्छे होने की अवस्था में किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। इस प्रकार के काम उसकी दबी मानसिक शक्ति का शोध करते हैं और उसके भीतरी और बाहरी मन में एकता स्थापित करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार रोगी में आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है और आत्म-विश्वास के आने पर वह फिर रोग का आवाहन नहीं करता। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य की जीवनधारा या तो रुकावट की अवस्था में रहती है अथवा विकृत रूप से प्रकाशित होती है। सहज अवस्था

के प्राप्त होने पर फिर मनुष्य की जीवनधारा साधारण रूप से प्रवाहित होने लगती है।

जब मनुष्य की मानसिक शक्ति का शोध होने लगता है तो मानसिक रोगी ही एक महान व्यक्ति बन जाता है। जो मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति का जितना शोध करता है अर्थात् उसे नैसर्गिक मार्ग से प्रकाशित न होने देकर रचनात्मक कार्य में लगाता है वह अपने-आपको उच्च कोटि का व्यक्ति बनाता है। मनुष्य को जो शक्ति प्रकृति ने दी है उससे वह अपने-आपको ऊँचा उठा सकता है, अर्थात् संसार का कोई उपयोगी कार्य कर सकता है अथवा इसे नैसर्गिक रूप मे प्रकाशित करके, अर्थात् वैयक्तिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाकर, समाप्त कर सकता है। जो व्यक्ति जितना आत्मसंयम कर सकता है वह उतना ही संसार के उपयोगी काम करने की योग्यता रखता है।

मानसिक शक्ति के शोध से मनुष्य को इच्छाशक्ति दृढ़ होती है, उसका आत्मविश्वास बढ़ता है और उसमें आन्तरिक प्रसन्नता उत्पन्न होती है। दूसरे लोगों को प्रभावित करने की शक्ति मानसिक शक्ति के शोध से ही उत्पन्न होती है। अपनी नैसर्गिक इच्छाओं को अपने वश में करने से ही इस शक्ति का सञ्चय होता है, और उसे रचनात्मक कामों में लगाने से उसका शोध होता है।

मानसिक शक्ति के शोध के मार्ग धन, कला, संगीत, शिक्षा तथा अन्य प्रकार की लोकसेवा है। दूसरे लोगों के दुःखों के निवारण करने से अपनी मानसिक शक्ति का शोध होता है। इससे अपने मानसिक रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सा की शिक्षा मनुष्य को पाशविकता की ओर नहीं ले जाती वरन् उसे आत्मसंयम का पाठ पढ़ाती है। आत्मसंयम दमन से भिन्न वस्तु है। इसमें उतावलेपन और अतिक्रम के लिये स्थान नहीं। यह धीरे-धीरे आता है और इसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य को मध्यम मार्ग अर्थात् समत्व भाव का अनुसरण करना आवश्यक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता और धम्मपद इसी मार्ग की शिक्षा देते हैं।

पुनःशिक्षा

रोगी को स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करने के लिये पुनःशिक्षा की आवश्यकता होती है। पुनःशिक्षा मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन करती है, उसके सभी प्रकार के विचारों में अब विशेष प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। नैतिक दृष्टि से देखने से पुनःशिक्षा का ध्येय सामान्य शिक्षा से भिन्न है। सामान्य शिक्षा बालकों के लिये होती है और पुनःशिक्षा प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए। शिक्षा का ध्येय बालकों के नैतिक जीवन को विकसित करना होता है, पुनः शिक्षा का ध्येय इस विकास में जो रुकावट उत्पन्न हो जाती है इसे दूर करना और फिर से जीवनधारा को सुचारू रूप से चलाना होता है। बालक के नैतिक मन का विकास शिक्षा से होता है और पुनःशिक्षा से मनुष्य के मन के विभिन्न भागों में सामञ्जस्य अथवा एकता स्थापित होती है।

पुनःशिक्षा का स्वरूप

हमारी साधारण शिक्षा के द्वारा बालकों के मन में एक ओर विभिन्न नैतिक धारणायें बनती हैं और दूसरी ओर उनका व्यक्ति की पाशविक प्रवृत्तियों से अन्तर्द्वन्द्व प्रारंभ हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। पुनःशिक्षा इस अन्तर्द्वन्द्व का अन्त करके मनुष्य को स्वास्थ्य प्रदान करती है। बालक में नैतिक भावनाओं को दृढ़ करना मनुष्यत्व के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है, पर इसके कारण ही मनुष्य में अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाता है। अब यदि इस अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का अन्त न किया गया तो मनुष्य अपने जीवन को विकसित न करके एक रोगी का जीवन व्यतीत करता है, अथवा वह किसी ध्वंसात्मक काम में अपने लगा देता है। पुनः शिक्षा के द्वारा मनुष्य की आन्तरिक वासनाओं और उसके आदर्शों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है। कुछ दूर तक मानसिक अन्तर्द्वन्द्व भी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये लाभकारी होता है। बिना इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व के मनुष्य की इच्छाशक्ति दृढ़ नहीं होती और उसका चरित्र बलवान नहीं होता। पर जब अन्तर्द्वन्द्व एक सीमा के बाहर हो जाता

है तो उससे व्यक्तित्व का बल बढ़ता नहीं, वरन् घटता है, और फिर यदि मन के दो भागों में किसी प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित न किया गया तो मानसिक रोग की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

पुनः शिक्षा का ध्येय मनुष्य की नैतिक धारणाओं में परिवर्तन करना होता है। कभी-कभी मनुष्य अपनी आन्तरिक धारणाओं के प्रतिकूल कार्य करता है। कारण उसे अनेक प्रकार की मानसिक चिन्तायें उत्पन्न हो जाती हैं। वह अपना भूल को हठवश समझता नहीं है और यदि उसे समझा भी दिया जाय तो छोड़ता नहीं है। वह सोचता है कि उसके नैतिक विचार ही ठीक विचार हैं। इस प्रकार वह अपने आन्तरिक मन के प्रतिकूल ही काम करता है। हमारा आन्तरिक मन वैयक्तिक नहीं है, वह समष्टि मन है। अतएव जब हम समष्टि का भावना के प्रतिकूल आचरण करते हैं तब अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को भोगने लगते है। पुनः शिक्षा हमारी इस प्रकार की धारणाओं में सुधार करती है। हमें अपनी वैयक्तिक जिद्द छोड़कर ऐसे मार्ग को अपनाना पड़ता है जो समष्टि मन ठीक समझता है।

पुनः शिक्षा का लक्ष्य

पुनः शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के आदर्श व्यवहार्य भी बनाता है। कितने ही लोगों के जीवन के आदर्श इतने ऊँचे होते हैं कि उतना ऊँचा आचरण करना मनुष्य को संभव ही नहीं। ऐसी अवस्था में ये लोग अपनी असफलता के लिए सदा आत्मभर्त्सना की भावना की अनुभूति किया करते हैं। यह आत्मभर्त्सना असह्य रहती है, अतएव इसका आरोपण दूसरे लोगों पर किया जाता है और दूसरे लोगों को अपनी असफलता का कारण मान लिया जाता है। इस प्रकार की आत्मभर्त्सना का अन्त करना और अपने आपको धोखा देने से बचाना पुनः शिक्षा का लक्ष्य है। पुनः शिक्षा के द्वारा एक ओर व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के शोध करने की चेष्टा की जाती है और दूसरी ओर नैतिकता की कठोरता को कम किया जाता है, जिससे मनुष्य की नैसर्गिक इच्छाओं और नैतिक भावनाओं में समरसता स्थापित हो जाती है। पुनः शिक्षा से मनुष्य अपने आपको पहचानता है। वह अपनी कमजोरियों को मान लेता है। इन्हें जानकर वह आत्मोद्धार का उपाय सोचता है। एक ओर

उसका अभिमान कम हो जाता है, जिसके कारण वह दूसरे लोगों के दोषों को भी क्षम्य मानता है और दूसरी ओर उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है, क्योंकि वह अब नैसर्गिक इच्छाओं की शक्ति को लोकोपकारी काम में लगा सकता है।

मनुष्य की कार्यक्षमता उसकी नैतिक भावनाओं अर्थात् उसके आदर्श और उसकी नैसर्गिक इच्छाओं की एकता पर निर्भर करती है। जब इन दोनों में विषमता उत्पन्न हो जाती है तो मनुष्य की कार्यक्षमता तुच्छ हो जाती है। अपने जीवन के आदर्श प्राप्त करने के लिये हमें जिस रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता होती है, वह दो प्रकार का होता है—एक वाह्य जगत में और दूसरा आन्तरिक जगत में। मनुष्य न केवल उस जगत् का जिसमें वह रहता है निर्माण करता है वरन् वह अपने आप का भी स्वयं ही निर्माण करता है। इन दो प्रकार के रचनात्मक कार्यों के करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता होती है वह प्राकृतिक शक्ति ही है और यह नैसर्गिक इच्छाओं से ही प्राप्त होती है। अतएव यह हमारा रचनात्मक कार्य तभी संभव होता है जब हमारे अचेतन मन और चेतन मन, नैसर्गिक इच्छाओं और आदर्शों में सामञ्जस्य हो। पुनः शिक्षा का लक्ष्य इसी एकता को स्थापित करना है।

पुनः शिक्षा के साधन

पुनः शिक्षा का एक साधन धर्म है। आधुनिक काल में धर्म सांसरिक पदार्थों के प्राप्त करने का साधन बना लिया गया है। अतएव धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की सामाजिक झंझटें उत्पन्न होती हैं। वास्तव में यह अपनी स्वार्थमयी भावनाओं की पूर्ति के लिये धर्म की आड़ लेना है। धर्म का मुख्य ध्येय मनुष्य को वृहतात्मा का ज्ञान कराना है। धर्म एक ओर मनुष्य के अहंकार की कमी करता है और दूसरी ओर मनुष्यमात्र को अपने कुटुम्ब के समान मानने की शिक्षा देता है, तथा दान-पुण्य के द्वारा लोगों से मैत्री भावना का अभ्यास कराता है। इससे अनेक प्रकार के मानसिक रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य में अद्भुत मानसिक शक्ति का विकास होता है।

हम जो कुछ भी करते हैं उसका हमें अभिमान होता है। हमारा नैतिक

आचरण भी हमारे अभिमान को बढ़ाता है । पर यदि इस अभिमान को सीमित न रखा जाय तो वह विक्षिप्तता का कारण बन जाता है । किसी प्रकार की विषमता मानसिक रोग है, इस मानसिक रोग का निवारण आत्म-ज्ञान से होता है । आत्म-ज्ञान का देना ही धर्म का मुख्य लक्ष्य है। धर्म के द्वारा महान् तत्व की पहचान होती है, जब मनुष्य अपनी तुलना इस तत्व से करता है तो वह अपने आपको तुच्छ समझ कर दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से अपने आप को रोकता है । वह इस तत्व को जब अपने आपके रूप में पहचान लेता है तो वह किसी प्रकार की कमी के लिये दुःखी नहीं होता। उसकी सब प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं । अपने आप को सब में देखना और सबको अपने आप में देखना यही धर्म शिक्षा का मूल तत्व है। इस शिक्षा के प्राप्त होने पर अनेक प्रकार की दुःखदायी मानसिक भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं और नई ग्रन्थियों का निर्माण नहीं होता—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवविजानतः
तत्र को मोहः को शोक एकत्वमनुपश्यतः—ईशावास्योपनिषद्

सभी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों की उत्पत्ति अपने आप को धोखा देने की इच्छा से होती है । जो व्यक्ति यह सोचता है कि उसे परमात्मा सभी समय देख रहा है उसे किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक पाप छुपाने की कैसे इच्छा हो सकती है ? सच्चे धार्मिक व्यक्ति सरल होते हैं और वह सदा शान्त चित्त रहते हैं ।

हमारे समाज में जैसा धर्म प्रचलित है वह उक्त कल्पना के विरुद्ध है। इससे आत्मज्ञान और आत्मोद्धार न होकर अज्ञान और अभिमान की वृद्धि होती है। जब धर्म एक सामाजिक संस्था का रूप ले लेता है तो सामान्य लोगों के मन पर अधिकार प्राप्त करने के लिये धर्म के ठेकेदार उत्पन्न हो जाते हैं। ये लोग समाज में अनेक प्रकार के अन्धविश्वास फैला कर अपना समाज पर प्रभुत्व जमाते हैं । मनुष्य को इस प्रकार वे गुमराह कराकर अनेक प्रकार के अत्याचार धर्म के नाम पर कराते हैं। इस तरह मनुष्य धर्म के द्वारा आत्म-विनाश करता है।

संसार के अधिक धर्म ईश्वर की कल्पना पर आधारित हैं । ईश्वर का भय मनुष्यों में डालकर उन्हें वश में रखा जाता है । इस प्रकार कई तरह की स्वर्ग और नरक की कल्पनायें की जाती हैं । ये सभी बातें मनुष्य के आन्तरिक भावों का आरोपण मात्र हैं । इस प्रकार की कल्पनाओं से मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि न होकर उसका ह्रास ही होता है। डाक्टर होमरलेन का कथन है कि कामवासना और धर्म ही मनुष्य के मानसिक रोगों के अधिक कारण होते हैं। ईश्वर का भय पागलपन का कारण बन जाता है । डाक्टर होमरलेन द्वारा इलाज किया गये एक नरघातक पागल का उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इससे पुनः शिक्षा की प्रक्रिया स्पष्ट होती है—

डाक्टर होमरलेन एक बार एक पागलखाने में गये और वहाँ के अधिकारी को कुछ पागलों को अपने मानसिक प्रयोग बताने के लिये कहा। इस पर वह अधिकारी झुंझला उठा और बोला कि सब मनचले लोग हमारे यहाँ अपने प्रयोग के लिये आ जाते हैं और बेचारे रोगियों को तंग करते हैं। मैं अपने किसी रोगी को आपके मानसिक प्रयोग के लिये नहीं देना चाहता पर कुछ देर के बाद वह बोला—"हाँ मेरे पास एक आत्म-हत्या करनेवाला रोगी है उसे तुम देख सकते हो । उसका अब तुम और कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह मरने पर तुला हुआ है, उसने खाना-पीना छोड़ दिया है, उसे गद्देदार कमरे में रखा जाता है" । इतना कह कर वह अधिकारी डाक्टर होमरलेन को उस रोगी के पास ले गया । वह रोगी एक ऐसे कमरे में वास्तव में रखा जाता था जिसमें जमीन और दीवाल पर गद्दा लगा हुआ था ताकि वह अपना सिर पटक कर न मर जाय।

इस रोगी की पहली बातों को जानने से ज्ञात हुआ कि यह नरघातक पागल है। वह प्रत्येक व्यक्ति को जिसे वह ऊँचा अथवा विशेष प्रकार से सजा-धजा देखता है मार डालने के लिये दौड़ पड़ता है । वह सभी प्रकार के अधिकारियों का शत्रु है। उसकी नरघातक प्रवृत्तियों को जानकर उसे पकड़ कर पागलखाने में रखा गया है। पर जब से वह वहाँ रखा गया तब से उसमें अपने आपको ही मार डालने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है । अब उसे

आत्म-हत्या करने से रोकना अत्यन्त कठिन हो गया है। यहाँ कह देना अनुचित न होगा कि नरघात और आत्म-घात की प्रवृत्तियों की जड़ एक ही है और वे एक दूसरे की पूरक हैं। जब मनुष्य को नरघातक की प्रवृत्ति के कार्य करने में रुकावट पड़ती है तो वह आत्म-घात कर डालता है। प्रभुता के इच्छुक मनुष्य में परघात- और आत्म-घात की प्रबल प्रवृत्तियाँ होती हैं। यही कारण है कि उसके कृत्य भारी-भारी युद्धों के कारण होते हैं और जब वह इनमें सफल नहीं होता तो आत्म-हत्या करके मरता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति का उदय मनुष्य के मन में आत्महीनता की ग्रन्थि से होता है।

डाक्टर होमरलेन ने पहुँचते ही उस नरघातक पागल को "सुप्रभात" (गुडमार्निङ्ग) कहा। वह इन्हें देखते ही हँसा और कहने लगा कि तुम मेरे पास क्यों आये हो ? डाक्टर होमरलेन ने कहा "मुझे मानसिक रोग है, मैं तुमसे अपनी चिकित्सा कराने के लिये आया हूँ। मैंने सुना है कि तुम इस विद्या को जानते हो"। डाक्टर होमरलेन इस समय पागल के अचेतन मन से बात कर रहे थे अतएव उनका उक्त कथन मज़ाक नहीं था। वे उस पागल से ही उसकी चिकित्सा का मार्ग जानना चाहते थे। उस पागल ने जवाब दिया— 'हाँ मैं मानसिक चिकित्सा जानता हूँ, तुम्हें यह कहाँ से ज्ञात हुआ।" इस प्रकार दोनों व्यक्तियों में आपस में बातचीत प्रारम्भ हुई।

इस पागल के पूर्व संस्कारों के अध्ययन से पता चला कि उसकी माँ बहुत ही धार्मिक महिला थी और अपने बेटे को धार्मिक व्यक्ति बनाना चाहती थी; अतएव उसने छुटपन से ही उसे बाइबिल आदि पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। उसे सिखाया गया था कि ईश्वर संसार का स्वामी है, वह हमारे सभी कामों को छिपकर देखता रहता है, और हमें बुरे कामों के लिये दण्ड देता है। इस प्रकार की बातों से रोगी ने ईश्वर को एक पुलिस ऑफिसर के सदृश व्यक्ति मान लिया। जिसके प्रति भय और घृणा का भाव होना स्वाभाविक था। वह एक ओर बड़ा धार्मिक व्यक्ति बन गया और दूसरी ओर उसके आन्तरिक मन में उन सभी बातों के लिये घृणा हो गई जो ईश्वर का स्मरण कराती अथवा प्रभुत्व की प्रतीक थीं। इस तरह वह ऊँचे व्यक्ति,

अथवा अधिकार रखनेवाले व्यक्ति को घृणा करने लगा और वे जहाँ कहीं ऐसे व्यक्ति मिलते उन्हें नुकसान पहुँचाने की चेष्टा करता।

डाक्टर होमरलेन ने इस व्यक्ति की ईश्वर के विषय में कल्पना बदल दी। उन्होंने उसे सिखाया कि ईश्वर सभी का मित्र है। वह सभी लोगों को प्यार करता है और उसका सबसे अधिक प्यारा वह व्यक्ति होता है जो अपने आपको कमजोर समझता है। ईश्वर हमें भूलों से बचाता है और उसने संसार के पदार्थ हमारे सुख के लिये निर्मित किये हैं। ईश्वर प्रेमरूप ही है। इस प्रकार के विचारों को बारबार दुहराने से उसकी धर्मविषयक भावनायें बदल गईं और वह स्वस्थ व्यक्ति बन गया।

संसार के धर्मों में ईश्वर स्वामी, पिता, माता, पति, मित्र और पुत्र के रूप में माना गया है। वास्तव में जिस व्यक्ति का जो भाव दलित रहता है वह ईश्वर को अपनी कल्पना में उसी रूप में लाता है। ईश्वर में भय की कल्पना करना अपनी इच्छाशक्ति को कमजोर बनाना है और इस प्रकार मानसिक रोगों की वृद्धि करना है, इसके प्रतिकूल उसमें प्रेम की कल्पना करना अपनी आत्मा का प्रसार करना है। इससे इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है और मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। माता, पति, मित्र, और पुत्र के रूप में ईश्वर की कल्पना करना ही मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से लाभदायक है। वास्तव में ये सब भाव अपनी आत्मा के आरोपणमात्र ही हैं। अपने से बाहर ईश्वर की कल्पना करना एक प्रकार का भोलापन है। इससे मुक्त होकर अपने आप में ही अपने प्रेमी को देखना पूर्णता की ओर जाना है—

नाभी बिच कस्तूरी बसे, मूरख मृग नहि सूझ।
तेरा साहब तुझ में, बूझ सके तो बूझ॥ —कबीर

परोपकार से पुनः शिक्षा

पुनः शिक्षा का दूसरा उपाय किसी गिरे हुए व्यक्ति को ऊपर उठाने की चेष्टा करना है। हम जितना ही दूसरे व्यक्ति को ऊपर उठाने की चेष्टा करते हैं, स्वयं अपने आप ऊपर उठ जाते हैं। संसार में कितने ही लोग अनेक प्रकार की निराशा से पीड़ित रहते हैं। जब हम इन लोगों की निराशा का विनाश करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे निराशाजनक गुप्त भावों का भी रेचन हो जाता

है। पापी मनुष्य के प्रति उदारता का भाव मन में लाने से ही अपने पापों का विनाश हो जाता है। जो मनुष्य दूसरे लोगों की भूलों को क्षमा करता है उसका नैतिक मन अपनी भूलों को भी क्षमा करता है। अतएव उसकी अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं। इस तरह रोगियों की सेवा करना पुनः शिक्षा का एक भारी साधन है। किसी प्रकार का रोग किसी पाप का परिणाम होता है। इससे रोगी के मन में निराशा और आत्म-भर्त्सना के भाव उत्पन्न होते हैं। रोगी के प्रति प्रेम दिखाकर हम उन भावों का विनाश कर देते हैं। उसमें प्रेम का संचार होता है और उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। आत्म-ज्ञान और आत्मोद्धार की दृष्टि से मानसिक रोगियों की चिकित्सा करना जितना लाभकर है उतना कोई दूसरा कार्य नहीं है। मानसिक रोगियों की चिकित्सा करते समय जिस व्यक्ति का उदार भाव होता है वह अपने-आपको भली प्रकार से जान लेता है। कई बार मानसिक रोगी को प्रोत्साहित करने के लिये स्वयं चिकित्सक को उसके समक्ष अपनी भूलों को स्वीकार करना पड़ता है। इससे रोगी के दबे मानसिक भावों का शीघ्रता से रेचन हो जाता है और वह स्वास्थ्य-लाभ कर लेता है। पर इस प्रकार अपनी भूलों को दूसरे के समक्ष स्वीकार करने से स्वयं चिकित्सक की आत्म-चिकित्सा हो जाती है। अतएव प्रत्येक मानसिक चिकित्सक अपने चिकित्सा के कार्य से अपनी आत्म-चिकित्सा अर्थात् पुनः शिक्षा करते रहता है।

पुनः शिक्षा का सबसे महत्व का साधन बालकों का लालन-पालन और शिक्षा है। बालकों का लालन-पालन एक आध्यात्मिक कार्य है। आन्तरिक

पुनः शिक्षा और बालकों का लालन-पालन

मन की शिक्षा मनुष्य को जितनी इससे होती है उतनी दूसरे प्रकार से नहीं होती। पुनः शिक्षा में एक ओर मनुष्य अपने नैतिक आदर्शों को व्यवहार्य बनाता है और दूसरी ओर वह अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं में परिवर्तन करने की चेष्टा करता है। इसके द्वारा भोगेच्छाओं का विकास होता है। जब तक मनुष्य को संतान नहीं होती उसकी कामवासना साधारणतः शारीरिक भोगों तक ही सीमित रहती है। सन्तान होने के पश्चात् वह सन्तान के प्रेम का रूप ले लेती है और जैसे-जैसे इस प्रेम का प्रसार होता

है मनुष्य अपनी काम-वासना से मुक्त हो जाता है। पुनः शिक्षा से मनुष्य के भावों की शिक्षा अर्थात् संवेगात्मक शिक्षा होती है। इसके द्वारा मनुष्य में आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आती है।

कितने ही लोग बौद्धिक दृष्टि से बड़े विकसित होते हैं पर भावों की दृष्टि से बालक की अवस्था में ही बने रहते हैं, अतएव किसी प्रकार के संकट में पड़ जाने पर वे बालकों जैसे उद्विग्न मन हो जाते हैं। जिन लोगों की बाल्यावस्था की इच्छायें ठीक से तृप्त नहीं होती वे बुद्धि में प्रवीण होकर भी अपने ऊपर अधिकार नहीं रख पाते। ऐसे व्यक्तियों की भावात्मक-शिक्षा बालकों की सेवा करने से होती है। जैसे-जैसे बालकों की उन्नति होती है उनका भी भावात्मक विकास होता है। बालक अनेक प्रकार की भूलें करते हैं, जब वे उनकी इन भूलों को क्षमा करते हैं तो उनके दलित मानसिक भावों का रेचन हो जाता है। जिन लोगों को बालकों के लालन-पालन का अवसर नहीं मिलता वे अन्य प्रकार से सयाने होते हुए भी भावात्मक दृष्टि से बाल्यावस्था में ही पड़े रहते हैं। उनके व्यक्तित्व में काम और क्रोध का दमन भले ही पाया जाय उनका विकास अथवा शोध नहीं होता।

जब हम पुनः शिक्षा की दृष्टि से बाल-शिक्षा के कार्य को देखते हैं तो उसे बड़े महत्व का पाते हैं। बालकों की शिक्षा हमारी पुनः शिक्षा है। बालकों में आत्म-संयम लाने की चेष्टा करने से स्वयं शिक्षक में आत्म-संयम आ जाता है। कोई भी शिक्षक किसी बालक की तब तक ठीक से शिक्षा नहीं कर सकता जब तक वह उसके साथ अपना आत्मसात् नहीं कर लेता। वही शिक्षक बालक की ठीक शिक्षा कर सकता है जो बालक में अपने-आपको ही देखता है। इस प्रकार बालक के साथ आत्मसात् करने के पश्चात् जब कोई व्यक्ति बालक की शिक्षा करता है तो वह अपनी आत्मा का ही उद्धार करता है। कहा जाता है कि पिता अपने पुत्र में और शिक्षक अपने शिष्य में अवतीर्ण होता है। वास्तव में पिता पुत्र के द्वारा और शिक्षक शिष्य के द्वारा पूर्णता प्राप्त करते हैं।

बाल-शिक्षा

आध्यात्मिक दृष्टि से जटिल बालकों की शिक्षा जितनी लाभकारी है, उतनी साधारण बालकों की शिक्षा लाभकारी नहीं है। जिस मनुष्य के जीवन में

किसी प्रकार की मानसिक जटिलता रहती है वह शिक्षक बनने की योग्यता नहीं रखता। पर यदि वह अपने आत्मसुधार पर तुला हुआ है तो उसके लिये जटिल बालकों की शिक्षा बड़ी लाभकारी होगी। इस प्रकार के कार्य से मनुष्य अपने मन के आन्तरिक पटल को जानता है और जटिल बालक के आत्मोद्धार करने की चेष्टा से स्वयं उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य चाहे कितना ही मनोविज्ञान का अध्ययन क्यों न करे, अपने आपका मनोविश्लेषण कितना ही क्या न

मानसिक रोग अपने आचरण

करावे, जब तक वह अपने दृष्टिकोण को बदलकर अपने आचरण को नहीं सुधारता वह आन्तरिक शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। कितने ही लोग अपने मानसिक रोगों का कारण जान लेते हैं, पर अपना आचरण पहले जैसा ही रखते हैं। इससे उनका मानसिक रोग नष्ट नहीं होता, अपितु उसकी जटिलता और भी बढ़ती जाती है। लेखक का एक प्रतिभाशाली शिष्य अपने मानसिक रोग का कारण जानता है। वह अपने एक ससुर से घृणा करता है। यही उसके मानसिक रोग का परोक्ष कारण है। वह मनोविज्ञान का विद्वान है और अपना मनोविश्लेषण कई मनोवैज्ञानिकों से कराता रहता है। पर उसे अभी तक आन्तरिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि वह अपनी पुरानी धारणा को बदलने क प्रयत्न नहीं करता और नये प्रकाश के अनुसार अपने आचरण को बनाने की चेष्टा नहीं करता। इस प्रकार के एक विद्वान युवक का उदाहरण युंग महाशय ने अपनी "दी मार्डन मेन इन सर्च आफ ए सोल" नामक पुस्तक में दिया है। यह युवक उससे प्रेम करनेवाली गरीब महिला का रुपया अपने मजे-मौज में खर्च करता था। उसे मानसिक व्याधियाँ थीं, जिसका प्रधान कारण उसका अनैतिक आचरण ही था। वह मनोविज्ञान के अध्ययन के द्वारा अपने मानसिक रोग का अन्त करना चाहता था। पर यह अभी तक सम्भव नहीं हुआ था। जब तक मनुष्य अपने व्यवहार में योग्य परिवर्तन नहीं करता उसे आन्तरिक शान्ति नहीं होती।

लेखक के एक मित्र को पेट का रोग था। इस रोग के कारण वे कई वर्ष तक बिस्तर पर पड़े रहे। उनका रोग प्राकृतिक चिकित्सा से बहुत कुछ

अच्छा हो गया, पर उसने फिर मानसिक रोग का रूप धारण कर लिया। उनके जीवन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उन्हें अपने एक साझेदार से जिससे उन्हे आर्थिक और मान की क्षति हुई थी, भारी द्वेष था। वे ऊपर से उससे मित्रता का व्यवहार करते थे पर भीतर से उसे घृणा करते थे। लेखक से उन्होंने अपने भावों की आत्म-स्वीकृति की। लेखक ने उन्हें अपने साझेदार के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने का आदेश दिया। मित्र ने लेखक की बताई बातों के अनुसार उसका अभ्यास किया। इसके परिणामस्वरूप उनकी निराशावादिता और अकारण चिंता जाती रही। उनमें नया उत्साह उत्पन्न हो गया और उन्होंने एक नया रोजगार उठा लिय। इसमें सफलता प्राप्त होने पर उनके मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार के रोग नष्ट हो गए।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि यदि किसी मनुष्य के मन में किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष की भावना दबी हुई अवस्था वर्तमान है तो वह मनुष्य के पेट में फोड़ा का रूप धारण कर लेती है। यह फोड़ा पेट का भयङ्कर फोड़ा (केन्सर) होता है। मन की गांठ पेट की गांठ बन जाती है। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार के परिणाम से बचता है तो उसे अपने क्रोध के विचारों को बाहर प्रकाशित करके अथवा मैत्री भावना से उनका शमन करके अन्त करना होगा। किसी भली अथवा बुरी भावना की शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। भली भावना स्वास्थ्यवर्धक होती है और बुरी स्वास्थ्य विनाशक। बुरी भावना को मन में स्थान देना ही बुरा है। परन्तु इससे बुरा उसकी उपस्थिति को स्वीकार न करना है। पेट के रोग उन लोगों को होते हैं जो अपनी आन्तरिक भावनाओं को बाहर प्रकाशित करने से अथवा अपने आप से ही उनकी उपस्थिति स्वीकार करने से भागते हैं। बुरी भावनाओं की उपस्थिति स्वीकार करने से उनकी शक्ति मनुष्य के आत्मनिर्माण में काम आ जाती है। किसी भी भावना के ऊपर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए और उसकी शक्ति का सदुपयोग करने के लिये उस भावना को जानना और उसे स्वभाव का अङ्ग मान लेना आवश्यक है। फिर प्रतिभावना के द्वारा उसका स्वरूप बदला जा सकता है।

छठां प्रकरण

निर्देश चिकित्सा-विधि

निर्देश-विधि की व्यापकता

निर्देश चिकित्सा-विधि मानसिक चिकित्सा की बहुत पुरानी विधि है। इस विधि से ओझा लोग भूत-प्रेत की झाड़-फूँक किया करते हैं। अनेक प्रकार का हिस्टीरिया इस विधि से अच्छा हो जाता है। निर्देश-विधि से जो लोग मानसिक अथवा शारीरिक रोगों की चिकित्सा करते हैं वे स्वयं अपनी सफलता का कारण नहीं जानते। वे इसे देवी-देवता की शक्ति अथवा ईश्वर की कृपा मानते हैं। निर्देश-विधि से चिकित्सा करने वाला व्यक्ति अनेक ऐसी क्रियायें करता है अथवा रोगी से करवाता है जिसका कोई वैज्ञानिक कारण नहीं बताया जा सकता। इतना अवश्य देखा जाता है कि जो भी निर्देश चिकित्सा-विधि की क्रियायें निरर्थक दिखाई देती हैं पर उनका रोगी के रोग पर असर अवश्य होता है। कितने ही लोगों की भूत बाधा झाड़-फूँक से चली जाती है। कुछ शारीरिक रोग भी इस प्रकार से चले जाते हैं।

झाड़ फूँक का उपयोग

लेखक के बड़े भाई को एक बार भूत बाधा हो गई थी। वह दिन भर चिल्ल-चिल्ला कर रोया करता था। उसकी अनेक प्रकार की औषधि की गई, पर कोई लाभ न हुआ। उसकी झाड़-फूँक भी कराई गई पर कुछ भी लाभ न हुआ। एक बार एक साधू इसी समय आया। उसको उसका दुःख देख कर दया आई। उसने एक नीबू, एक कोरा घड़ा, सुई और पीपल का पत्ता मँगाया। रोगी को बुलाकर उसके उसने सामने उस नीबू को काट दिया और उस सुई से पीपल के पत्ते पर एक जन्त्र लिखकर एक ताबीज में

रख के रोगी के दाहने हाथ की बाँह में बाँध दिया। उस नीबू और सुई को उस घड़े में रख कर उसे गाँव की सरहद के बाहर गड़वा दिया। तब से रोगी की भूत बाधा जाती रही।

इसी तरह मंत्र पढ़कर पानी के छींटा मारने से कितने ही लोगों का भूत भग जाता है। योरोप में पुराने समय में जब भूत बाधा से प्रेरित होकर कोई व्यक्ति पादरी के पास जाता था तो वे उसकी झाड़-फूँक कर देते थे। कभी-कभी वे क्रास का निशान बनाकर उसके मन को शांत करते थे। आज हमारे यहाँ कितने ही लोग झाड़ू से भूत प्रेत को झाड़ देते हैं। इसका प्रभाव रोगी के मानसिक स्वास्थ्य पर अवश्य पड़ता है।

उज्जैन के कल्पवृक्ष आश्रम में कितने ही जटिल मानसिक रोगों का उपचार ईश्वर प्रार्थना विधि से होता है। उस संस्था के अध्यक्ष श्री दुर्गाशंकर जी नागर दिन में तीन बार प्रार्थना करते हैं। शाम की प्रार्थना देर तक होती है। इसमें ॐ जाप देर तक होता है और कुछ भजन भी होते हैं। इस प्रार्थना में प्रत्येक रोगी को उपस्थित रहना आवश्यक होता है। इस प्रार्थना में भाग लेने के परिणामस्वरूप बहुत से जटिल मानसिक रोगियों के रोग नष्ट हो जाते हैं। स्वयं लेखक के तीन छात्रों का यहाँ उपचार हुआ और उस उपचार के परिणामस्वरूप उनका रोग जाता रहा। हाल ही में लेखक को एक 'हिस्टीरिया के रोगी का उपचार करने का अवसर मिला। लेखक ने इस रोगी का उपचार निर्देश विधि से प्रारम्भ किया। उसके ऊपर कुछ पानी छिड़का गया। पीछे कई बार पास देने के रूप में दाहिना हाथ उसके सामने फेरा गया। रोगी से कह दिया गया कि उसे नींद आ जायगी। इस रोगी को नींद नहीं आती थी। इस उपचार के परिणामस्वरूप उसे १५ मिनट के भीतर ही नींद आ गई।

अब प्रश्न आता है कि मानसिक रोगों पर झाड़-फूँक अथवा प्रार्थना आदि का इतना प्रभाव क्यों पड़ता है। जिस रोग को डाक्टर लोग अपनी भौतिक चिकित्सा से ठीक नहीं कर सकते और जो मनोविश्लेषण विधि से भी कभी-कभी असाध्य सिद्ध होते हैं, वही रोग कैसे झाड़-फूँक अथवा प्रार्थना से अच्छे हो जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने देने की चेष्टा की है—

भूत बाधा एक प्रकार की विक्षिप्तता है। भूत बाधा के समय मनुष्य के चेतन और अचेतन मन की एकता टूट जाती है। हिस्टीरिया में यही होता है। इस एकता का टूटना एक प्रकार का दोष आना है। पहले यह कहा जा चुका है कि मनुष्य का अचेतन मन भोला है। जब भूत बाधा के समय रोगी के समक्ष कोई ऐसी क्रिया की जाती है अथवा कराई जाती है जिसका अर्थ होता है कि उसकी शुद्धि हो रही है तो उसका असर वैसा ही पड़ता है जैसा कि वास्तविक शुद्धि का हो। यहाँ क्रियाओं की प्रतीकता महत्व की वस्तु है। जब भूत के रोगी के ऊपर पानी छिड़का जाता है तो रोगी अपने-आप को शुद्ध होता हुआ सोचता है क्योंकि पानी शुद्धता का प्रतीक है। मंत्र का पढ़ना अचेतन मन के लिये वास्तविक शक्ति का प्राप्त करना है। इसी प्रकार झाड़ना, फूँकना आदि सांकेतिक अर्थ रखते हैं। इनका मनुष्य के चेतन मन के लिये कुछ भी अर्थ न हो किन्तु उसके अचेतन मन के लिये अर्थ रहता है। मनुष्य का अचेतन मन उसी प्रकार कार्य करने लगता है जिस प्रकार उसे सुझाया जाता है। जब रोगी के अचेतन मन को विश्वास दिला दिया जाता है कि उसका रोग निकाल दिया गया है तो वह रोग से मुक्त हो जाता है। निर्देश को मजबूत बनाने के लिये उन क्रियाओं को करना पड़ता है जिनका महत्व मनुष्य के अचेतन मन के लिये है। यह मन बर्बर अवस्था के मनुष्य के मन के सदृश्य अथवा बालकों के मन के सदृश्य रहता है। जिस समय चेतन मन बहुत ही विद्वान हो जाता है-उस समय भी अचेतन मन बर्बरता की अवस्था में ही रहता है। जिन बातों का महत्व चेतन मन को है उनका महत्व अचेतन मन को कभी-कभी नहीं रहता और जो बातें चेतन मन की दृष्टि से महत्वहीन समझी जाती हैं वे ही अचेतन मन की दृष्टि से महत्व रखती हैं।

निर्देश-बिधि की सफलता का रहस्य

कूये महाशय की विधि

इमील कूये महाशय निर्देश की विधि से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों को नष्ट कर देते थे। उनके कथनानुसार रोगों का नष्ट

होना रोगी के अचेतन मन की कल्पना पर निर्भर करता है। इसके लिये रोगी के अचेतन मन को विशेष प्रकार का सुझाव देना आवश्यक है। कूये महाशय रोग के कारण का अध्ययन नहीं करते थे। उनके कथनानुसार रोगी से अपने रोग के बारे में अधिक पूछताछ करना उसके रोग की विषमता बढ़ाना है। रोगी जितना अधिक अपने रोग के विषय में सोचता है, रोगी की कल्पना उतनी ही प्रबल होती है। रोग की कल्पना प्रबल होने पर रोग बढ़ जाने की ही सम्भावना है। अतएव जब कोई रोगी कूये महाशय से अपने रोग के बारे में अधिक बात करता था तो वे उसके विचारों को दूसरी ओर ले जाते थे।

निर्देश और अचेतन मन

कूये महाशय रोगी को आरोग्य का निर्देश देने के पूर्व प्रायः उसकी चेतना को शिथिल कर देते थे। जब तक मनुष्य को तर्कबुद्धि काम करती है उसे किसी प्रकार का निर्देश देने पर उसका प्रभाव ठीक नहीं होता। कभी-कभी चेतन अवस्था में दिये गये निर्देश का प्रभाव उलटा होता है। अतएव तर्कबुद्धि को अलग करके ही निर्देश देना उचित होता है। कूये महाशय रोगियों को एक साथ बैठाते थे और पहले उनको अपना चिन्तन बंद करने का आदेश देते थे। फिर उन्हें सुझाया जाता था कि वे सोचें कि हम धीरे-धीरे अच्छे हो रहे हैं। इस प्रकार के दो-चार रोज के अभ्यास से रोगियों को मौलिक लाभ होता था।

कल्पना की शक्ति

कूये महाशय का कथन है कि रोगी का आरोग्य होना अथवा उसका रोगी रहना उसकी कल्पना पर निर्भर करता है। कल्पना का आधार रोगी का अचेतन मन रहता है और उसकी इच्छा का आधार उसका चेतन मन रहता है। रोगी रोग की कल्पना करते रहता है अतएव उसकी इच्छा के विरुद्ध भी वह रोगी बना रहता है। जब मनुष्य की इच्छा और कल्पना में एकता रहती है तो दोनों एक दूसरे का बल बढ़ाते हैं और उनका पूरा बल दोनों के बल के योग के बराबर होता है; किन्तु जब इच्छा और कल्पना का विरोध होता है तो जितना ही अधिक हम इच्छा का बल बढ़ाते

हैं कल्पना का बल उसके वर्ग के बराबर अपने-आप हो जाता है। मान लीजिये कि इच्छा का बल २ है और कल्पना का ३ तो जब हम इच्छा का बल बढ़ाने के लिये उसे दुगुना कर देते हैं अर्थात् ४ कर देते हैं तो कल्पना का बल अपने-आप ९ हो जाता है।

उपर्युक्त कथन का आशय इतना ही है कि जब कभी इच्छा और कल्पना का विरोध होता है तो मनुष्य को अपनी कल्पना से नहीं लड़ना चाहिये। मान लीजिये किसी व्यक्ति के मन में कल्पना आ गई कि उसे क्षय रोग हो गया है तो यदि वह अपनी इच्छाशक्ति से इस कल्पना को निकालने की चेष्टा करता है तो वह कल्पना और भी प्रबल हो जाती है। हाल ही में लेखक की एक छात्रा ने लेखक से कहा कि उसे कल्पना हो गई है कि उसे क्षय रोग हो गया है। इसका आधार कुछ नहीं है। उसने अपने आप को कई डाक्टरों को दिखाया, उन्होंने उसे स्वस्थ बताया। पर एक डाक्टर ने उसके मन में क्षय रोग का सन्देह डाल दिया। वह तन्दुरुस्त है पर उसके मन से यह विचार नहीं जाता। अब उसे रात को कुछ ताप भी हो जाता है। वह थरमामीटर से काम नहीं लेना चाहती, पर अपनी इच्छा के विरुद्ध भी वह प्रति दिन अपना ताप लेती रहती है। रात होते ही उसे नशा जैसा ताप लेने की भावना उत्पन्न हो जाती है और जब तक वह थरमामीटर से अपना ताप नहीं ले लेती तब तक उसे चैन नहीं मिलती।

मानसिक रोग की अवस्था में रोगी जिस विचार को मन से निकालना चाहता है वह विचार और भी दृढ़ता से उसके मन को पकड़ लेता है। कभी-कभी अपनी अभद्र कल्पना से मनुष्य इतना परेशान हो जाता है कि उसके कारण वह आत्म-हत्या तक करने का विचार करने लगता है।

प्रबल कल्पना किस प्रकार शारीरिक अथवा मानसिक रोग का कारण बन जाती है यह निम्नलिखित मानसिक रोग के उदाहरण से स्पष्ट होता है—

रोगी की आयु कोई पचास वर्ष की है। उन्हें झक उत्पन्न हो गई है कि वे अपने मल को हाथ में न ले लें। वे सदा इसे रोकने का उपाय ही

सोचा करते हैं। इस झक के पहले उन्हें कल्पना हुई थी कि उन्हें क्षय रोग हो गया है। डाक्टरों के दिखाने पर उन्हों ने क्षय रोग की सम्भावना भी बता दी थी। इसके कारण वे तीन महीने तक बिस्तर पर पड़े रहे। इसी बीच यह झक उत्पन्न हो गई। अब उनकी पुरानी झक तो जाती रही पर नई झक उत्पन्न हो गई। वास्तव में उन्हें क्षय का रोग नहीं था। इस रोग का भय उन्हें पहले से ही था। अतएव कल्पनामात्र से उन्हें तीन महीने तक रोग ग्रसित रहना पड़ा।

मनुष्य कितने ही विचारों को बुरा समझता है और वह अपने मन से निकाल देने की चेष्टा भी करता है, पर इसका परिणाम उलटा ही होता है। जिस अभद्र कल्पना की जड़ मनुष्य के अचेतन मन में होती है वह इच्छा के प्रयत्न से मन के बाहर नहीं निकलती। मानसिक विच्छेद की अवस्था में इच्छा और कल्पना में अन्तर्द्वन्द्व रहता है और जितना ही मनुष्य अप्रिय विचार को मन से निकालने की चेष्टा करता है वह उतना ही अधिक प्रबल हो जाता है।

ऐसी अवस्था में मनुष्य को आत्मनिर्देश की विधि से काम लेना आवश्यक है। पहले पहल रोगी को चाहिये कि वह अपनी कल्पना का विरोध ही न करे। जब अभद्र कल्पना का विरोध नहीं किया जाता तो साधारणतः वह अपने आप ही प्रकाशित होकर निर्बल हो जाती है। जिस प्रकार पतंग को खींचने से वह ऊपर चढ़ती है और उसे ढील देने से वह नीचे गिर जाती है, इसी प्रकार कल्पना और इच्छा का सम्बन्ध है। जब अचेतन मन को कल्पना करने की जान बूझकर पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो रोगी के मानसिक भावों का रेचन हो जाता है और कल्पना अपने आप शान्त हो जाती है।

एक बार लेखक के मन में कल्पना हो गई कि उसे क्षय रोग होनेवाला है। उसे उस समय खांसी आती थी। वह अपने आप को किसी डाक्टर को नहीं दिखाना चाहता था क्योंकि वह जानता था कि क्षयरोग का सन्देह डाक्टर लोग बढ़ा देते हैं। पर उसका विचार बढ़ता ही गया। जितना ही इस विचार को दबाने का प्रयत्न किया जाता था वह और भी बढ़ता जाता था। अन्त में लेखक छुट्टी के समय घर पर गया और वहाँ अपनी सास को क्षय

रोग से मरते हुए पाया । उसी दिन उसने अपनी भी क्षय रोग से मृत्यु होती देखी। इसके बाद उसका क्षयरोग का भय कम हो गया और उसने निश्चय किया कि क्षय रोग से मरना कोई बुरा नहीं है । इस निश्चय के आते ही क्षय रोग का विचार मन से जाता रहा। हम जिस दुर्घटना से डरते हैं उसके विचार मन में दृढ़ता से बैठ जाते हैं और जिसके लिये तैयार हो जाते हैं उसकी कल्पना भी नष्ट हो जाती है । अपनी कल्पना से लड़ना एक भारी मूर्खता में पड़ना है।

कूये महाशय का कथन है कि किशी प्रकार का निर्देश तभी सफल होता जब वह आत्म-निर्देश बन जाता है। जिस बात में स्वयं रोगी का विश्वास नहीं होता वह उसे फलित नहीं होती । इस प्रकार निर्देश और आत्म-निर्देश रोगी अपने प्रयत्न से ही अच्छा होता है। चिकित्सक रोगी की सहायता मात्र करता है। आत्म-निर्देश के द्वारा हम अपने विचारों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं और अपने रोगों को नष्ट कर सकते हैं। आत्म-निर्देश के द्वारा किस प्रकार अपने विचारों पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है इसका एक सुन्दर उदाहरण श्री हेडफील्ड महाशय ने अपनी "साइकालाजी एण्ड मारल्स" नामक पुस्तक में दिया है।

एक व्यक्ति को कोकीन खाने की आदत पड़ गई थी। वह इसे छोड़ना चाहता था पर वह बरबस कोकीन की दूकान पर जाता था और कोकीन खरीद कर खा लेता था । जब कभी वह दूकान के पास से जाता तो उसे प्रबल उत्तेजना होती कि वह कोकीन खरीदे और वह इच्छा के विरुद्ध कोकीन खरीद ही लेता था इस आदत के मिटाने के लिये निम्न-लिखित आत्म-निर्देश का अभ्यास कराया गया—

रोगी अपने आपको सोचे कि वह दूकान के पास से जा रहा है और बिना कोकीन खरीदे ही वहाँ से निकल जाता है। उसका ध्यान उस दुकान पर ही नहीं जाता। इस प्रकार की कल्पना के अभ्यास के परिणामस्वरूप वह व्यक्ति कोकीन की दूकान के विषय में इतना विस्मृत हो गया कि जब कभी वह किसी दवाई के लिये उस दूकान पर जाता तो भी उसे भूल जाता था ।

वास्तव में जैसी हम अपने आपके विषय में कल्पना करते रहते हैं, हमारा आचरण भी वैसा ही बनता जता है। हमारी कार्यक्षमता और स्वास्थ्य हमारी कल्पना पर ही निर्भर करते हैं। रोगी को आरोग्य बनाने के लिए पहले निर्देश विधि से उसकी कल्पना में परिवर्तन कराना आवश्यक होता है। जब रोगी की कल्पना आरोग्य की हो जाती है तो वह सहज में ही स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। अपना पुराना अभ्यास ही मनुष्य के लिये निर्देश का काम करने लगता है अतएव किसी प्रकार की नवीनता लाने के लिये प्रतिनिर्देश का अभ्यास करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ एक शराबी को अपने आप को भद्र पुरुष की कल्पना दृढ़ करना आवश्यक है। कल्पना ही कालान्तर में आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेती है और वास्तविकता में परिणत हो जती है।

सोते समय के विचारों का महत्त्व

हमने ऊपर बताया है कि किसी प्रकार के निर्देश देने के पूर्व इमील कूये महाशय रोगी के मन को चेतनाहीन करते थे। इसके लिये उन्हें रोगियों को सम्मोहित अवस्था में लाना पड़ता था।

सोते समय के विचारों का आत्म-निर्देश में परिणित होना

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि निर्देश का प्रभाव अचेतन मन पर होता है। जब तक मनुष्य के अचेतन मन को सन्निर्देश नहीं मिलता तब तक व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिये कोई लाभ नहीं होता। मनुष्य को इसके लिये अपनी तर्क बुद्धि को अलग करना आवश्यक है। मनुष्य की सुप्तावस्था में उसका अचेतन मन ही कार्य करता है, अतएव सोते समय अभ्यास किये गये किसी प्रकार के विचार मनुष्य के अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य जैसा विचार लेकर सोता है वैसे ही विचार लेकर वह जागता भी है।

सोते समय मनुष्य का चेतन मन क्रियाहीन हो जता है पर उसका अचेतन मन निष्क्रिय नहीं होता। उसे जो विचार सोते समय दे दिया जाता है वह उसी पर काम करते रहता है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य के

स्वभाव और स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है। जिन विचारों को हम अपने चेतन मन के प्रयत्न से नष्ट नहीं कर सकते, वे विचार सोते समय के निर्देशों से नष्ट हो जाते हैं। इस प्रसंग में लेखक का निम्न-लिखित प्रयोग उल्लेखनीय है—

लेखक के एक विद्यार्थी को जिसकी उमर ३४ साल की थी साँप के काटने का भय उत्पन्न हो गया था (इसका उल्लेख पहले भी मानसिक ग्रन्थियों के प्रकरण में कर चुके हैं)। इसका यह भय निमूर्ल था और उसके सभी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी नहीं जाता था। छात्र अपनी मानसिक स्थिति का (जिसका अन्त मैत्री भावना के अभ्यास से हुआ) विवरण नीचे लिखे शब्द में देता है—

"आज से करीब दो साल हुए मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि संसार में सर्प से बढ़कर खतरनाक और कोई जानवर नहीं है और मैं साँप से बहुत डरने लगा। यह डर इतना बढ गया कि मैं शाम को अँधेरा होने के बाद कहीं नहीं जाता था। अपने घर में भी लालटेन लेकर ही चलता था। जब सोता तो डर बना रहता कि साँप चारपाई पर चढ़ आवेगा और यह भी मालूम होता कि यह जानवर छिपकर बिस्तर के अन्दर अथवा नीचे बैठ गया होगा। इस कारण सोने के पहले बिस्तर को कई बार झाड़ता। रात के समय यदि पेशाब वगैरह मालूम होती तो बिस्तर के नीचे न उतरता था, अगर उतरा भी तो रोशनी अवश्य कर लेता। इसके लिये एक भरी हुई दियासलाई की डिब्बी और लालटेने अवश्य अपने पास रखता था। जहाँ भी कहीं थोड़ा अँधेरा होता मैं वहाँ न जाता और मुझे सदा यह सन्देह बना रहता कि साँप से बचना बहुत मुश्किल है।

यह हालत घर के लोगों को किसी प्रकार मालूम हो गई थी और कुछ लोग मेरे डर पर हँसते थे। किसी-किसी ने मेरे इस वृथा डर को मिटाने के लिये समझाया भी, पर कुछ लाभ न हुआ। यह दशा तो मेरी रात की हुई। दिन के समय भी मुझे बराबर डर लगा रहता था। जहाँ कहीं घासफूस होती वहाँ मैं कदापि न जा सकता था। पेड़ की जड़ों पर

न बैठता । जहाँ भी सूराखें या दरारें होती वहाँ न जाता और पक्के रास्ते में भी दिन को चलते समय पैर से कोई छू जाने अथवा गड़ जाने पर मुझे साँप काटने का सन्देह होता और धारणा होती कि अब बचना कठिन है। इसी प्रतीक्षा में रहता कि साँप के विष का असर अब होता है—तब होता है। कभी कभी ऐसा लगता कि दिल धड़क रहा है और विष का असर हो गया है। दिन में भी भय के विचार उठते और सोते समय मालूम होता कि साँप चारपाई पर चढ़ आया है।

अस्तु, यह हालत आज दो साल से चली आई थी। मैं हैरान था कि क्या करूँ, कैसे यह भय दूर होवे ? मैंने दो-चार साधुओं की अपनी करुण कथा सुनाई और प्रार्थना की कि कोई उपचार बतावें उन्होंने कुछ बातें बताईं पर मुझे सन्तोष न हुआ और न लाभ ही हुआ। मेरा जीवन भाररूप हो गया और घर छोड़कर बनारस आना दुर्लभ प्रतीत होने लगा। ट्रेनिंग कालेज में आना आवश्यक भी था। अब एक दो-दिन की बात तो थी नहीं, पूरे १ वर्ष रहने का प्रश्न था। किसी तरह बनारस आया पर यहाँ आने पर उपरोक्त भय इतना बढ़ा कि शायद उतना पहले कभी न था।"

यह व्यक्ति शिवजी की उपासना करता था। इससे कहा गया कि साँप शिवजी के आभूषण हैं। वे तुम्हारे मित्र हैं। उनका सोते समय मित्र के रूप में ध्यान करें। इस प्रकार के दस-बारह दिन के अभ्यास से ही उस छात्र का साँप का भय सर्वथा जाता रहा।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि रोगी के चेतन मन को साँप के भय की व्यर्थता समझाने से कोई लाभ नहीं होता और न चेतनावस्था के मैत्री भावना के अभ्यास से ही अधिक लाभ होता है। यह मैत्री भावना जब अचेतन मन में पहुँचती है तभी मनुष्य के रोग ने अन्त होता है। दूसरी बात यह भी जानना आवश्यक है कि रोगी को साँप का भय किसी दूसरी वस्तु के भय का प्रतीकमात्र था। यदि यह भय साँप का भय ही होता तो उसका निवारण बिचार के द्वारा किया जा सकता था। रोगी अपनी कामवासना का दमन कर रहा था। वह योगाभ्यास करता था और इस अभ्यास के करते समय उसे उक्त भय उत्पन्न हो गया था। कामवासना साँप के रूप में चेतना के समक्ष आती है जिससे वह

पहचानी न जा सके। स्वप्न में भी कामवासना साँप के रूप में प्रकाशित होती है। रोगी से साँप के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास कराना वास्तव में उसकी कामवासना के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तन कराना था। वह साँप को, अर्थात् कामवासना को, शत्रु के रूप में देखता था, अतएव वह उसे त्रास देती थी, जब उसने अपना उसके प्रति रुख बदल दिया तो उसके रोग का भी अन्त हो गया। उसके अचेतन मन की धारणा में यह परिवर्तन करने की आवश्यकता थी और यह परिवर्तन निर्देश विधि के द्वारा सांकेतिक रूप से ही हो सका। रोगी को अपने गृहस्थ जीवन की बातों में परिवर्तन करने के लिए पीछे आदेश दिया गया।

सोते समय के विचार हमारे स्वप्नों के ऊपर भारी प्रभाव डालते हैं। यदि हम मैत्री भावना का अभ्यास करते हुए प्रति दिन सोवें तो हम सुख की नींद सोते हैं और प्रसन्न चित्त होते हुए जागते हैं। हमारे भयंकर स्वप्न मैत्री भावना के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं और जो स्वप्न आते हैं वे बड़े सुखदाई और उत्साहवर्धक अथवा शिक्षाप्रद होते हैं। लेखक ने स्वयं इस विषय में जो प्रयोग किया है वह उल्लेखनीय है। पाठक इस सिद्धान्त की मौलिकता अपने स्वप्नों पर प्रयोग करके देख ले सकते हैं—

सोते समय के विचार और स्वप्न

पाँच वर्ष पूर्व लेखक को बार-बार हिन्दू-मुसलमान के दंगे के स्वप्न होते थे। लेखक ने अपनी छात्रा को मनोविज्ञान पढ़ाते समय अपने स्वप्नों की चर्चा की। उसने कहा—"पंडित जी, आप मुसलमानों को घृणा अवश्य करते हैं, इसलिये ये स्वप्न आते हैं"। यह सुनकर लेखक को आश्चर्य हुआ, क्योंकि हिन्दू-मुसलिम एकता में उसकी पहले से ही आस्था थी। आत्म- निरीक्षण से पता चला कि यह एकता की इच्छा राजनैतिक दृष्टि से ही थी, वास्तव में मुसलिम संस्कृति समाज और धर्म के प्रति उसकी कोई श्रद्धा न थी। फिर लेखक ने सोते समय मुसलिम जाति के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास किया। एक मुसलमान फकीर को कभी-कभी कुछ दान भी देना प्रारंभ कर दिया। उस दिन से आजतक फिर हिंदू-मुसलिम दंगों के स्वप्न लेखक को नहीं आये।

सोते समय का विचार आत्म-निर्देश का काम करता है और वह

सदा सक्रिय रहता है। इसका उदाहरण सोकर जागने के निर्देश में मिलता है। यदि हम अपने-आपको विशेष समय पर जगा देने का निर्देश दे दें तो हम ठीक समय पर जाग जाते हैं। कितने ही गणितज्ञ किसी प्रश्न को हल करते हुए सो जाते हैं। जिन प्रश्नों का उत्तर सोने के पहले नहीं आता था कभी-कभी उन प्रश्नों को वे सोकर उठने के बाद सरलता से हल कर डालते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार के विचार सोते समय उत्तेजित हो जाते हैं, उसी प्रकार के विचार सुप्तावस्था में चलते रहते हैं और अन्त में प्रश्न का उत्तर निकाल लेते हैं। जिस तरह संमोहन की अवस्था में हमारा अचेतन मन हमारे अनजाने काम करते रहता है, उसी प्रकार सोते समय भी हमारा मन काम रहता है। अतएव सुन्दर विचार लेकर सोने से मनुष्य का स्वास्थ्य बढ़ता है और उसके मन में प्रसन्नता आती है और बुरे विचार लेकर सोने से उसको बीमारी होती है और जीवन में निराशा आती है।

सोते समय मनुष्य के विचार उसके मन की सामान्य प्रगति पर निर्भर करते हैं। जैसे जैसे चेतना का प्रतिबन्ध हटता जाता है वैसे वैसे मन में वे विचार आने लगते हैं जो मनुष्य के मन में निश्चितरूप से घर कर लिये हैं। ईर्ष्या द्वेष से भरे विचार इस समय अनायास चले आते हैं। इन विचारों को हटाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे विचार तभी हटते हैं जब मनुष्य अपनी जाग्रतावस्था में सदा ईर्ष्या द्वेष से भरे विचारों को हटाते रहता है। मनुष्य का जैसे अभ्यास उसकी सम्पूर्ण चेतनावस्था में रहता है उसी के अनुरूप वह चेतना की शिथिलता की अवस्था में कार्य करते रहता है। अतएव सोते समय भले विचार लेकर सोने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने सभी विचारों की छानबीन करनेवाला एक पहरूआ अपने आप के ऊपर बिठा लेवे।

भगवतगीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि मरते समय जो कुछ मनुष्य सोचते रहता है उसी के अनुसार वह आगे भी जन्म लेता है। अतएव कितने ही लोग अपने पुण्य कृत्यों को अथवा अथवा पुण्य भावनाओं को मरते समय के लिये छोड़ देते हैं। कितने ही लोग तो मरते समय के केवल हरिनाम के एक बार कहने के ऊपर मुक्ति प्राप्ति की आशा लगाते हैं। परन्तु

गीता के उसी वाक्य के आधे भाग को वे भूल जाते हैं जिस में कहा गया है कि वही मनुष्य अन्त समय परमात्मा का ध्यान कर सकेगा जो सब समय परमात्मा के विषय में चिन्तन करते रहता है।

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६।८

अर्थात् मनुष्य जैसा जीवनपर सोचता है उसी के अनुरूप मरते समय भी वह सोचता है। इसी तरह जैसा वह दिनभर सोचता है उसी के अनुरूप वह सोते समय भी सोचता है। वास्तव में सोना प्रतिदिन का मरण है, मृत्यु एक लम्बी निद्रा है।

रोगी की सुप्तावस्था में उसे आरोग्य का निर्देश देकर अच्छा किया जा सकता है। जब मनुष्य का चेतन मन सोता है उसका अचेतन मन जागता रहता है। अतएव यदि रोगी के पास बैठकर कोई व्यक्ति बात करे कि रोगी का अमुक रोग नष्ट हो रहा है तो उसका रोग धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के निर्देश से चरित्रहीन व्यक्ति में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। इससे उद्दण्ड बालक की उद्दण्डता चली जाती है। रोगी के आस-पास जो चर्चा की जाती है उससे उसके रोग के ऊपर बड़ा असर पड़ता है। जो बातें कानाफूसी में रोगी के विषय में कही जाती है उनका जितना असर रोगी के मन पर पड़ता है स्पष्ट कही गई बातों का उतना नहीं पड़ता। इसी तरह सोते समय रोगी के आस-पास किसी प्रकार की निराशाजनक चर्चा करने से उसके रोग की वृद्धि हो जाती है।

रोगी को, चरित्रहीन व्यक्ति को, अव्यवस्थित मन के व्यक्ति को और उद्दण्ड बालक को आरोग्यवान और भला उन के पास सोकर किया जासकता है। इस प्रकार स्त्री के विचार पुरुष को और पुरुष के विचार स्त्री को शीघ्रता से प्रभावित करते हैं। यदि स्त्री पुरुष में प्रेम है तो वे थोड़े ही दिन में एक दूसरे के समान अपने विचार, स्वास्थ्य, और चरित्र में बन जाते हैं। कभी कभी तो एक दूसरे का रंग भी समान हो जाता है। युंग महाशय का कथन है कि मनुष्य की प्रोढ़ावस्था में पुरुष कुछ स्त्री के गुणों को प्रकाशित करने लगता है और स्त्री पुरुष के। उनके मतानुसार यह स्वाभावित सन्तुलन क्रिया के कारण होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को पूरे मन से

प्यार करता है तो वह उसके मानसिक और कुछ शारीरिक गुणों को अपने अनजाने को ग्रहण कर लेता है।

लेखक का एक शिष्य मानसिक रोगी को प्रेम से अपने पास सुलाकर उसे आरोग्य प्रदान करने में बहुत ही सफल हुआ है। हाल ही में उसने एक दीर्घकालीन हेपोकेन्ड्रिया से पीड़ित रोगी को इस प्रकार स्वास्थ्य लाभ कराया। इस प्रकार के प्रेम व्यवहार से अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी उसी प्रकार छूट जाते हैं जिस प्रसार मानसिक रोग छूट जाता है। स्वस्थ मन के व्यक्ति के सम्पर्क में आना मात्र ही मानसिक स्वास्थ को प्राप्त करना है। उससे जितनी घनिष्ठता बढ़ाई जाती है उतना ही अपने आपको लाभ होता है।

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश

जिस प्रकार हम अपने-आपको सोते समय शुभ विचार सुझाकर आरोग्य बना सकते हैं, इसी प्रकार जाग्रतावस्था में भी हम अपने-आपको सुन्दर बिचार सुझाकर आरोग्य बना सकते हैं, अथवा दूसरे प्रकार की अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसके लिए पहले अपने विचारों को स्थिर करना आवश्यक है। मन की स्थिर अवस्था में जो निर्देश मनुष्य अपने आपको देता है उसी से मनुष्य का कल्याण होता है। साधारणतः मनुष्य को अपने विचारों की शक्ति में ही विश्वास नहीं होता। अतएव उसके आत्मनिर्देश व्यर्थ ही नहीं जाते वरन् कभी कभी उनका उलटा परिणाम होता है। कभी कभी आरोग्य के निर्देश देने से मनुष्य का रोग और भी बढ़ जाता है।

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश की आवश्यकतायें

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश के विषय में दूसरी बात यह स्मरण में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक क्रिया उसकी पूरक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। अतएव आरोग्य प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उसकी पूरक बीमार रहने की प्रबल कल्पना को उत्तेजित करती है। इसी प्रकार स्वास्थ्य रक्षा की इच्छा स्वास्थ्य-विनाश की कल्पना को उत्तेजित करती है।

उक्त दो बातों को ध्यान में रखकर मनुष्य यदि अपने-आपको आत्म-निर्देश दे तो उसे पूरी सफलता मिले। जिस व्यक्ति के मन में जितना ही अधिक अन्तर्द्वन्द्व होता है उसके लिए इन बातों को ध्यान में रखना उतना ही आवश्यक है। अतएव किसी प्रकार का आत्म-निर्देश देने के पूर्व अपने आपको विचारहीन बनाना आवश्यक है। इसके लिए किसी प्रकार के मन्त्र का जप, सूर्य की ओर एकटक होकर देखना, अथवा साँस के आने-जाने पर मन को एकाग्र करना सहायक होता है। चित्त की एकाग्रता के समय मनुष्य का मन जो निर्देश पाता है वह उसी प्रकार की रचना करने लगता है। मन की प्रतिक्रिया से बचने के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य अपने-आपके विषय में चिन्ता न कर दूसरों के विषय में ही चिन्ता करे। जितना ही मनुष्य दूसरे लोगों के हित के विषय में सोचता है वह अपने हितसाधन में उतना ही अधिक समर्थ होता है। रोगी मनुष्य अपने रोग के विषय में ही चिन्ता करता रहता है और अपने-आपको बड़ा दया का पात्र समझता है। इससे उसका रोग नष्ट न होकर और भी बढ़ जाता है। यदि किसी प्रकार रोगी के मन में उदारता के भावों को लाया जा सके तो उसका रोग नष्ट हो जाय। अतएव जो व्यक्ति अपने रोग के विषय में चिन्ता न करके उसी प्रकार के दूसरे लोगों के रोगों के विषय में चिन्ता करते हैं अपने रोगों से वे शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। इस प्रसंग में लिंड लहर महाशय का अपनी प्राकृतिक चिकित्सा नामक पुस्तक में दिया गया निम्नलिखित उपदेश उल्लेखनीय है—

"बहुत से लोग अपने कल्पित दुःखों से दुःखी रहते हैं। यह एक प्रकार का मानसिक क्षय रोग है। इसके कारण बहुत से लोग सचमुच में नर्क के भागी हो जाते हैं। यदि ऐसे लोग अपनी कल्पित अथवा वास्तविक आपत्तियों और दुःखों के ऊपर ध्यान न देकर दूसरे लोगों के वास्तविक दुःखों की ओर ध्यान दें तो वे अपने-आपको इस मानसिक क्षय रोग से बचा सकते हैं।"

बीमारी से मुक्त होने के लिए उससे उकता जाना हानिकारक होता है। हम जितना ही अधिक बीमारी की चिन्ता करते हैं और उसे

शत्रु के रूप में देखते हैं, उसको और भी भीषण बना देते हैं। बीमारी की चिंता हमारी मानसिक शक्ति को कमजोर कर देती है। अतएव जब हम ऐसी अवस्था में बीमारी से मुक्त होने की इच्छा करते हैं तो हमारी कल्पना उलटा निर्देश हमें देती हैं। जो मनुष्य बीमारी से जितना अधिक डरता है वह बीमारी को उतना ही बढ़ाता है। यह भाव प्रकृति से शत्रुता का सूचक है। बीमारी हमें किसी प्रकार की शिक्षा देने के लिए उत्पन्न होती है और जब हमें यह शिक्षा मिल जाती है तो वह चली जाती है। इस प्रकार रोग के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास रोग को नष्ट कर डालता है।*

उक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेखक के एक प्रयोग से स्पष्ट किया जा सकता है। हम पहिले इस रोगी की चर्चा किसी दूसरे प्रसंग में कर आये हैं। रोगी को पहिले प्लूरेशी और पीछे क्षयरोग हो गया था। इसके उपचार में रेचन विधि और निर्देशविधि दोनों से ही काम किया गया था। उससे अपने रोग के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया था। इस अभ्यास के परिणामस्वरूप उसे प्लूरेसी के रोग की अवस्था में कोई शारीरिक क्लेश नहीं हुआ। अपने मन को सदा आशावादी बनाये रखने के कारण वह भुवाली के सेनीटोरियम् में एक साल रहकर भी भली प्रकार से स्वस्थ्य होकर वापिस आई और इस समय यह व्यक्ति, जो एक विदुषी है, देश का बड़ा ही उपयोगी रचनात्मक कार्य कर रही है। यह महिला ग्रहविज्ञान महाविद्यालय (Collge of Home science) की इस समय प्राध्यापिका है। इसका नाम कुन्तीनानार है। यह कई बार देश के कार्य में जेल जा चुकी है। महिला अपने एक पत्र में, जो लखनऊ के किंगजार्ज अस्पताल से लिखा गया है, लिखती है—

"आपके मन्त्र का मैं यहाँ नित्य ही अभ्यास करती हूँ। फलस्वरूप न तो किसी प्रकार का दर्द आजतक प्रतीत हुआ है न आमदशा ही भारी हुई है। खूब प्रसन्न रहती हूँ। वजन पहिले हफ्ते बढ़ा था परन्तु इस हफ्ते उतना ही

* Natural Therapeutics, Vol. II p. 165.

रहा, कारण इसबार बुखार तेज रहा था। चार पाँच दिन हवा देने के बाद अब बुखार नीचे उतरा है। डाक्टर बताते हैं अब न बढ़ेगा। देखें भगवान् अब क्या करते हैं। मुझे यहाँ बड़ा अच्छा लगता है, मरीजों को देखते हुए खूब मौज करती हूँ, आराम करती हूँ तथा खाती हूँ। यह भी एक अच्छी जिन्दगी है। सब में अपना ही मजा है। अच्छा अब खाना आ गया है खालूँ शेष फिर लिखूँगी"।

उपर्युक्त पंक्तियाँ एक विलक्षण मानसिक स्थिति को दर्शाती है। रोगी को निराश होने और भारी आत्मवेदना का अनुभव करने की सभी प्रकार की सामग्री उपस्थित होते हुए भी वह प्रसन्नता से अस्पताल में अपना समय काट रही है और अपने घातक रोग के प्रति लापरवाह हो गई है। यह एक विलक्षण मानसिक स्थिति कही जा सकती है। यहाँ यह भी स्मरण दिलाना आवश्यक है कि यह महिला बड़े गरीब पिता की बेटी है और वह बी० टी परीक्षा की तैयारी करते समय अचानक प्लूरेसी रोग से बीमार हो गई थी और इसी कारण उसे अपनी पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी थी। इससे उसका सैकड़ों रुपया बरवाद भी हुआ। कितने ही विद्यार्थी इतने ही धक्के से मर जाते हैं; परन्तु यहाँ आश्चर्य यह है कि पिता की मृत्यु का दुख, पढ़ाई छोड़ने का दुख, भाई की पढ़ाई का भार, घातक रोग की पीड़ा, अस्पताल का वातावरण पैसे की कमी—सभी निराशावादी परिस्थितियों के रहते हुए भी इस महिला ने अपने मन को शान्त और धैर्य्यपूर्ण बनाया। ऐसे व्यक्ति से मृत्यु भी डरती है। यमदूत भी उसके मित्र हो जाते हैं।

महिला अपने दूसरे पत्र में पहले से भी अधिक आशायुक्त बातें लिखती हैं। वह लिखती है—

"मैं अब बिलकुल ठीक हूँ। ७ फरवरी से न बुखार है, न खाँसी और न पानी,। वजन ४ पौंड बढ़ा है। आज डाक्टर सा० ने चलने को भी कह दिया है। भुआली में मुझे सीट, (स्थान) मिल गई है; अब इस मास के अन्ततक मैं चली जाऊँगी। आटोसजेशन (आत्मनिर्देश) की वजह से कभी मुझे दर्द महसूस नहीं हुआ। इस बीमारी के अन्य मरीज़ इस प्रकार के दर्द

की शिकायत किया करते हैं। मगर इसकी (आटो सजेशन) मदद से बहुत आराम मिलता रहा है। मैं खुश भी खूब रहती हूँ। अपनी इस बीमारी में मुझे आपके स्प्रिचुअल (आध्यात्मिक) तथा साइकोलाजीकल (मनोवैज्ञानिक) उपदेशों से क्या लाभ हुआ यह बताने के परे हैं"

इस तरह हम देखते हैं कि अपने रोग के विषय में नहीं सोचना, सोचने की अपेक्षा अच्छा है। दूसरे, यदि अपने रोग से कोई व्यक्ति मुक्त होना चाहता है तो दूसरे लोगों को उसी प्रकार के रोगों से मुक्त कराने की चेष्टा करे। तीसरे, जिस प्रकार मनुष्य मात्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास रोगी को अपने रोगों से मुक्त होने में सहायता देता है, उसी प्रकार रोग के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास, अर्थात् उसे अपना कल्याणकर्त्ता सोचने से, रोग शीघ्रता से रोगी को छोड़ देता है।

देखा गया है कि धनी, स्वार्थी और निकम्मे लोगों को सामान्य लोगों की अपेक्षा मानसिक रोग अधिक होते हैं। धनी मनुष्य को मुफ्त में खाने को मिलता है। वह संसार को अपने भोग का क्रीड़ास्थल समझ लेता है। धन के बचाने के लिए वह दूसरे लोगों से सदा सशंक रहता है। अतएव उसके सच्चे मित्र बहुत कम होते हैं। जो लोग उसके पास आते हैं वे स्वार्थवश आते हैं। ऐसी स्थिति में उसे मैत्री भावना का अभ्यास करने का अवसर कम मिलता है। सदा भोग-विलास में लगे रहने के कारण और कठिन परिश्रम का अभ्यास न रहने के कारण ऐसे लोगों की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है। अतएव जब किसी प्रकार का बुरा विचार ऐसे लोगों के मन में घुस जाता है तो वे उससे मुक्त नहीं होते। प्रायः धनी लोग अनेक प्रकार की भूत बाधाएँ, कल्पित शारीरिक अथवा मानसिक रोगों से ग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति उनके धन को ही उन्हें भार रूप बना देती है। धन की वृद्धि मनुष्य को जितना सुख देती है उतना ही वह दुःख भी देती है। अपने-आपको सदा परोपकार में लगाये रखनेवाले व्यक्ति

धन और निकम्मेपन का परिणाम

की इच्छा-शक्ति प्रबल रहती है और इसके कारण कोई भी बुरा विचार उसके मन में स्थान नहीं पाता।

किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य मनुष्य का उत्साह बढ़ाता है और इससे उसे शुभ आत्म-निर्देश मिलता है। हमने पिछले प्रकरण में

रचनात्मक कार्य द्वारा आत्म-निर्देश

मानसिक शक्ति के शोध की चर्चा करते समय बताया था कि रचनात्मक कार्य से मनुष्य की दलित भावनाओं का शोध होता है और उनकी शक्ति कोई ध्वंसात्मक कार्य न करके मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करती है। पर रचनात्मक कार्य से शुभ आत्म-निर्देश भी मिलता है। जो मनुष्य सदा नये-नये काम करते रहता है उसे अपने-आप पर विश्वास रहता है। इसके कारण उसके मन में अभद्र विचार उत्पन्न नहीं होते।

लेखक के एक विद्यार्थी को अतिसार की बीमारी है। इसकी चर्चा इस पुस्तक के दूसरे प्रकरण में की जा चुकी है। डाक्टरों का कथन है कि उसकी बीमारी कल्पित है। उसे वास्तव में कोई बीमारी नहीं है। पर उस विद्यार्थी को उसी प्रकार की पेट की पीड़ा होती है जिस प्रकार की पीड़ा वास्तविक रोग से होती है। उसका कथन है कि वह जब किसी बड़े काम में लगा रहता है तो उसे पेट का दर्द नहीं होता। उसके पेट का दर्द उसकी बेकारी की अवस्था में बढ़ जाता है।

जब मनुष्य का मन किसी एक क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने लगता है तो वह अपने ही आत्म-निर्देश से दूसरे क्षेत्र में भी रचनात्मक कार्य करने लगता है। इस प्रकार समाज की भलाई में लगे हुए व्यक्ति का मन स्वास्थ्य के विषय में भी रचनात्मक कार्य करता है। रचनात्मक कार्य करते समय अनेक प्रकार के उत्साहवर्द्धक विचार मनुष्य के मन में आते हैं। ये विचार एक ओर मनुष्य की कार्यक्षमता की वृद्धि करते हैं और दूसरी ओर उसके स्वास्थ्य की उन्नति करते हैं। निकम्मा मनुष्य निराशावादी होता है। वह किसी प्रकार के अशुभ विचार को अपने मन से निकाल नहीं सकता। उसका मन उसे रोग का निर्देश देते

रहता है और इसके कारण वह बीमार बना रहता है। कितने ही निकम्मे लोगों को इस प्रकार कल्पित बीमारियाँ घेरे रहती हैं। जो मनुष्य अपने शरीर के विषय में जितनी अधिक चिन्ता करता है उसे रोग भी उतना ही अधिक घेरते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को इस बात के लिए भाग्यशाली समझना चाहिए कि उसका मन किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में लगा हुआ है और वह उससे आनन्द पाता है। रचनात्मक कार्य से दूसरा कोई लाभ हो अथवा नहीं इससे मनुष्य को शुभ आत्म-निर्देश मिलता है जिसके कारण उसकी अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ अपने-आप ही नष्ट हो जाती हैं, उसे आत्म-विश्वास आता है, उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य के प्रतिक्षण के विचार आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेते हैं। "वृत्तिसारूप्यमितरत्र"—मनुष्य जो कुछ सोचता है उसका संस्कार उसके अचेतन मन पर रह जाता है। जब कोई

सत्पुरुष का ध्यान

मनुष्य किसी बात को बार-बार सोचता है तो वह विचार आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है। बार-बार जिस व्यक्ति के बारे में हम सोचते हैं, चाहे प्रेमवश सोचें अथवा घृणावश, उससे हम अपना आत्मसात् कर लेते हैं। फिर हममें आत्मनिर्देश के द्वारा उस व्यक्ति के गुण अथवा दोष अपने आप में आ जाते हैं। यदि हम बार-बार रोगी व्यक्ति के बारे में चिन्ता करते हैं तो हम स्वयं रोगी हो जाते हैं और यदि आरोग्यवान् व्यक्ति के बारे में हम सदा चिन्ता करते रहते हैं तो हम आरोग्यवान् बन जाते हैं। इसी प्रकार साधु का ध्यान रहने से मनुष्य साधु बन जाता है और दुष्ट व्यक्ति का ध्यान करते रहने से वह दुष्ट बन जाता है। जिस व्यक्ति में घृणा के भाव प्रबल होते हैं वह किसी प्रकार के संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति से भय करने लगता है और उससे बचने की चेष्टा करता है, पर इस प्रकार आत्म-निर्देश की प्रबलता के कारण वह उस रोग को ही पकड़ लेता है। इस प्रकार संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे पर चले जाते हैं। पर जिस प्रकार रोग संक्रामक है, आरोग्य भी संक्रामक है। वास्तव में अधिकतर हमारे चिन्तन

का अभ्यास ही रोग और स्वास्थ्य की उत्पत्ति कर डालता है। अभ्यास ही आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है ।

बीमार मनुष्य का बार-बार चिन्तन करने से अपने-आप में उसी रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रसग में पूर्व उल्लिखित प्लूरेसी और क्षयरोग से पीड़ित छात्रा के रोग के आरम्भ होने का वृतांत उल्लेखनीय है—

गत वर्ष (सन् १९४६) इस छात्रा के पिता बीमार पड़े। इन्हें प्लूरेसी का रोग हो गया था। इस छात्रा की अवस्था कोई बाईस साल की थी। पर वह अभी तक अविवाहित थी। उसके पिता की आयु साठ साल की थी। उनका सारा जीवन देश-सेवा और जेलखाने में बीता था। यह छात्रा अपने पिता की वृद्धावस्था में सेवा करना चाहती थी। अचानक प्लूरेसी से पीड़ित होकर पिता की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु की घटना ने उसके मन पर बड़ा प्रभाव डाला। जब वह घर से वापस आई तो उसका मन पढ़ने में नहीं लगता था। कुछ दिन के बाद वह स्वयं बीमार हो गई। बीमारी की परीक्षा कराने पर पता चला कि उस छात्रा को भी प्लूरेशी का रोग हो गया है।

लेखक इसी बीच इस छात्रा के पास पहुँचा। उसकी मानसिक व्यथा जानकर पता चला कि वह सदा अपने पिता की मृत्यु के बारे में कल्पना करती रहती है और पिता की मृत्यु को भूलने की चेष्टा करने पर भी उस दृश्य को नहीं भूलती थी। उसकी मानसिक परिस्थिति को जानकर रोगी के रोग का कारण प्रत्यक्ष हो गया। वास्तव में छात्रा ने अपने पिता के साथ इतना अधिक आत्मसात कर लिया था कि वह पिता के रोग का उसी प्रकार वास्तविक अभिनय करने लगी जिस प्रकार इरीन नामक महिला (जिसका वर्णन पृष्ठ ९४ में किया गया है) अपनी माँ की मृत्यु का अभिनय विक्षिप्तावस्था में करती थी।

उक्त उदाहरण में पिता के प्रति प्रेम के कारण उक्त रोग उत्पन्न हो गया। साधारणतः अधिक रोग घृणा के कारण पैदा होते हैं। रोगी मनुष्य के प्रति सहानुभूति दर्शाने का एक लाभ यह होता है कि हमारा उसके रोग

के प्रति डर मिट जाता है। डर के मिट जानेपर हमारी इच्छाशक्ति बली हो जाती है और रोगी से हमें दुर्निर्देश नहीं मिलता।

मनुष्य की इच्छाशक्ति अनेक प्रकार की वाह्य क्रियाओं के करने से बढ़ती है। इससे उसकी आत्मनिर्देश की शक्ति भी बढ़ती है। यज्ञ होम, जप, पूजा-पाठ इस दृष्टि से उपयोगी होते हैं। कितने ही लोगों के मानसिक रोग रविवार के उपवास से अथवा सूर्यदर्शन से नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में इन क्रियाओं के करने से आत्मनिर्देश की शक्ति उत्पन्न होती है, इससे मानसिक दृढ़ता आती है और रोग नष्ट हो जाता है। पर यहाँ हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस समाज में रोगी रहता है उसमें यदि इन बातों पर विश्वास न हो तो इस प्रकार की क्रियाओं के करने का कोई मौलिक लाभ नहीं होता। जब मनुष्य अपनी आन्तरिक धारणाओं के प्रतिकूल कोई काम करता है तो उसे लाभ न होकर हानि ही होती है।

आत्मनिर्देश और वाह्यक्रियाएँ

सभी प्रकार के लाभ से तथा परोपकार से मनुष्य के मन में आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति अवश्य ही दृढ़ होती है। अतएव अपने आत्मनिर्देश की शक्ति को बढ़ाने के लिये किसी प्रकार का तप करना, चित्त को एकाग्र करना, दूसरों के सुखी बनाने का काम करना अथवा इसी प्रकार के काम की कल्पनामात्र करना लाभदायक होता है। रोगी व्यक्ति से किसी प्रकार की साधना अथवा त्याग करवाना उसके लिये कल्याणकारी होता है। रोगी से जितना ही अधिक मैत्रीभावना का अभ्यास कराया जाय उतना ही भला है। उसमें घृणा के भावों की प्रबलता होती है। मैत्री भावना के अभ्यास से इन भावों का विनाश हो जाता है अतएव उसकी इच्छाशक्ति भी दृढ़ होती है और रोग भी नष्ट हो जाता है।

शान्त विचार की शक्ति

हमारे मन में दो प्रकार के विचार आते हैं—उद्वेग-युक्त और शान्त। भय, क्रोध, शोक, लोभ आदि मनोवेगों से पूर्ण विचार उद्वेगयुक्त विचार हैं; जिन

विचारों में मानसिक उद्वेगों का अभाव रहता है उन्हें शान्तविचार कहा जाता है। साधारणतः हम विचारों के बल को उससे सम्बन्धित उद्वेगों से मापते हैं। पर यह हमारी भूल है। क्रोधातुर व्यक्ति से अधिक डरा जाता है, पर क्रोधातुर व्यक्ति से उतना डरने का कारण नहीं जितना कि शान्तविचार के व्यक्ति से डरने का कारण है। जिस व्यक्ति को अपने शक्ति पर भरोसा नहीं रहता वह उद्विग्न मन होता है, जिसे अपनी शक्ति में भरोसा रहता है वह शान्त मन रहता है। जब हम किसी प्रकार के उद्वेगपूर्ण विचार को शान्त कर देते हैं तो उससे अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़ बना लेते हैं। इससे मनुष्य की आत्मनिर्देश की शक्ति बढ़ जाती है।

दो प्रकार के विचार

उद्वेगपूर्ण विचार वैयक्तिक विचार हैं; उनका उद्गमस्थान वैयक्तिक मनोभाव होते हैं। शान्त विचारों का उद्गमस्थान मनुष्य का समष्टिमन होता है। ऐसे विचार मनुष्य की अन्तरात्मा से आते हैं। शान्तमन से किये गये निश्चय फलित होते हैं, उनके पीछे वृहदात्मा की शक्ति काम करती है। मनुष्य के मन में कल्पनातीत शक्ति है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक इस शक्ति का ज्ञान करता है वह उतना ही शान्त मन रहता है और उसके संकल्प उतने ही सफल होते हैं।

शान्तविचारो का शक्ति का केन्द्र

शान्तविचार सृजनात्मक होता है और उद्वेगात्मक विचार प्रायः ध्वंसात्मक। एक से अपना और दूसरों का कल्याण होता है और दूसरे से हानि होती है। वैयक्तिक विचार संशययुक्त होता है, अतएव चाहे उसे कितने ही प्रभाव के साथ क्यो न प्रकाशित किया जाय विफल हो जाता है। समष्टि के कल्याण का विचार संशयरहित होता है, अतएव वह अपने-आप ही फलित हो जाता है। संशय नकारात्मक विचार है। शान्तविचार के साथ नकारात्मक विचार का सहयोग नही होता, अतएव ऐसा विचार फलित होता है। यही कारण है कि सत्पुरुष का दिया हुआ आशीर्वाद फलित होता है। जो मनुष्य अपने विचारों की शक्ति मे जितना अधिक विश्वास करता है उसके विचार उतने ही

अधिक फलित होते हैं। वह अपने आत्मनिर्देश से विचारों की शक्ति को बढ़ा देता है।

आत्मा की अनुकूलता ही ईश्वर अथवा प्रकृति की अनुकूलता के विचार के रूप में मनुष्य की चेतना के समक्ष आती है। वे भावनाएँ अचेतन मन की अनुभूति के प्रतिभास मात्र हैं। मनुष्य अपनी आन्तरिक अनुभूति के अनुसार अपनी कल्पनाओं को रचता है। इन कल्पनाओं की वास्तविकता उसकी अज्ञात आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर करती है। ईश्वर का कृपापात्र वही व्यक्ति होता है जो अपने-आपका कृपापात्र है। जैसा मन का रुख होता है वैसी ही मनुष्य की कल्पनाएँ होती हैं। आशावादी मन की कल्पनाएँ अथवा विचार आशावादी होते हैं, चाहे वह ईश्वर-वादी हो अथवा जड़वादी, निराशावादी मन की कल्पनाएँ निराशायुक्त होती हैं। मन का रुख बदलने से ही कल्पनाओं का स्वरूप बदल जाता है और इसे बदलने के लिये मनुष्य को अन्तर्मुखी होना पड़ता है। विचारों को बाहर दौड़ाने से मन की शक्ति खर्च होती है और उन्हें समेटने से, एकाग्र करने से, मन की शक्ति बढ़ती है। इसी शक्ति पर मनुष्य की आत्मनिर्देश की शक्ति निर्भर करती है।

गम्भीर परिस्थितियों में शान्त मन रहनेवाला पुरुष प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में परिणत कर लेता है। शान्त मन की शक्ति का दूसरे लोगों के मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। वास्तव में दूसरे व्यक्तियों का निश्चय हमारे दृढ़ निश्चय पर ही निर्भर करता है। जिस मनुष्य में जितनी मानसिक दृढ़ता होती है वह उतने ही शान्तभाव से दूसरों को अपनी बात कहता है और उसके मन पर उसके कथन का प्रभाव उसी प्रकार का पड़ता है।

शान्त विचारों का प्रभाव धीरे-धीरे होता है; उद्वेगपूर्ण विचारों का प्रभाव तुरन्त होता। पर एक का कार्य स्थायी और व्यापक होता है और दूसरे का अस्थायी और परिमित। जिस प्रकार किसी बीज के वृक्षरूप में परिणत होने के लिए अदृश्य जगत् में काम करनेवाली शान्त शक्तियों की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार प्रतिक्षण के शान्त विचार हमारे सकल्प को

फलित करने के लिए आवश्यक होते हैं और उनका कार्य अदृश्य होता है। ये शान्त विचार हा आत्मनिर्देश कहे जाते हैं। हमारे शान्त विचार धीरे-धीरे हमारे मन की बनावट ही बदल देते हैं। जैसी मन की बनावट होती है वैसा ही हमारा आचरण भी होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार किसी काम में लगता है, पर इस स्वभाव को भी शान्त विचारों से बदला जा सकता है।

शान्त मन से सोचने से मनुष्य अपने काम के भावी परिणाम की रूप-रेखा जान सकता है। जब मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा के प्रतिकूल कोई काम करता है तो उसे विफलता मिलती है। शान्त विचार अन्तरात्मा से आते हैं और इनकी ज्ञानशक्ति अपरिमित है। शान्त विचार के द्वारा दूसरे व्यक्ति के विचार भी जाने जा सकते हैं। आत्मनिर्देश की शक्ति शान्त विचारों में ही है।

शान्त विचारों की वृद्धि के उपाय

शान्त विचार वैयक्तिक इच्छाओं के नियन्त्रण और विनाश से आते हैं। इच्छाओं की वृद्धि से इच्छाशक्ति का बल कम होता है और उनके विनाश से उसका बल बढ़ता है। इच्छाओं की वृद्धि ही उद्वेगों की वृद्धि करती है और इससे शान्त विचारों का अन्त हो जाता है और उनके स्थान पर भय, शोक, क्रोध आदि के उद्वेगात्मक विचार मन में भर जाते हैं। इनकी प्रबलता होने पर मनुष्य को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोगों का अन्त शान्त विचारों से ही किया जाता है। ऊपर कही गई आत्मनिर्देश की विधि शान्त विचारों की वृद्धि करने की ही विधि है।

मनुष्य में सभी प्रकार के गुण अभ्यास से आते हैं। मनुष्य अपने-आप पर अधिकार धीरे-धीरे प्राप्त करता है। शान्तविचारों की वृद्धि धीरे-धीरे होती है। जैसे-जैसे मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके विचार शान्त होते जाते हैं। इसके लिए प्रतिदिन का अभ्यास आवश्यक है। सभी प्रकार की सच्ची धार्मिक साधनाएँ शान्त विचारों की वृद्धि के उपाय हैं। भगवान् बुद्ध के बताये हुए अष्टांगी मार्ग के अभ्यास से मनुष्य में शान्त विचारों

की वृद्धि होती है। इसमें से सम्यक् व्यायाम और सम्यक् समाधि विशेष प्रकार से उपयोगी हैं। सम्यक् स्मृति में अपने प्रत्येक विचार के ऊपर ध्यान रखा जाता है, किसी भी अवाच्छनीय विचार को मन में ठहरने नहीं दिया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। हम जितना ही अवाञ्छनीय विचारों को अपने मन से बाहर निकालने में समर्थ होते हैं उतना ही अपनी इच्छाशक्ति का बल बढ़ा लेते हैं। यह इच्छाशक्ति का बल फिर पीछे अपने शुभ संकल्पों को फलित करने में काम आता है। सम्यक् समाधि से चित्त की एकाग्रता आती है। मनुष्य की निर्देश की शक्ति इसी एकाग्रता पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक किसी एक बात पर एकाग्र चित्त होकर सोच सकता है उसका मानसिक बल उतना ही बढ़ा हुआ रहता है। किसी बात को एकाग्रचित्त होकर सोचने से वह सफल होती है। इसके लिए प्रतिदिन का अभ्यास आवश्यक है। सम्यक व्यायाम के द्वारा पुराने भले विचारों का अभ्यास किया जाता है और नये कल्याणकारी विचारों की सृष्टि की जाती है। इन विचारों से मनुष्य का आत्म-ज्ञान बढ़ता है और आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आती है।

विचारों की शक्ति के विषय में मनुष्य जैसा सोचता है उनमें वैसी ही शक्ति आ जाती है। किसी प्रकार की भावना बार-बार मन में लाने से वह फलित होती है। वास्तव में हमारा स्वरूप विचार ही है। विचार की कोई सीमा नहीं है। यह देश और काल के परे है। विचार की सीमा स्वयं विचार ही निर्धारित करता है, अर्थात् जैसा मनुष्य सोच लेता है कि मैं अमुक काम कर सकता हूँ और अमुक नहीं कर सकता है, वह पहले ही काम करने की योग्यता अपने में पाता है और दूसरे काम के करने में असमर्थ रहता है। हमारे पुराने विचार ही हमारी उन्नति में सहायक अथवा बाधक होते हैं। अचेतन मन का भंडार इन्हीं का बना हुआ रहता है।

विचार की शक्ति की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि किसी प्रकार का व्यर्थ विचार मन में ठहरने न दिया जाय। किसी प्रकार की चिन्ता करना अपने विचारों की शक्ति को व्यर्थ खर्च करना है। सभी कुछ हमारे कल्याण

के लिये है—इस प्रकार का विचार चिन्ता का विनाश करता है और इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाता है। इसका हमें अभ्यास करना आवश्यक है।

मानसिक चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने विचारों की शक्ति बढ़ावे। रोगी सदा उद्विग्न मन रहता है। उसके विचार निराशाजनक होते हैं। उसे शान्त मन रखना तथा उसके मन में आशा का सञ्चार करना यह मानसिक चिकित्सक का परम कर्तव्य है। यदि मानसिक चिकित्सक स्वयं किसी प्रकार उद्विग्न मन हो जाता है तो वह रोगी को लाभ न कर उसकी हानि ही करता है। जिस व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियां हैं उसके विचार स्थिर नहीं रहते। ऐसा व्यक्ति सफल मानसिक चिकित्सक नहीं हो सकता। रोगी को बार-बार उत्साहवर्द्धक निर्देश देना पड़ता है और उसके संशयों का निवारण करना पड़ता है। इसके लिए बड़े धैर्य और आत्मविश्वास की आवश्यकता है।

मन की लहरों की क्रियाएँ

ऊपर कहा गया है कि विचारों की कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार विचार समीपवर्ती व्यक्ति को भी प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार वे दूर के व्यक्ति को भी प्रभावित करते हैं। विचार प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही रूप से दूसरे लोगों के पास भेजे जा सकते हैं। रोगी के कल्याण के विषय में प्रतिदिन चिन्तन करने से उसका कल्याण होता है। उसका रोग धीरे-धीरे अनजाने ही चला जाता है। जिस मनुष्य की इच्छाशक्ति जितनी दृढ़ है वह उतनी ही प्रबल विचार धाराएँ दूसरे लोगों के पास भेजता है और इसका परिणाम भी उसके निश्चय के अनुसार होता है। विचार की लहरें रेडियो की लहरों के सदृश अदृश्य रहती हैं। जब किसी प्रकार की लहर रेडियो के ट्रान्समिटर से पैदा हो जाती है तो वह जगत् में चली जाती है, और जहाँ पर उसके पकड़ने के लिए सेट पहले से तैयार रहता है वहाँ वह प्रकाशित होने लगती है, अर्थात् वह मनुष्य के चेतन मन को ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचार भेजा जा सकता है और उसे ज्ञात किया जा सकता है। पर हमारा भेजा हुआ विचार किसी भी व्यक्ति के अचेतन मन को प्रभावित करता ही है। मनुष्य के स्वास्थ्य की वृद्धि में इस प्रकार के विचारों का बड़ा महत्त्व है।

रोगी साधारणतः अपने आसपास निराशा के भाव उत्पन्न कर लेता है। वह दूसरे लोगों में अपनी बीमारी का प्रचार करता है। इससे दूसरे लोग भी उसे बीमार सोचते हैं। वह जैसी कल्पना अपने विषय में करता है, दूसरे लोग भी उसी प्रकार की कल्पना उसके विषय में करते हैं। इस प्रकार के विचारों के कारण उसकी बीमारी और भी बढ़ जाती है। चारों ओर से उसे प्रायः बीमारी के निर्देश मिलते हैं और उसके अज्ञात मन में भी बीमारी के विचार बाहर से आते हैं। जिस व्यक्ति के विषय में सभी लोग सोचते हैं कि वह स्वस्थ हो जावेगा, वह स्वस्थ हो जाता है और जिसके विषय में सभी लोगों की दृढ़ धारणा हो जाती है कि वह मर जावेगा तो वह प्रायः मर ही जाता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति की बीमारी को रोगी के प्रति कल्याणकारी विचार प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रूप से भेजकर नष्ट किया जा सकता है।

एक बार लेखक का एक मित्र भयानक बीमारी से बीमार पड़ा था। उसके आस-पास रहनेवाले व्यक्तियों के विचार निराशाजनक थे। उसके आस-पास रहनेवाले लोगों के मन में आशाजनक विचारों का सञ्चार किया गया। इसके परिणामस्वरूप वह मित्र अच्छा हो गया। एक दूसरे मित्र को लेखक ने बीमार अवस्था में देखा। वह बड़ा परोपकारी व्यक्ति था। उसे देखकर लेखक को बहुत ही दुःख हुआ। उसके विषय में स्वास्थ्य की भावना का अभ्यास किया गया और वह कुछ काल में ही आरोग्य हो गया।

लेखक का एक छात्र शान्त विचारों की शक्ति में विश्वास करता है। उसे एक बार अपने एक मित्र का पत्र मिला कि उसका लड़का बीमार है। इसके लिए पर्याप्त डाक्टरी दवा की जा चुकी थी। पर रोग नहीं जाता था। इस छात्र ने कहा कि अब मैं इस रोग की चिकित्सा करूँगा और वह उस लड़के के लिये शुभ विचार भेजने लगा। तीन-चार रोज के बाद इस मित्र का पत्र आया कि वह लड़का अब अच्छा हो गया है।

मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से अपने मित्रों को शुभ-कामना के पत्र लिखते रहना बहुत ही अच्छा है। यह एक पुण्य-कार्य है। ये पत्र सच्चे मन से लिखे जाने चाहिए और किसी प्रकार का भ्रम तथा चिन्ता का उनमें प्रकाशन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के पत्र लिखने से एक ओर

उन मित्रों का लाभ होता है और दूसरी ओर स्वयं अपना लाभ होता है। मित्रों को पत्र लिखना मैत्री-भावना का अभ्यास है। इस प्रकार का अभ्यास हमारे शान्त विचारों की वृद्धि करता है और अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाता है। प्रातःकाल उठकर अपने मित्रों के विषय में सोचना भी इस दृष्टि से अपने लिए तथा दूसरों के लिए बड़ा हितकर होता है। बहुत से रोगियों के रोग इस प्रकार के चिन्तन से नष्ट हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सक को चाहिए कि वह रात के समय उठकर अपने सम्पर्क में आये हुए रोगियों के प्रति कल्याण के विचार भेजे। इस प्रकार के विचार रोगी मनुष्य को अपने रोग से मुक्त होने में बहुत ही सहायक होते हैं। सोते समय प्रत्येक मनुष्य का मन शान्त रहता है और जो विचार किसी व्यक्ति को इस समय भेजे जाते हैं वे उसके भीतरी मन में प्रवेश कर जाते हैं। जब मनुष्य के भीतरी विचारों में परिवर्तन हो जाता है तो उसे अज्ञात रूप से आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार उसके विचार सकारात्मक हो जाते हैं और उसे आरोग्य लाभ होता है।

मैत्री भावना के विचारों से लाभ

दूसरे व्यक्ति के कल्याण की भावना का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं है। इसका लाभ दूसरे व्यक्ति को होता है, पर अपने-आपको और भी अधिक होता है। जो व्यक्ति इस प्रकार के अभ्यास की मौलिकता में जितना अधिक विश्वास करता है उसे अपने-आप भी उतना ही अधिक आध्यात्मिक लाभ होता है। यदि एक भी व्यक्ति हमारे इस प्रकार के अभ्यास से लाभ उठाता है तो हमारा उसमें विश्वास बढ़ जाता है। फिर विश्वास के साथ इस अभ्यास को प्रतिदिन सोते, जागते तथा बीच रात में करते रहने से मनुष्य की दूसरों को आरोग्य प्रदान करने की शक्ति बढ़ जाती है।

यदि हम किसी मानसिक रोगी के आस-पास के विचारों का वातावरण देखें तो उसे बहुत ही दूषित पावेंगे। इस दूषित वातावरण के कारण हमारे कल्याणकारी विचारों का रोगी पर तुरन्त प्रभाव नहीं होता। मान-

सिक रोगी को स्वास्थ्य-प्रदान करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे अपने पुराने वातावरण से अलग रखा जाय।

रोगी के वातावरण में परिवर्तन की आवश्यकता

जब मानसिक रोगी किसी चिकित्सक के पास पहुँच जाता है तो एक ओर वह दूषित वातावरण से अलग हो जाता है और दूसरी ओर उसके सम्बन्धियों के आशातीत विचार उसके समीप आने लगते हैं। ये विचार रोगी के आशावान् बनने में सहायक होते हैं।

जिस व्यक्ति को मानसिक चिकित्सक पर किसी प्रकार विश्वास हो गया है, वह उससे अवश्य लाभ उठाता है। इसके प्रतिकूल जिस चिकित्सक के ऊपर मानसिक रोगी का विश्वास नहीं होता उससे रोगी को कोई विशेष लाभ नहीं होता। कोई भी मानसिक चिकित्सक, चाहे वह किसी प्रकार की चिकित्सा-विधि में विश्वास क्यों न करे, बिना रोगी की आन्तरिक सहायता के उसे लाभ नहीं पहुँचा सकता। वास्तव में जैसा कूये महाशय ने कहा है कि रोगी का आन्तरिक मन ही उसे सच्चा लाभ पहुँचाता है। हम बाहर से उसके मन को किसी विशेष ओर प्रभावित कर सकते हैं, पर रोगी का स्वयं प्रभावित होना भी उसकी आन्तिरिक इच्छा पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति स्वयं प्रभावित होना नहीं चाहता उसे चिकित्सक प्रभावित नहीं कर सकता। चिकित्सक के ऊपर विश्वास की अवस्था में रोगी सरलता से प्रभावित हो जाता है, और उसे जैसा सुझाया जाता है उसी प्रकार उसका मन काम करने लगता है। अतएव रोगी का, चिकित्सक पर विश्वास बढ़ाने के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय वह रोगी के लिए हितकर है। इस सिद्धान्त की सत्यता आगे चलकर कुछ प्रमाणों के द्वारा दर्शायी जायगी।

विश्वास का प्रभाव

किसी भी रोगी का चिकित्सक के पास रहना उसे लाभदायक होता है। एक ओर इससे चिकित्सक उसके विशेष रोग की पहचान कर लेता है और दूसरी ओर रोगी को उससे शुभ निर्देश सदा मिलते रहते हैं। चिकित्सक अपने शुभ विचार रोगी के पास भेजता रहता है। इन विचारों का भला प्रभाव रोगी के मन पर पड़ता है। इससे उसकी विचारधारा विशेष ओर मुड़ जाती है

और उसे आरोग्य लाभ होता है। यह कार्य अज्ञातरूप से होता है। चिकित्सक के अप्रकाशित विचार रोगी को स्वस्थ बनाने में उतने ही सहायक होते हैं जितने कि प्रकाशित विचार। इतना ही नहीं, अप्रकाशित विचारों का महत्त्व भी प्रकाशित विचारों से अधिक होता है। यदि चिकित्सक रोगी का कल्याण चाहता है तो धीरे-धीरे उसका रोग नष्ट हो जाता है। जितना ही निःस्वार्थभाव से चिकित्सक अपने शुभ विचार रोगी के प्रति भेजता है उसे उतना ही अधिक लाभ होता है।

निर्देश और रेचन विधि की तुलना

मानसिक तथा मनोविकारजनित शारीरिक रोगों की चिकित्सा की दो विधियाँ हैं—रेचनविधि और निर्देशविधि। दोनों प्रकार की विधियों में कुछ समानता है। दोनों ही विधियों में बाहरी औषधियों की आवश्यकता नहीं रहती। दोनों विधियों की सफलता मनोवैज्ञानिक की कुशलता पर निर्भर करती है। दोनों विधियों में मनोवैज्ञानिक को सहृदय होने की आवश्यकता होती है। दोनों विधियों के द्वारा आश्चर्यजनक प्रभाव रोगी पर पड़ता है।

समानता और विरोध

किन्तु इन दोनों विधियों में विरोध इतना अधिक है कि एक विधि में विश्वास करने वाला व्यक्ति दूसरी विधि को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। रेचनविधि वैज्ञानिक विधि कही जाती है और निर्देशविधि का आधार विश्वास है। अतएव निर्देश विधि को वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्ति अंधविश्वास मात्र मानते हैं। निर्देश के द्वारा रोगी के मन पर चमत्कारिक प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर मनोविश्लेषकों के अनुसार इस प्रकार के प्रभाव का अन्तिम परिणाम वांछनीय नहीं होता। उनके कथनानुसार निर्देश के द्वारा मानसिक ग्रन्थि का रेचन नहीं होता, वरन् रोग का दमन हो जाता है। यह रोग फिर पीछे निकल आता है। रेचन विधि में कारण जानने में बड़ी कुशलता दिखाई जाती है, निर्देशविधि में रोगी से उसके रोग के विषय में अधिक चर्चा करना ही ठीक नहीं समझा जाता। इस प्रकार की चर्चा से रोग और भी दृढ़ हो जाता है। रेचन विधि का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति दूर के

व्यक्ति को प्रभावित करने अथवा सोते हुए व्यक्ति को प्रभावित करने की विचार की शक्ति में विश्वास नहीं करता। निर्देशविधि में विश्वास करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार की शक्ति में विश्वास करता है। रेचनविधि में दान, पुण्य उपवास आदि को स्थान नहीं, निर्देशविधि में इन्हें स्थान है।

निर्देशविधि के प्रति सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उससे रोगी की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इसके द्वारा रोग का दमन हो जाता है, पर इच्छा-शक्ति के निर्बल होने के कारण पीछे रोग की भीषणता बढ़ जाना स्वाभाविक है। यह आक्षेप साधारण निर्देश की क्रिया को जानकर किया गया है। यह सत्य है कि जिस बालक को बराबर सम्मोहित किया जाता है उसकी इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है, पर निर्देशविधि में मनुष्य दूसरे के द्वारा सदा सम्मोहित नहीं होता। उसमें अधिक काम आत्म-निर्देश का ही है। कूये महाशय स्वयं आत्मनिर्देश और आत्मनियंत्रण पर ही जोर देते थे। आत्मनिर्देश के द्वारा मनुष्य की मानसिक शक्ति नष्ट न होकर और भी बढ़ जाती है। आत्मनिर्देश इच्छाशक्ति को दृढ़ करता है। जब किसी व्यक्ति की इच्छाशक्ति एक बार दृढ़ हो जाती है तो वह एक ही रोग से मुक्त नहीं होता, वरन् अनेक रोगों से मुक्त हो जाता है। निर्देश-विधि की मौलिकता इसमें ही है कि उससे मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है और उसे स्थायी लाभ भी होता है।

निर्देश विधि के प्रति आक्षेप

इस प्रसंग मेगडूगल महाशय के "एन आऊटलाइन आफ एब नारमल साइकालाजी" नामक अपनी पुस्तक में कथित रेचन विधि की तुलनात्मक उपयोगिता सम्बन्धी विचार उल्लेखनीय है। मेगडूगल महाशय का कथन है कि मनोविश्लेषण के द्वारा मनोविश्लेषक रोगी के आन्तरिक मन के ऊपर अधिकार प्राप्त कर लेता है। वह रोगी की गुप्त से गुप्त बातों को जानने की चेष्टा करता है। यदि रोगी उन्हें चिकित्सक को न बतावे तो उसका रोग ही नहीं जाता और यदि वह बताता है तो वह स्वभावतः अपने आपको चिकित्सक के प्रति समर्पित कर देता है। उसका भीतरी मन चिकित्सक के प्रभाव में आ जाता है।

अब यदि चिकित्सक रोगी को आरोग्य के निर्देश प्रतिदिन देता है तो रोगी के आरोग्य लाभ करने में आश्चर्य ही क्या। इस प्रकार जो जादू मनोविश्लेषण का माना जाता है वह वास्तव में मनोविश्लेषक के निर्देश का जादू होता है।

निर्देशविधि के प्रयोग के लिये वैसी विशेष प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं होती, जैसे कि रेचनविधि के लिये आवश्यकता होती है। निर्देशविधि को प्रत्येक मनुष्य अपने आप काम में ले आ सकता है और इसके द्वारा वह अपने तथा अपने मित्रों के रोगों को नष्ट कर सकता है। निर्देशविधि से मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण उनके चेतना की सतहपर आये विना ही हो जाता है। यदि सभी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण उन्हें चेतना की सतह पर लाकर ही किया जा सके तो यह काम जीवन भर नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनगिनत मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं और उन्हें खोजना और उनका एक-एक करके निराकरण करना जीवन भर का काम हो जाता है। हमारी बहुत सी मानसिक ग्रन्थियाँ अपने आप ही हमारे साधारण कामों के करने से नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार प्रतिदिन भले आत्मनिर्देश देते रहने से मनुष्य के आन्तरिक मन में अपने-आप सुधार हो जाता है। जो मनुष्य सोते और जागते अपने-आप को यह निर्देश देता है कि मैं प्रतिदिन अच्छा होता जा रहा हूँ, वह कुछ काल में अपने आपको अच्छा व्यक्ति बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार न केवल उसके मानसिक अथवा शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं, वरन् उसके चरित्र में भी चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है।

निर्देशविधि की व्यापक मौलिकता

कितने ही व्यक्ति सदा अपने चरित्र की नुक्ताचीनी किया करते हैं। वे अपने-आपको आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते हैं, और इसके लिये सदा आत्म-निरीक्षण करते रहते हैं। वे अपने कृत्यों के लिये दुःखी होते हैं, पर वे देखते हैं कि जिन भूलों के लिये उन्होंने कई बार पश्चात्ताप किया वही भूलें वे फिर बार बार करते हैं। उनके पश्चात्ताप करने से उन्हें आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करने में कोई लाभ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति वास्तव में अपने-आपको नकारात्मक

आत्म-निर्देश देते रहते हैं, अतएव वे अपनी इच्छाशक्ति को और भी निर्बल बना लेते हैं। जब वे अपने-आपको सकारात्मक आत्म-निर्देश देने लगते हैं, अर्थात् जब वे आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में अपनी सफलता पर ही ध्यान रखते हैं और सोचते हैं कि हम धीरे-धीरे चरित्र में उन्नति कर रहे हैं वे वास्तव में अपने चरित्र में उन्नति कर डालते हैं। इस प्रकार का परिणाम आत्मनिर्देश से ही होता है।

आत्मनिर्देश की शक्ति को जानना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इससे हम अपनी बीमारी को नष्ट न कर सकें, तो उसे हलकी अवश्य बना सकते हैं। हम अपने रोग के बारे में जैसा सोचते हैं, रोग वैसा ही बनता जाता है। कहा जाता है कि कायर मनुष्य हजारों बार मरता है और वीर पुरुष एक बार ही मरता है। वास्तव में अपनी बीमारी की भयंकरता के बारे में सदा विचार करने के कारण कितने ही लोग उस बीमारी को भयंकर बना लेते हैं और समय के पूर्व अपनी जीवन यात्रा को पूरी कर देते हैं।

मानसिक चिकित्सा में इन दोनों विधियों का मेल होना आदर्श की बात है। यदि कोई व्यक्ति दोनों प्रकार की विधियों तथा उनके महत्व को जानता है तो वह

मानसिक चिकित्सा में दोनों की सहायता की आवश्यकता

जहाँ तक एक विधि लाभकारी है वहाँतक उससे काम लेगा और जहाँ दूसरी विधि लाभकारी सिद्ध होती है वहाँ दूसरी से काम लेने लगेगा। रोगी के रोग के कारण जानने के लिये वहाँ उस का मनोविश्लेषण विज्ञान को जानना अत्यन्त आवश्यक है। पर उसकी सफल चिकित्सा के लिये न केवल उसकी मानसिक ग्रन्थियों का रेचन आवश्यक है, वरन् उसे सन्निर्देश देना भी आवश्यक है। डाक्टर होमरलेन रोगियों की मानसिक चिकित्सा में इसलिये ही अधिक सफल होते थे कि वे एक ओर मानसिक ग्रन्थियों का रेचन करते थे और दूसरी ओर रोगियों के प्रति सद्भाव प्रदर्शन करके उनमें सद्‌गुणों का संचार करते और उनमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करते थे।

निर्देशविधि के प्रयोग कर्त्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह रोगी की कमजोरियों पर अपना ध्यान अधिक न देकर उसके सद्‌गुणों पर अपना ध्यान जमावे और उसे प्रेम करने के लिये जो कुछ कारण मिलें उन्हें ढूँढ़ निकाले।

जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक की दृष्टि रोगी के प्रति होती है उसी प्रकार की दृष्टि स्वयं रोगी की अपने प्रति हो जाती है। प्रत्येक मानसिक रोगी अपने-आप को घृणा करता है। उसके आन्तरिक मन में अपने प्रति हीनता की मानसिक भावना रहती है। इस भावना को स्वयं रोगी नहीं बदल सकता, क्योंकि न तो वह इस भावना को जानता है और न प्रयत्न करने पर उसे इसका पता चलता है। वास्तव में वह ऊपर से दूसरे प्रकार का ही व्यक्ति दिखाई देता है। वह अपने-आपको भला व्यक्ति और दूसरों को नीचा व्यक्ति समझता है। ऐसी अवस्था में उससे कोई विरला ही व्यक्ति सहानुभूति रखता है। साधारणतः सभी लोग उससे घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार वे उसके मानसिक रोग को और भी जटिल बना देते हैं। उसके रोग को नष्ट करने के लिये उसके साथ प्रेम करना आवश्यक है, पर कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तब तक प्यार नहीं कर सकता जबतक वह उसमें वास्तविक भलाई नहीं देखता। सच्चा मानसिक चिकित्सक प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा की उपस्थिति देखता है, अतएव किसी भी व्यक्ति की बुराइयाँ उसकी आँख से उसकी भलाइयों को ओझल नहीं करतीं। वह रोगीको उसकी भलाइयाँ खोजकर दर्शाता है और इस प्रकार उसमें आत्मविश्वास की वृद्धि करता है। आत्मविश्वास ही शुभ आत्म- निर्देश का आधार है। निर्देश विधि की महत्ता माननेवाला व्यक्ति रोगी के विषय में शुभ चिन्तन करके उसे वास्तव में भला व्यक्ति बना देता है। इस प्रकार वह उसे न केवल स्वस्थ बनाता है वरन् एक सुयोग्य व्यक्ति के रूप में परिणित कर देता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानसिक चिकित्सक को दोनों विधियों को जानना चाहिये और समय पर दोनों से काम लेना चाहिये।

मानसिक रोगों की प्रेम-चिकित्सा

किसी प्रकार के मानसिक अथवा मनोविकारजनित शारीरिक रोग का प्रभाव घृणा से बढ़ता और प्रेम से नष्ट होता है। रोगी दूसरे लोगों से और अपने आपसे घृणा करता है। जब दूसरों को नुकसान

घृणा और प्रेमका प्रभाव

पहुँचाने वाली भावना अपने आप पर आरोपित हो जाती है तो वह रोग के रूप में प्रकाशित होती है। जिस प्रकार शारीरिक रोग शारीरिक विकार को बाहर फेंकने

का प्राकृतिक उपाय है। उसी प्रकार मानसिक रोग, मानसिक विकार को बाहर निकालने का प्राकृतिक उपाय है। आत्मा स्वयं किसी बुराई को अपने आप नहीं ठहरने देता, बुराई ही रोग के रूप में बाहर आती है। जबतक मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं हो जाता तब तक रोग रहता है। इस प्रकार रोग का उत्पन्न होना, रोगी के लिये आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करने का उपाय है। इस नैसर्गिक चिकित्सा के कार्य में हम सहायता पहुँचा सकते हैं अथवा उसमें बाधा डाल सकते हैं। रोगी से घृणा करने से उसमें घृणा की प्रवृत्ति की वृद्धि होती है और उससे प्रेम करने से उसमें प्रेम के प्रभाव की वृद्धि होती है। रोगी का मन पहले ही निर्बल रहता है, अतएव यदि हम उससे घृणा करें तो उसका रोग और भी बढ़ जाता है। इसके प्रतिकूल यदि हम उससे प्रेम करें तो उसका रोग कम हो जाता अथवा नष्ट हो जाता है।

संक्रामक भाव

मनुष्य के भले अथवा बुरे मानसिक भाव संक्रामक होते हैं। जैसे प्रबल भाव एक व्यक्ति के होते हैं, वैसे ही उसके आस पास रहने वाले व्यक्तियों के भाव हो जाते हैं। किसी व्यक्ति के घृणा के भाव आस पास के लोगों में उन्हीं भावों की उत्पत्ति करते हैं और प्रेम के भाव प्रेम उत्पन्न करते हैं। स्वयं रोगी का मन निर्बल होता है, अतएव उसमें बुरे विचारों से प्रभावित होने की जितनी प्रवृत्ति होती है, भले विचारों से प्रभावित होने की उतनी प्रवृत्ति नहीं होती। पर प्रबल प्रेम अथवा आशा के विचार रोगी की विचार-धारा को भी बदल देते हैं और वह मानसिक चिकित्सक के सद्विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

कठोर व्यवहार का प्रभाव

मानसिक रोगियों के प्रति साधारणतः कठोरता का व्यवहार किया जाता है। इससे उनका रोग और भी जटिल हो जाता है। कठोर व्यवहार के कारण मानसिक रोगी की घृणा की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। प्रत्येक मानसिक रोगी अपने आपसे घृणा करता है। जब उसके प्रति कठोरता का व्यवहार होता है तो वह अपने आप से और भी निराश हो जाता है। वह जीना भी नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में उसके रोग का बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रसंग में लेखक के मित्र डाक्टर महादेव प्रसाद एम० डी० (गुरुकुल,

कांगड़ी, हरिद्वार) के मानसिक रोग की चिकित्सा के निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय हैं—

डाक्टर महादेव प्रसाद ने अहमदाबाद में अपना अस्पताल खोला था। इसमें एक ऐसा रोगी लाया गया जो अपने-आपको निस्तत्त्व हुआ मानने लगा था। वह बार-बार कहा करता था "मैं पोला हो गया हूँ, मैं अब कुछ नहीं कर सकता"। वह अपने हाथ से भोजन भी नहीं करता था जब जहाँ बैठ जाता वहीं बैठा रहता था। वह सदा यही सोचा करता था कि वह कुछ भी नहीं कर सकता। वह शरीर से पूर्ण स्वस्थ था, पर उसको विश्वास हो गया था कि वह बिलकुल निकम्मा हो गया है। सभी मिलने वाले लोगों से वह कहता था "मैं पोला हूँ"।

यह व्यक्ति पहले एक फैक्टरी का कर्मचारी था। उसके मन में एक दिन यकायक उक्त धारणा उत्पन्न हो गई। उसने फैक्टरी के अधिकारियों से छुट्टी ले ली और "मैं पोला हो गया हूँ" इसी विचार की रट लगाने लगा।

डाक्टर साहब ने इस रोगी के साथ पहले बड़ी सख्ती से काम लिया। उसके लिये एक तगड़ा नौकर रक्खा, जिसका काम था कि एक नियमावली के अनुसार रोगी से खाने-पीने, नहाने-धोने आदि के काम करावे। पर इस प्रकार की सख्ती से उसका रोग नहीं घटा और वह अपने जीवन से परेशान हो गया। एक दिन उसने कहा "यदि मुझे बादाम का हलुआ खिलाया जाय तो मेरा बल फिर वापस आ सकता है।" ऐसा ही फिर किया गया। उसकी इच्छा के अनुसार उसे खाने-पीने को दिया गया। कुछ काल के बाद इस रोगी का रोग जाता रहा।

डाक्टर साहब बड़े सदहृय व्यक्ति हैं। अतएव उन्हें उक्त रोगी के उपचार में अनायास सफलता मिल गई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उक्त रोगी का पोला हो जाने का भाव शारीरिक पोलेपन का प्रतीक नहीं वरन् आध्यात्मिक अथवा नैतिक पोलेपन का प्रतीक था। उक्त रोगी ने कोई ऐसा काम अवश्य किया था जिससे उसे आत्मग्लानि उत्पन्न हो गई थी और वह अपने-आपको आध्यात्मिक दृष्टि से पोला अथवा निस्तत्व मानने लगा था। उसका मन आत्मग्लानि से भरा था और वह अपने आपसे घृणा करने

लगा था। जबतक उसे घृणा का ही वातावरण मिलता रहा और उसके साथ कठोरता का व्यवहार होता रहा तबतक उसका रोग नष्ट नहीं हुआ। जब उसके साथ प्रेम का व्यवहार होने लगा तो उसके आन्तरिक मन में परिवर्तन हो गया और वह रोगी स्वस्थ हो गया। जब हम रोगी से प्रेम करते हैं तो रोगी भी हमें प्रेम करने लगता है और इस प्रेम के कारण वह अपना मानसिक स्वास्थ्य फिर से लाभ कर लेता है। उसका आध्यात्मिक पोलापन इस प्रकार नष्ट हो जाता है।

उक्त डाक्टर साहब का मानसिक रोगी का एक और अनुभव उल्लेखनीय है। एक बार इनके पास एक धार्मिक झक का रोगी लाया गया। यह रोगी सदा ग्रन्थों का, जो उसे याद थे, जोर जोर से पाठ करता था। इसके कारण वह न अपने आप सोता और न दूसरे को सोने देता था। यह रोगी पहले बड़ा विद्वान था। डाक्टर साहब ने इस रोगी के साथ कठोरता से ही व्यवहार किया। उसे अपने अस्पताल के एक कमरे में रख दिया और उसके पास एक बलवान नौकर रख दिया जो उसे पाठ करने से रोकता था। इस पर उस रोगी ने खाना पीना छोड़ दिया और उसने भूखों मर जाने की धमकी दी। पर उसे जबरजस्ती खाना खिलाया जाने लगा। वह इस प्रकार से परेशान हो गया। एक दिन उसने अपने रहने के कमरे को भीतर से बंद कर लिया और डाक्टर साहब से कह दिया कि वह अब उसमें भूखों रह कर मर जायगा। हजारों प्रकार की विनती करने पर भी उसने दरवाजा न खोला। डक्टर साहब को डर हो गया कि कहीं वह भूख प्यास से सचमुच आत्मघात न कर डाले। पीछे दरवाजा तोड़ा जाने लगा। वह रोगी दरवाजे से अपनी पीठ लगा कर खड़ा हो गया और कहने लगा कि यदि तुम दरवाजा तोड़ोगे तो मेरे पीठ में घाव हो जावेगा और इससे मैं मर जाऊँगा। फिर तो परेशान होकर उसके घर के लोगों को बुलाया गया और उनसे कहा गया कि उक्त रोगी को अपने घर वापस ले जावें। जब यह निश्चय हो गया कि वह घर चला जायगा तो उसने दरवाजा खोल दिया। घर के लोग उसे घर ले जाने को तैयार न थे। वे उसे वहीं छोड़ कर घर चले गये।

अब और सावधानी से इस रोगी से वर्ताव किया जाने लगा। किवाड़ों

की सिटकनी तथा जंजीरें हटा दी गईं। इसी बीच डाक्टर साहब को एक सूझ आई। उन्होंने रोगी कहा कि वह अपनी धर्म पुस्तक से कुछ पाठ उन्हें पढ़कर सुनावें। इसके लिये वे प्रतिदिन दो घंटे देने लगे। पीछे उससे कहा गया कि कंठस्थ पाठ को लिखे तो डाक्टर साहब का और दूसरे लोगों का भारी कल्याण होगा। इस कार्य को उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया और उसका अधिक समय इसी काम में व्यतीत होने लगा। इसके बाद उससे अपने विचारों पर लेख लिखाये जाने लगे और फिर अखबार के आफिस से प्रूफ मँगवाकर उससे पढ़वाया जाने लगा। धीरे धीरे इस प्रकार वह पूर्ण स्वस्थ हो गया।

वास्तव में उसे लाभ पहुँचाने वली वस्तु यहाँ डाक्टर साहब का उसके प्रति प्रेम ही था। धार्मिक झक के लोगों के भीतरी मन से धर्म का बातों के प्रति अश्रद्धा का भाव रहता है। जिस प्रकार धर्माडम्बर धर्म के अभाव का सूचक है, उसी प्रकार शिक्षितव्यक्ति का धर्म के प्रति लगाव उसके प्रति घृणा का सूचक है। धर्म के प्रचारकों में जितनी आन्तरिक अशान्ती पाई जाती है उतनी साधारण जन समुदाय नहीं पाई जाती। आन्तरिक शान्ति मैत्री भावना के अभ्यास से अर्थात् प्रेम की वृद्धि से आती है। धर्म के प्रचारकों में इस अभ्यास की कमी पाई जाती है। जब मनुष्य दूसरे व्यक्ति की आलोचना न करके उसको नैतिक शिक्षा देने का भाव छोड़ देता है और उसे प्रसन्न करने मात्र की चेष्टा करने लगता है तो उसमें आन्तरिक शान्ति आ जाती। प्रेम में ही जीवन है, प्रेम में ही आरोग्य है।

पागलों पर उपदेश का प्रभाव

किसी भी पागल को शिक्षा देने का प्रयत्न करना एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। पागल अपनी बात पर हठ करता है। उसके मन पर अधिकार जमाने के लिये यह आवश्यक है कि हम ही उसकी बात पहले मान लें। विक्षिप्त व्यक्ति को प्रभावित करने के लिये उपदेश से काम न लेकर निर्देश से काम लेना चाहिये। प्रत्येक प्रकार का हठ पागलपन है। पागल मनुष्य में हठ का भाव बढ़ा हुआ रहता है। उसकी हठ के प्रति सहानुभूति दर्शाकर ही हम उसे लाभ पहुँचा सकते हैं। रोगी के हठ को मानना उसका एक प्रकार की प्रेम-चिकित्सा करना है।

सातवाँ प्रकरण

प्राकृतिक और मानसिक चिकित्सा

दोनों के दृष्टिकोण की समानता

प्राकृतिक और मानसिक चिकित्सा में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है प्राकृतिक चिकित्सक विश्वास करता है कि प्रकृति स्वयं ही रोग को अपने आप शरीर से बाहर निकालती रहती है। किसी प्रकार का अतिक्रम करने से रोग की उपस्थिति होती है। अर्थात् जीवन में अप्राकृतिकता आ जाने से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग फिर किसी न किसी प्रकार शरीर से बाहर निकलता है। सभी रोगों का मूल कारण एक ही होता है। वास्तव में एक ही प्रकार का रोग अनेक रूप धारण करके बाहर निकलता है। रोग प्रतिकार के रूप में प्रकट होता है और यह पहले की विषम अवस्था का अन्त कर देता है। रोग मनुष्य के शरीर में इसलिये होता है कि उसकी रोगी के लिये आवश्यकता है। रोग स्वस्थ्य लाभ करने का एक उपाय है। रोग के द्वारा जब मनुष्य का शारीरिक विकार बाहर निकल जाता है तो मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

रोग होने का प्राकृतिक कारण

बाहर हम जिस रोग को देखते हैं वह रोग का लक्षण मात्र है। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को जुखाम हो गया अथवा फोड़ा निकल आया तो हम इन रोगों को ही रोग मान बैठते हैं। यह रोग प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से रोग नहीं वरन् रोग के लक्षण मात्र है। इन लक्षणों से शरीर की विकृत अवस्था का पता चलता है। इसे जानकर मनुष्य को सतर्क हो जाना चाहिये और अपने स्वास्थ्य को ठीक करने का

वास्तविक रोग और रोग का लक्षण

प्रयत्न करना चाहिये। हमारे साधारण डाक्टर इन लक्षणों का उपचार करने की चेष्टा करते हैं। वे लक्षणों को ही रोग समझ बैठते हैं और उन्हें दबाने की चेष्टा करते हैं। । अनेक प्रकार की दवाइयों द्वारा रोग के लक्षणों को ही डाक्टर लोग दबा देते हैं। इसके परिणामस्वरूप, रोग मनुष्य की दृष्टि से ओझल हो जाता है। डाक्टर अपनी फीस लेकर घर चला जाता है और रोगी भी उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता है।

पर, लक्षणों को दबाना रोग की चिकित्सा नहीं है। दबा हुआ रोग रूपान्तरित होकर दूसरे किसी रोग के रूप में प्रकट होता है। फिर रोगी डाक्टर को बुलाकर इसकी चिकित्सा कराता है। इस प्रकार जैसे २ चिकित्सा होती जाती है नये २ रोग उत्पन्न होते जाते हैं। अतएव प्राकृतिक चिकित्सक का कथन है कि जिस प्रकार वकील लोग मुकदमों की वृद्धि करते हैं, डाक्टर लोग बीमारियों की वृद्धि करते हैं। जब कोई बालक बार बार अपराध करता है और अपराध के लिये निश्चित दंड से बच जाता है तो उसकी अपराध करने की मनोवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसे बार बार दंडित होने की अवस्था में आना पड़ता है और यदि वह अपने आप को सभी समय बचा लेने में समर्थ हो तो उसे किसी न किसी समय भारी दंड भोगना पड़ता है। इसी प्रकार जो रोगी अपने अतिक्रम के लिये रोग की पीड़ा रूपी दण्ड को नहीं भोगता और दवाइयों के द्वारा उससे बच जाता है, उसे भारी रोग उत्पन्न हो जाता है। जब किसी मनुष्य के छोटे-छोटे रोग दबा दिये जाते हैं तो उसे राज-रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जुखाम और अतिसार को दवा देने पर फोड़े फुनसी उठ आते हैं। फोड़े फुनसी के दवा देने से एक्जिमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। एक्जिमा के दबा देने पर क्षय रोग, दमा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। एक्जिमा के दबाने से कभी-कभी मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है। सभी रोग मानसिक विकार के निकालने के उपाय हैं।

जिस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार वाह्य शारीरिक रोग आन्तरिक रोग का लक्षणमात्र है, उसी प्रकार मानसिक चिकित्सक के अनुसार वाह्य मानसिक रोग आन्तरिक रोग का लक्षणमात्र है। वाह्य रोग, को हमें

अपना शत्रु न समझकर उसे अपना मित्र मानना चाहिये। वाह्यरोग पहले तो हमें अपनी भीतर की बिगड़ी हुई अवस्था के प्रति सावधान करता है और फिर वह मानसिक विकार को भी बाहर निकालता है। यदि हम प्रकृति के इस कार्य में सहायता दें तो हमें स्थायी स्वास्थ्य लाभ हो। प्रकृति सदा शरीर के विष को बाहर निकालती रहती है। रोग के द्वारा शरीर का विष बाहर निकलता है। यदि कोई शारीरिक रोग का रोगी बिना घबड़ाये अपने रोग को प्राकृतिक रूप से नष्ट होने दे तो उसका रोग कुछ काल के बाद स्वतः ही नष्ट हो जायगा। पर इसके लिये यह आवश्यक है कि रोगी अपने जीवन को प्राकृतिक बना लेवे। किसी भी रोग की तीन अवस्थायें होती हैं—पहली अवस्था में रोग चढ़ता है, दूसरी अवस्था में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर स्थिर होता है और तीसरी अवस्था में वह शान्त होता है। जो औषधि रोग की तीसरी अवस्था में रोगी को दी जाती है वह बड़ी ही लाभकारी होती है।

प्रकृति द्वारा रोग का नाश

जैसे शारीरिक रोग की तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार मानसिक रोग की भी तीन अवस्थायें होती हैं। पहली अवस्था में रोग धीरे-धीरे बढ़ता है, दूसरी अवस्था में वह अपनी चरम सीमा तक पहुँचकर स्थिर हो जाता है और तीसरी अवस्था में वह अपने-आप ही कम होने लगता है। जो व्यक्ति रोग की पहली दो अवस्थाओं को पार कर जाता है वह अपने आप ही रोग से मुक्त हो जाता है। कितने ही मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति जब पहली दो अवस्थाओं में सावधानी से रखे जाते हैं तो तीसरी अवस्था में अपने-आप ही अच्छे हो जाते हैं। साधारणतः रोगी के रोग को चिकित्सक लोग ही बिगड़ देते हैं।

जब रोगी को किसी प्रकार का जटिल रोग पकड़ लेता है तो उसे अपने रोग से मुक्त हो जाने में विश्वास नहीं होता। ऐसी अवस्था में रोग का उपचार रोगी को लाभ नहीं पहुँचता। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा मनुष्य के भीतरी विचारों में परिवर्तन हो जाता है। विचारों का परिवर्तन शारीरिक परिवर्तन भी उत्पन्न कर देता है। प्राकृतिक चिकित्सा का कार्य धीरे-धीरे

होता है, मानसिक परिवर्तन भी धीरे-धीरे होता है। मानसिक चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार मनुष्य का स्वास्थ्य उसके आंन्तरिक मन के ऊपर निर्भर करता है। इस मन का परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे होता है। अतएव मनुष्य का स्वास्थ्य लाभ भी धीरे-धीरे ही होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्य लाभ ऊपरी दृष्टि से, प्राकृतिक वस्तुओं के सेवन से होता है, पर आन्तरिक दृष्टि से आन्तरिक मन के परिवर्तन से होता है। प्राकृतिक पदार्थों के सहयोग से अथवा उनके सेवन से मनुष्य के मन की जटिलतायें निकल जाती हैं, इससे मनुष्य स्वस्थ भी हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा कभी-कभी लाभदायक सिद्ध नहीं होती। इसका अधिकतर कारण रोगी के मन का किसी दूसरी बातों में फंसा रहना ही होता है। मनुष्य अपनी कितनी ही प्राकृतिक चिकित्सा क्यों न करे यदि वह अपने मन को सदा चिन्ताओं में फँसाये रहता है, तो उसका रोग कदापि नहीं जायगा। कितने ही लोग अपनी जल चिकित्सा करते समय अनेक प्रकार की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं। इस प्रकार चिकित्सा करने से उन्हें कदाचित ही लाभ होता हो।

उपचार की समानता

प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार नदी के किनारे हरी घास पर चलना हरे वृक्षों को देखना स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होता है। इससे नेत्र रोग, दमा, क्षय, गठिया आदि बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं। यदि किसी व्यक्ति को ये बीमारियाँ न हों तो उसके अंग और भी बलवान हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सा के अनुसार भी यह सिद्धान्त सत्य है। मनुष्य का मन जिस प्रकार की वस्तु को देखता है वह उसी के अनुरूप हो जाता है। और जैसा मनुष्य का मन होता है उसका स्वास्थ्य भी उसी प्रकार का होता है। निर्जीव, सड़े, गंदे कुरूप पदार्थों को देखने और उनके बारे में सोचने से मन तद्रूप हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप रोगों की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत सुन्दर, सजीव, हरे-भरे, चलते-फिरते पदार्थों को देखने से तथा उनके विषय में चिन्तन करने से मनुष्य का मन स्वस्थ, शान्त, उत्साहपूर्ण

होता है और इससे मनुष्य के अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग शान्त होते हैं। बहते हुए निर्मल जल का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है। यदि मनुष्य ध्यान से जल को देखे तो उसके अनेक प्रकार के रोग अपने-आप नष्ट हो जावें।

जब कोई पदार्थ अपने स्वभाव के अनुरूप काम करता है, तो वह अपने आपमें रहता है, यह उसकी स्वास्थ्य की स्थिति है, जब वह अपने स्वभाव के अनुसार काम नहीं करता, तो वह अपने स्वास्थ्य को देता है। मनुष्य के मन का स्वभाव पानी की धारा के समान सदा बहते रहना है। जब तक मन सदा नये काम करते रहता तब तक वह स्वस्थ रहता है; जब वह किसी एक बात पर फँस जाता है तो मानसिक अस्वास्थ्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी मानसिक झंझट में फँसा हुआ मन जब बहते हुए जल को देखता है तो उसे अपने स्वरूप का स्मरण हो जाता है; अज्ञा-तरूप से उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसका मन फिर प्रवाहित होने लगता है। शक्ति एक जगह पर अवरुद्ध होने के कारण हानि उत्पन्न करती थी वही अब स्वतन्त्र होकर लोकोपकार करने लगती है।

जिस प्रकार बहते हुए जल का देखना, उसका स्पर्श करना, उसमें स्नान करना, मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के रोगों को नष्ट करता है, इसी प्रकार खेलते हुए बालकों को देखना, फुदकते चहचहाते पक्षियों को देखना और उनकी बोली सुनना, हरे पौधों और वृक्षों को हिलते-डुलते देखना मनुष्य के स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन कर देते हैं। जो मनुष्य अपना जीवन प्राकृतिक दृश्यों में बिताते हैं वे दीर्घ आयु के होते हैं। पर सभी समय मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों में नहीं रह सकता। जब प्राकृतिक दृश्य किसी व्यक्ति के पास न हो तो उसे अपनी स्मृति की सहायता से प्राकृतिक दृश्य की कल्पना करनी चाहिये। प्राकृतिक दृश्य की कल्पना का स्मरण करना भी स्वास्थ्यवर्धक होता है प्राकृतिक चिकित्सक इस बात में कदाचित सहमत न हों, पर प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है। मनुष्य का भौतिक वातावरण जितना उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, उससे कहीं अधिक उसका मानसिक वातावरण, अर्थात् उसकी स्मृति और कल्पनायें

उसकी इच्छायें और आशायें, उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। बार-बार चिन्तन किया गया विचार आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है और प्रबल आत्मनिर्देश केवल मनुष्य के आचरण में प्रबल कर देता है, वरन् उसके शरीर में भी चमत्कारपूर्ण परिवर्तन कर देता है।

प्राकृतिक चिकित्सा के अनेक प्रकार के रोग को शत्रु के रूप में नहीं वरन् मित्र के रूप में देखने का आदेश करती है। मानसिक उपचारविधि का यही आदेश है। वास्तव में अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से ही मनुष्य को लाभ होता है। जो मनुष्य अपने रोग के प्रति जैसे विचार रखता है, उसका रोग उसी रूप में उसे हानिकारक अथवा लाभदायक सिद्ध होता है। जब तक मनुष्य के विचार निराशावादी होते हैं तबतक सभी प्रकार की घटनायें उसके दुःख को बढ़ाती हैं। जब मनुष्य के विचार आशावादी हो जाते हैं तो दुःखद घटनायें भी उसका कल्याण करनेवाली सिद्ध होती हैं। विचारों की धारा बदल जाने में मनुष्य का भाग्य, उसका स्वास्थ्य और सभी बातें बदल जाती हैं। जिस मनुष्य के विचार आत्मनियंत्रण में है, जो व्यक्ति दूसरों के प्रति तथा अपने प्रति सदा मैत्रीभावना का अभ्यास करते रहता है, वह न निराशावादी होता है और न उसे जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोग सताते हैं।

लेखक को कुछ ऐसे विद्वान मानसिक रोगियों से बात-चीत करने का अवसर मिला जो अपने विचारों को बदलना ही नहीं चाहते थे। उनका कथन था कि विचार मनुष्य के नियंत्रण की वस्तु नही है; विचार वातावरण के ऊपर निर्भर करते हैं। मनुष्य का जैसा वातावरण होता है उसके विचार भी वैसे ही हो जाते हैं। वे जिन मानसिक रोगों से पीड़ित थे उनके लिये वे किसी व्यक्ति को दोष दिया करते थे। एक व्यक्ति अपने पिता को दोष देता था, दूसरा अपने बड़े भाई को दोष देता था। कभी-कभी मनुष्य अपने रोग के लिये अपनी गरीबी अथवा रोजगार अथवा भाग्य को ही दोष देता है। अपने रोगों के लिये किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्य वातावरण को दोषी ठहराना आरोपण की

प्राकृतिक चिकित्सा साधन, मानसिक परिवर्तन साध्य

मनोवृत्ति का एक परिणाम है। अपने दुःख के लिये मनुष्य अपने-आपको दोषी न ठहराकर किसी बाहरी पदार्थ को दोषी ठहराता है और इस प्रकार मिथ्या आत्म-संतोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जब मनुष्य का भीतरी मन किसी रोग को छोड़ने के अनेक प्रकार के बहाने बनाता है तो वह इन बहानों में अपनी असमर्थता भी प्रकट करता है। मानसिक चिकित्सक का कार्य यह है कि वह रोगी को अपने सामर्थ का ज्ञान करादे। मनुष्य जो कुछ भीतरी मन से चाहता है वह उसे करने में अवश्य समर्थ होता है। अपने-आपमें परिवर्तन मनुष्य स्वयं करता है। प्राकृतिक चिकित्सा अपने-आपमें परिवर्तन करने का साधन मात्र है। प्राकृतिक चिकित्सा होते हुए भी यदि रोगी का भीतरी मन रोग से मुक्त नहीं हो सकता।

मनुष्य के बाहरी मन में परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से हो जाता है, किन्तु उसके भीतरी मन में परिवर्तन बड़े धीरे-धीरे होता है। इसके कारण मनुष्य को विश्वास नहीं होता कि वह अपने-आपमें परिवर्तन कर सकेगा अथवा नहीं। जब किसी प्रकार के विचार का परिणाम मनुष्य तुरन्त नहीं देखता तो वह आत्म-विश्वास छोड़ देता है और अनेक प्रकार के सन्देह मन में लाने लगता है। इन सन्देहों का बड़ा बुरा परिणाम उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। सन्देह नकारात्मक विचार है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का विनाश होता है। कई दिनों के रचनात्मक विचार का कार्य क्षण भर के सन्देह से नष्ट हो जाता है। जब आशामय विचार भीतरी मन से चला जाता है, तो वह भावी घटनाओं के लिए बीज का कार्य करता है। बीज वृक्ष का रूप एकाएक धारण नहीं कर लेता। उसके लिए समय की आवश्यकता होती है। प्रतिदिन के आशामय विचार पानी का काम करते हैं। जिन इच्छाओं का विषय के विषय में मनुष्य सन्देह नहीं करता वे सभी फलित होती हैं। पर इच्छा के विचार के उठने और उसके फलित होने में समय अवश्य लगता है। जो व्यक्ति फल की प्रतीक्षा करता है और फल मिलने में सन्देह नहीं करता, उसे फल अवश्य मिलता है।

प्राकृतिक चिकित्सा और आन्तरिक मन का परिवर्तन

संन्देह की मनोवृत्ति को नष्ट करने के लिए मनुष्य को स्वार्थ परायणता का

त्याग करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने परिश्रम का पुरस्कार पाने के लिए जितना ही उद्विग्न मन रहता है वह उस पुरस्कार को उतना ही अधिक खो देता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने रोगों से मुक्त होने के लिये जितना ही उद्विग्न मन रहता है उसे रोग उतना अधिक जकड़े रहता हैं। सब स्थायी काम धीरे-धीरे होते हैं। यह प्राकृतिक नियम है और यही नियम मानसिक व्यापारों का भी है। किसी काम में जल्दीबाजी करना सन्देह की मनोवृत्ति का परिचायक है। यह आत्म-विश्वास का अभाव दर्शाता है। आत्म-विश्वास के अभाव में तथा सन्देह की मनोवृत्ति की उपस्थिति में मनुष्य किसी शुभ फल को कैसे प्राप्त कर सकता है।

प्राकृतिक चिकित्सा मानसिक चिकित्सा की सहकारिणी है। प्राकृतिक चिकित्सा में आहार और व्यवहार पर विशेष ध्यान रखा जाता है। यदि

प्राकृतिक तथा मानसिक चिकित्सा में आहार

आहार का व्यापक अर्थ लिया जाय तो जो भी ज्ञान हमें अपने इन्द्रियों के द्वारा होता है, और जो विचार मन में आते हैं वे सब आहार ही हैं। इनके शुद्ध होने से मनुष्य का स्वत्व शुद्ध होता है और स्वत्व शुद्ध होने से मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक क्षोभ अथवा विकार नष्ट हो जाते हैं। हँसते-खेलते बालकों को देखकर हमारा मन भी हँसने खेलने लगता है! छलछल करते बहते हुये झरने को देखकर हमारी प्रतिभा भी छलछल करके बहने लगती है। प्रबल नदी की धारा को देखकर मन प्रबल होता हैं। और जिस प्रकार नदी अपने आपमें गंदगी को नहीं रहने देती उसी प्रकार हमारा मन सबल होकर किसी प्रकार की गंदगी को अपने आपमें नहीं ठहने देता। अतएव सुन्दर नदी के प्रवाह को देखने से हमारा मन; प्रबल मलरहित, और सुन्दर हो जाता है।

जिस प्रकार बाह्य दृश्यों का परिणाम मन पर पड़ता है उसी प्रकार हमारे विचार और कल्पनाओं का मन पर शुभ अथवा अशुभ परिणाम पड़ता है। जो व्यक्ति सदा दूसरों से ईर्ष्या किया करता है और उनका अशुभ चिन्तन किया करता है, उन्हें नीचे गिराने की चेष्टा करता है, वह अल्प आयु हो जाता है। उसे दमा, क्षय, बवासीर, एक्जिमा आदि भयानक रोग उत्पन्न हो

जाते हैं और जो व्यक्ति अपने मत में सदा प्रेम के विचार लाता है और दूसरों की सेवा करने की चिन्ता किया करता है उसकी आकृति सुन्दर, उसका चेहरा खुला हुआ, मुख प्रसन्न, शान्ति तथा कान्तिपूर्ण हो जाता है। उसका स्वास्थ्य वैसा ही होता है जैसा उसका मन होता है। उसमें न आत्म-भर्त्सना की भावना पाई जाती है और न किसी प्रकार की आत्महीनता। सुन्दर पुस्तकों को पढ़ने और अपने विचारों को तदानुरूप बनाने से मनुष्य का स्वास्थ्य सुन्दर हो जाता है। कितने ह क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति जब सभी प्रकार की चिकित्साओं से परेशान होकर अपने-आपको प्राकृतिक उपचार पर छोड़ देते हैं और जब वे अपने विचारों को सुधारने में लग जाते हैं तो उनका रोग नष्ट हो जाता है।

दुर्भाग्य की बात है कि बहुत से प्राकृतिक चिकित्सक रोगी के विचारों को सुधारने पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि बाहरी उपचारों पर ध्यान देते हैं। बाहरी उपचारों से लाभ अवश्य होता है, पर यह लाभ तो उतना जल्दी नहीं होता जितना कि विचारों के सुधारने से होता है और वह उतना स्थायी भी नहीं होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से मनुष्य की आयु नहीं बढ़ती पर विचारों के सुधार से मनुष्य की आयु बढ़ती है। जो मनुष्य दूसरों की सेवा के लिए जीता है वही दीर्घायु होता है, अपने लिये जीने वाला व्यक्ति अल्पायु होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से अच्छे हो जाने वाले कितने ही रोगी पीछे किसी साधारण घटना से मर जाते हैं अथवा अपना जीवन इतना दुखी बना लेते हैं कि वे उसे भाररूप ढोते हैं। लेखक के एक मित्र द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा किया गया। एक व्यक्ति घातक क्षय रोग से तो मुक्त हो गया किन्तु वह दो-चार वर्ष बाद ही किसी आकस्मिक घटना से मर गया। उन्होंने जो आयु प्रकृति से पाई उसका उन्होंने सदुपयोग नहीं किया अतएव वह उससे छीन ली गई। किसी भी व्यक्ति को प्रकृति भाररूप बनकर जीने नहीं देना चाहती है। जिससे जगत का कोई लाभ नहीं होता ऐसे व्यक्ति के पहले तो विचार ही निराशावादी हो जाते हैं और पीछे उसे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि रोग अभद्र विचारों के अनुगामी होते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा में विचार

स्वास्थ्य लाभ करने में विचार का प्रमुख स्थान होता है। जिस तरह रोग की उत्पत्ति में विचार एक प्रमुख कारण होता है उसी तरह स्वस्थ्य लाभ में भी विचार का बड़ा महत्त्व का कार्य होता है। प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा में रोगी के विचारों की आवश्यकता होती है। वास्तव में रोग की उपस्थिति का प्रमुख प्राकृतिक हेतु मनुष्य के विचारों में सुधार करना होता है। रोग की उपस्थिति तभी होती है जब मनुष्य के विचार अनियन्त्रित हो जाते हैं। इस अनियन्त्रण के लिए मनुष्य को रोग के रूप में दंड मिलता है इससे उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती है। इस शक्ति के आने पर रोग का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

मानसिक शुद्धि की आवश्यकता

साधारणतः रोग उस व्यक्ति को होते हैं जो अपने शरीर के विषय में कोई ध्यान नहीं देता। उसका मन इतना अन्य सांसारिक विषयों में लगा रहता है कि उसे अपने शरीर पोषण तथा व्यायाम की कोई चिन्ता ही नहीं रहती। वह जब भोजन करता है तो वह भोजन के विषय में नहीं सोचता, किसी व्यापार के, लेन-देन के बारे में, पढ़ाई-लिखाई के बारे में, अदालतों में पड़े हुए मुकद्मों के बारे में अथवा किसी अन्य प्रकार के झगड़ा के बारे में सोचता रहता है। जब वह घूमने जाता है, तब वह अपने मन को इन चिन्ताओं से मुक्त नहीं कर देता। जिन खेतों में से होकर वह जाता है उनकी हरियाली, फूलों के सौन्दर्य, रंग बिरंगे पक्षियों के दलों को देखने की उसको फ़ुरसत नहीं रहती है। वह अपने शरीर के विषय में भी उस समय नहीं सोचता। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से लोगों का सवेरे घूमना व्यर्थ सा हो जाता है। उससे उतना स्वास्थ्य लाभ नहीं होता जितना कि आवश्यक है।

शारीरिक अवहेलना का दुष्परिणाम

प्रकृति का यह अटल नियम है कि हमारे जिस अंग पर हम अपना ध्यान नहीं देते, गड़बड़ उत्पन्न हो जाती है। किसी एक ओर अत्यधिक ध्यान देने से मानसिक शक्ति—जिसका कि उपयोग दूसरे क्षेत्रों में हो रहा है, वहाँ से खिंच आती है। किसी क्षेत्र में शक्ति के अभाव होने पर वहाँ के प्राकृतिक काम में गडबडी उत्पन्न हो जाती है।

इसके परिणाम स्वरूप हमें अपने व्यसन से बरबस अलग होना पड़ता है। इस तरह प्रकृति हमें अपना ध्यान उस ओर ले जाने के लिए बाध्य करती है, जिस ओर हमने किसी प्रकार की अवहेलना की हो। शरीर की आवश्यकताओं की अवहेलना के कारण रोग की उत्पत्ति होती है और यह अवहेलना विचार के दूसरी ओर अत्यधिक फँसे रहने के कारण होती है। शारीरिक रोग उस मानसिक विषमता को दूर करता है जो हम रे किसी वाह्य विषय में अत्यधिक लग जाने से उत्पन्न होती है। रोग समता स्थापित करने का एक प्राकृतिक उपाय है। युंग महाशय का यह कथन है कि रोग अत्यधिक वर्हिमुखी होने के कारण उत्पन्न होता है और उसका तुरंत का ध्येय मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाना है। एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्य को व्यक्त करता है।

विचारों की चिकित्सा

रोग की चिकित्सा जिन सामान्य विधियों से की जाती है, उसमें रोगी के विचार बदलने का अथवा विचार से काम लेने का विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। साधारण चिकित्सक को तो वह ज्ञान ही नहीं होता कि रोग के निराकरण में विचार का प्रमुख स्थान रहता है। इतना अवश्य है कि रोगी चिकित्सक के ऊपर विश्वास करता है और इस विश्वास के फलस्वरूप उसे रोग से मुक्त होने में सहायता मिलती है। किन्तु चिकित्सक रोगी के विचारों से किसी विशेष प्रकार की सहायता लेने की चेष्टा नहीं करता। प्राकृतिक चिकित्सा विधि इस बात में दूसरी चिकित्सा विधियों से भिन्न है। इस विधि में आरोग्य लाभ करने में रोगी के विचारों से अधिक से अधिक सहायता ली जाती है।

किन्तु यहाँ स्मरण रहे कि विरला ही प्राकृतिक चिकित्सा करनेवाला व्यक्ति इस बात को जानता है कि वह अपनी विधि में रोगी के विचारों से भारी सहायता ले रहा है; परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा विधि ही ऐसी है कि उसमें रोगी के विचारों की शुद्धि और उनका उपयोग अपने-आप होता है। कहीं-कहीं प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्य लाभ करने में आत्मनिर्देश (आटोसजेशन्) को अवश्य स्थान दिया गया है। उदाहरणार्थ हैनरी वैंजुमन महाशय ने यह आदेश दिया है कि प्रत्येक आरोग्य व्यक्ति को रात को सोते समय अपने-आपको

यह सुझाकर सोना चाहिए कि मैं दिन प्रतिदिन अच्छा हो रहा हूँ; मेरी उन्नति हो रही है; सब लोग मेरा कल्याण चाहते हैं और मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। यह मैत्री भावना का अभ्यास है जिसकी उपयोगिता बौद्ध ग्रन्थों में और पातञ्जलि के योगसूत्र में न सिर्फ स्वास्थ्य लाभ में दर्शायी है वरन् समस्त सांसारिक जीवन के सफल होने में दर्शायी है।

जब रोगी अपनी प्राकृतिक चिकित्सा करता है तो वह चिकित्सा कि प्रत्येक क्रिया पर सोचता है। वह अपने विचारों को दूसरी ओर से खींचकर शरीर के विभिन्न अंगों पर एकत्रित करता है। जब अनेक दिन विचारों का केन्द्रीकरण के अभ्यास के परिणाम स्वरूप मनुष्य का न केवल चेतन मन, वरन् उसका अचेतन मन भी दूसरी ओर से खींचकर शरीर को स्वस्थ बनाने में लग जाता है, तो उसका निश्चित फल आरोग्य लाभ होता है।

किसी भी प्राकृतिक चिकित्सा विधि को देखिये। इसमें प्रत्येक क्रिया को ध्यान से करने की आवश्यकता बताई जाती है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति ल्यूकोनीस्नान ले रहा है, यह एक प्रकार की जल चिकित्सा है। इससे बहुत के असाध्य रोग नष्ट हो जाते हैं। ल्यूकोनीस्नान लेते समय यदि कोई रोगी किसी बाहरी बातों का चिन्तन कर रहा है तो फिर चाहे वह कितना ही अपने अंगों को क्यों न मले, उसे विशेष लाभ कुछ न होगा। इसी तरह नेत्र चिकित्सा में आँख मिचमिचाना और उन्हें समय-समय पर हथेलियों से बन्द करना तथा एक परात में पानी लेकर धोना उपयोगी दर्शाया गया है; किन्तु इन प्रक्रियाओं के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम अपने विचारों को बाहरी चिन्ताओं से मुक्त करें। इन प्रक्रियाओं से भी स्वभावतः हमारे अभद्र विचारों का नियंत्रण होता है। जब हम शरीर के किसी क्रिया के विषय में सोचने लग जाते हैं अथवा अपने स्वास्थ्य-सुधार के काम में अपने मन को लगा देते हैं तो दूसरी ओर से हमारा विचार शरीर की ओर खिंच आता है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि शरीर स्वस्थ हो जाता।

प्राकृतिक चिकित्सा गृहों में जो रोगियों की चिकित्सा होती है वह जितनी सफल होती है उतनी सफल चिकित्सा उसी विधि से अपने घर पर करने से

रोगी को नहीं होती। इसका कारण यह कि सब प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी रोगी चिकित्सा के समय वर पर रहने ने चिन्ता से मुक्त नहीं होता। वह अपने विचारों को शरीर के आरोग्य लाभ करने में केन्द्रित नहीं कर पाता। उसकी मानसिक शक्ति बिखरी हुई रहती है। ऐसी अवस्था में रोगी की चाहे जैसी चिकित्सा क्यों न की जाय उसका रोग से मुक्त होना कठिन है। फिर चिकित्सा गृहों में एक स्वयं चिकित्सक से, और दूसरे अन्य रोगियों से आरोग्य के शुभ निर्देश मिलते रहते हैं। इन निर्देशों के परिणामस्वरूप उसके मन में यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि वह अवश्य आरोग्य लाभ कर लेगा। उसका यह विश्वास उसके आरोग्य लाभ करने में सहायक होता है। घर के वातावरण में रोगी को अपने आरोग्य करने में भारी संदेह हुआ करता है। यह संदेह आरोग्य लाभ करने में बाधक होता है। यहाँ रोगी को न तो चिकित्सक के वैयक्तिक निर्देश से लाभ होता है और न आसपास के लोगों के सामूहिक निर्देश से लाभ होता है। यदि चिकित्सक रोगी के घर जाकर उसकी प्राकृतिक चिकित्सा करता है तो वह रोगी को उतना लाभ नहीं पहुँचा सकता जितना कि रोगी के उसके समीप आने से हो सकता है। चिकित्सक का रोगी के घर अपने आप जाने से उसके वैयक्तिक निर्देश का प्रभाव घट जाता है, अतएव वह रोगी की रचनात्मक मानसिक शक्तियों को उतना क्रियमाण नहीं बनाता जितना कि रोगी के श्रद्धा के साथ चिकित्सक के पास जाने से होता है।

प्राकृतिक चिकित्सागृह की उपयोगिता

प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे रोगी बनता है और अपने आप सुधार करने से आरोग्य लाभ करता है। किसी प्रकार की विषमता ही रोग है और समता स्वास्थ्य है। जब मनुष्य शरीर की आवश्यकताओं की ओर उचित ध्यान नहीं देता तो वह रोगी हो जाता है। जब वह फिर से इन आवश्यकताओं की ओर उचित ध्यान देने लगता है तो उसे आरोग्य लाभ होता है। रोग की निराकरण की अवस्था में रोगी को शरीर की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यह पहले की विषमता मिटाने के लिए आवश्यक है। अन्य चिकित्सा विधियों की अपेक्षा प्राकृतिक चिकित्सा विधि में यह विषमता अधिक सफलता-

पूर्वक मिटाई जाती है। रोगी के विचार जानबूझकर उसे आरोग्य लाभ करने में अधिक केन्द्रित किये जाते हैं। यही कारण है कि यह विधि अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक सफल होती है और यद्यपि इसका स्वास्थ्य प्रदान करने का कार्य धीरे-धीरे होता है, किन्तु इसका परिणाम स्थायी होता है।

शैथिलीकरण

स्वास्थ्य लाभ के लिए विचार शून्यता अथवा विराम की आवश्यकता होती है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने मन को विचार शून्य कर सकता है वह उतना ही स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य आत्मस्थिति का दूसरा नाम है। आत्मस्थिति में विचार शून्यता रहती है। विचार का विषय आत्मा से इतर वस्तु होती है। किसी विषय का चिन्तन करना आत्मविस्मरण करना है। यह अपनी आत्म-स्थिति अथवा स्वास्थ्य को खोना है। अधिक चिन्तन से अथवा विषय लोलुपता से रोग की उत्पत्ति होती है। रोग मनुष्य को आत्मोन्मुखता की आवश्यकता दर्शाता है।

विचारों का बन्धन और विचार-शून्यता

जो मनुष्य जितना ही जटिल विचारों में अपने मन को फँसाये रखता है, उसे उतने ही जटिल रोगों के आने की सम्भावना रहती है। ऐसे मनुष्य को विचार शून्य बनाना बड़ा कठिन होता है। उसके विचारों का विषय बदलना मात्र उसे उपयोगी होता है। रोग की उपस्थिति विचार का विषय बदल देती है। रोग की उपस्थिति से ही आरोग्य की स्थिति प्राप्त होती है। रोग आरोग्य की पूर्व अवस्था है। मनुष्य का वास्तविक रोग आध्यात्मिक रोग है; शारीरिक रोग इस रोग का लक्षण मात्र है। इससे वास्तविक रोग का निराकरण भी होता है। प्रत्येक रोग की दो स्थितियाँ मानी गई हैं, आविर्भाव अथवा वृद्धि की अवस्था दूसरी तिरोभाव अथवा रोग के बिनाश की अवस्था। प्रत्येक रोग में प्राकृतिक रूप से शान्त होने की सामग्री होती है।

रोग की प्राकृतिक चिकित्सा रोगी को रोग के विचार से मुक्त करने की है। जो चिकित्सा जितनी दूर तक मनुष्य को सभी प्रकार के विचारों से मुक्त करने में समर्थ होती है, वह उतनी ही अधिक सफल होती है। प्राकृतिक

चिकित्सा में न सिर्फ रोगी को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करने की चेष्टा की जाती है वरन् उसे रोग विषयक चिन्ताओं से मुक्त करने की भी चेष्टा की जाती है। इसके साथ-साथ इसमें रोगी को यह आत्मनिर्देश भी होता है कि मैं स्वास्थ्य लाभ कर रहा हूँ। यह निर्देश भी उसे रोग की चिन्ताओं से मुक्त होने में सहायता देता है।

विचारों से मुक्ति

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी आत्मनिर्देश और स्वास्थ्य-सम्बन्धी विचार अथवा चिन्तन दो पृथक् वस्तुएँ हैं।

स्वास्थ्य का निर्देश विचार शून्यता उत्पन्न करता है। इससे मस्तिष्क को अपनी क्रियाओं से विराम मिलता है। जो शक्ति अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में खर्च हो जाती है, वह अब स्वास्थ्य-लाभ करने में काम आती है। स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता करने से विचार की वृद्धि होती है। उससे मस्तिष्क की क्रियाएँ तीव्रता से चलती हैं और जिस शक्ति की आवश्यकता स्वास्थ्य लाभ के लिए है, वह मस्तिष्क में ही खर्च हो जाती है। अतएव जिन लोगों की चिन्तन शक्ति अधिक होती है और जो गम्भीर विषयों पर विचार करते रहते हैं, वे अधिक स्वस्थ नहीं रहते। ऐसे लोग दुबले पतले भी होते हैं। इसी तरह जो लोग जितनी गाढ़ी नींद में सो सकते हैं वे उतने ही अधिक स्वस्थ होते हैं। योगियों का स्वास्थ्य, साधारण मनुष्यों के स्वास्थ्य से इसीलिये अधिक अच्छा होता है कि वे आवश्यकता के अनुसार अपने विचार की क्रियाओं को शिथिल कर देते हैं। इसी तरह वे मस्तिष्क को आराम देते हैं। मस्तिष्क में खर्च होने वाली शक्ति ऐसी अवस्था में दूसरी ओर प्रवाहित होने लगती है और मनुष्य के अंग प्रत्यंग इसके कारण बली बन जाते हैं।

यहाँ हमें शरीर-विज्ञान के इस सिद्धान्त को स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वास्थ्य की रक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी क्रियाओं का संचालन मनुष्य की स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल (आटोनामिक नर्वस सिस्टम्) के द्वारा होता है और विचार सम्बन्धी अथवा ज्ञान सम्बन्धी क्रियाओं का संचालन मनुष्य की केन्द्रीय नाड़ी-मंडल (सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम्) के होता है। स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल केन्द्रीय

स्वतन्त्र-नाड़ी-मंडल

नाड़ी-मंडल से पृथक् माना गया है। परन्तु वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि केन्द्रीय नाड़ी मंडल की क्रियाओं से बिल्कुल प्रभावित न हो। जब केन्द्रीय नाड़ी मंडल की क्रियाएँ बड़े वेग से चलती रहती हैं तो वे स्वतन्त्र-नाड़ी-मंडल की शक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। 'प्रकृति का यह अटूट नियम है कि शक्ति का प्रवाह उसी ओर होता है जिस ओर उसकी आवश्यकता होती है, जिस मनुष्य के मन में अधिक चिन्ताएँ (अथवा चिन्तन) आती रहती हैं। चाहे वे कैसी ही चिन्ताएँ क्यों न हों, उसके शरीर की शक्ति का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होता है क्योंकि वहाँ उसकी अधिक आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में शरीर के दूसरे अंगों को जितनी शक्ति उनके स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है, उतनी नहीं मिलती। अब उनकी साधारण क्रियाओं में बाधा पड़ने लगती है। इसका स्वाभाविक परिणाम स्वास्थ्य का बिगड़ जाना होता है। अधिक चिन्तन करने वाले व्यक्तियों का भोजन ठीक से नहीं पचता। उनके रुधिर का प्रवाह ठीक से नहीं होता, क्योंकि इस कार्य के लिए पर्याप्त शक्ति आमाशय, हृदय और फेफड़ों को नहीं मिलती। शरीर की वे गिल्टियाँ जो आयुवर्धक रस उत्पादन करती हैं, ऐसी अवस्था में अपना काम ठीक से नहीं कर पाती। इसी कारण विचार की अत्यधिक वृद्धि स्वास्थ्य विनाशक होता है। इसलिये विचार में शिथिलता उत्पन्न करना स्वास्थ्य लाभ के लिए बहुत आवश्यक है।

सभी प्रकार की प्राकृतिक चिकित्सा विधियों में भोजन करते समय और भोजन करने के कुछ देर बाद तक किसी भी गम्भीर विषय पर विचार करने से अपने-आपको रोकने का आदेश दिया गया है।

भोजन के समय के विचार

भोजन करने के पूर्व हाथ पैर धोना भी आवश्यक है। इससे उस समय के चलने वाले विचारों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। जो रक्त का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होते रहता है वह उस ओर न होकर उसकी प्रतिकूल दिशाओं में होने लगता है। भोजन करने के पूर्व देवताओं को भोजन अर्पण करना भी इस दृष्टि से उपयोगी है। कई लोग पंच कवली करके भोजन करते हैं; इस तरह मनुष्य के विचार दूसरी ओर से मुक्त होकर भोजन की ओर आते हैं। भोजनकर्त्ता के

रूढ़िबद्ध विचारों में शिथिलता उत्पन्न होती है। भोजन करते समय भोजन पर ही विचार करना विभिन्न पदार्थों के रसों का, बालकों जैसे स्वाद लेना, भोजन को लाभकारी बनाने के लिए आवश्यक है। भोजन करने के पश्चात् कोई हँसी मजाक की बातें भोजन को पचाने की क्रिया में लाभकारी होती है। हेनरी बेनजा मिन महाशय का कथन है कि भोजन करने के पश्चात् बीस मिनट तक आदमी को भोजन के स्थान से न उठना चाहिये। भोजन न करने के बाद तुरन्त ही काम में लग जाना स्वास्थ्य को शीघ्र ही नष्टकर देता है। सभी कामों में मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है।, अतएव भोजन के बाद काम में न लगने का आदेश मस्तिष्क को अथवा विचारों को आराम देने का आदेश है।

योगाभ्यास में जितनी बाहरी तथा भीतरी क्रियाएँ होती हैं वे सभी मस्तिष्क को क्रियाहीन बनाने में सहायक होती हैं। आसन और प्राणायाम जो स्वास्थ्य लाभ के लिए विशेष उपयोगी माने जाते हैं, शारीरिक व्यायाम मात्र नहीं हैं। ये विचार विराम के उपाय भी हैं। इनसे मस्तिष्क की क्रियाएँ मन्दगति की हो जाती हैं, और उनसे मुक्त शक्ति दूसरी ओर प्रवाहित होने लगती है जिससे कि स्वास्थ्य-लाभ शीघ्रता से होता है।

योग और विकार-शून्यता

यहाँ स्वास्थ्य लाभ में शव आसन की उपयोगिता विशेषकर उल्लेखनीय है। शव आसन विचार में शिथिलता उत्पन्न करने का उपाय है। मनुष्य को जो लाभ स्वास्थ्य के लिये निद्रा से होता है वही लाभ शव आसन से भी होता है। इसी तरह से विचारशून्यता स्वास्थ्य प्राप्त करने में लाभकारी होती है।

बौद्ध लोगों की एक विशेष प्रकार की प्राणायाम विधि जो स्वास्थ्यलाभ में बड़ी उपयोगी होती है। इसे बौद्ध धर्म ग्रन्थों में आनापान सती (प्राणापान स्मृति) कहा गया है। आनापान सती प्राण और अपान की स्मृति है। आनापान सती का अभ्यास इतना सरल है और उसका लाभ इतना अधिक है कि उसकी सरलता ही उसकी उपयोगिता के विषय में अबोध व्यक्तियों के मन में संदेह उत्पन्न कर देती है। आनापान सती का अभ्यास करते रहने से मनुष्य बिना नींद के महीनों रहकर स्वस्थ बना रह सकता

है। वास्तव में लेखक के एक भिक्षु मित्र का ऐसा ही अनुभव है। आनापानसती मन को श्वास-प्रश्वास पर स्थिर करने की विधि है अर्थात् यह मन को निर्विप बनाने का उपाय है।

हर एक प्रकार की मानसिक चिकित्सा में मन को आराम देने का विशेष महत्व है। शरीर चाहे काम करे अथवा नहीं परन्तु मन का आराम स्वास्थ्य-लाभ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। विश्वास भी इसीलिये ही स्वास्थ्यवर्धक होता है कि उससे मन की उथल-पुथल मिट जाती है, चित्त में शान्ति आ जाती है। इस शान्ति के आते ही स्वास्थ्यवर्धक प्राकृतिक क्रियायें बड़े वेग से चलने लगती हैं और मनुष्य इस तरह शीघ्रता से स्वस्थ हो जाता है।

विचारशून्यता का अभ्यास

जो मनुष्य सदा आरोग्य की स्थिति में रहना चाहता है उसे यह आवश्यक है कि वह प्रति दिन विचारशून्यता का अभ्यास करे। विचारशून्यता ही समाधि अवस्था का दूसरा नाम है। विचारशून्य समाधि को पातञ्जलि ऋषि ने निर्विकल्प समाधि कहा है। इसे बौद्ध धर्म ग्रन्थों में लोकोत्तर समाधि कहा गया है। इसकी पूर्व अवस्था सविकल्प समाधि अथवा लौकिक समाधि है। इस स्थिति में विचार का विषय एक ही पदार्थ होता है। विचार की चञ्चलता नष्ट हो जाती है। विचार को विराम मिलता है। ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक और आध्यात्मिक जीवन में विरोध नहीं है। प्राकृतिक जीवन की पूर्णता आध्यात्मिक-जीवन से होती है। प्राकृतिक चिकित्सा विधि की आश्चर्यजनक सफलता का मुख्य कारण यही है कि उसमें आध्यात्मिक जीवन के नियमों का पालन किया जाता है। इतना अवश्य है कि इस प्रकार के नियमों का पालन प्रायः अनजाने ही किया जाता है ?

मानसिक शैथिलीकरण

प्रकृतिक चिकित्सा में शारीरिक शैथिलीकरण का महत्त्व का स्थान है। शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था में शरीर को क्रियाहीन कर दिया जाता है और मुर्दा जैसा जमीन पर शरीर को डाल दिया जाता है। किसी

प्रकार के काम करने में शरीर की शक्ति खर्च होती है, जब काम का करना बन्द कर दिया जाता है तो शारीरिक शक्ति का खर्च होना भी बन्द हो जाता है।

शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण का पारस्परिक अवलम्बन

जिस प्रकार सो जाने पर शरीर को आराम मिलता है और नई शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार शैथिलीकरण से भी शरीर को आराम मिलता है और उसमें नई स्फूर्ति आ जाती है। थोड़ी ही देर तक शारीरिक शैथिलीकरण का अभ्यास करने से शारीरिक की थकावट नष्ट हो जाती है। प्रतिदिन नियमित रूप से शैथिलीकरण करने से मनुष्य आरोग्यवान् और दीर्घायु होता है।

शारीरिक शैथिलीकरण आलस्य से प्रेरित होकर निकम्मे हो जाने से भिन्न वस्तु है। जब मनुष्य आलस्य के कारण बिस्तर पर पड़ जाता है तो उसका शारीरिक स्वास्थ्य नहीं बढ़ता। उसमें निकम्मे रहने की ही आदत पड़ जाती है। जान-बूझकर जब शरीर को शिथिल बनाया जाता है तभी मौलिक लाभ होता है। इसका अर्थ यह है कि आत्मनिर्देश के साथ-साथ शरीर को शिथिल करने पर ही वास्तविक लाभ होता है। आलसी मनुष्य का शरीर निकम्मा रहता है, पर उसका विचार अनेक प्रकार की चिन्ताओं में लगा रहता है। इन चिन्ताओं के कारण उसे मानसिक आराम नहीं मिलता और जब किसी व्यक्ति को मानसिक आराम नहीं मिलता तो उसकी शारीरिक थकावट भी नहीं जाती। विचार-विराम से ही शारीरिक और मानसिक थकावट जाती है और मनुष्य में नई शक्ति का संचार होता है; अर्थात् शारीरिक शैथिलीकरण के साथ-साथ मानसिक शैथिलीकरण किसी प्रकार के रोग अथवा थकावट को नष्ट करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मानसिक शैथिलीकरण में शरीर को शिथिल कर दिया जाता है। जमीन पर लेटकर अपने एक-एक अंग के विषय में आत्मनिर्देश दिया जाता है कि अब अमुक अंग शिथिल हो गया, अब दूसरा हो गया। इस प्रकार मस्तिष्क से लेकर पैर तक शरीर आत्मनिर्देश के द्वारा शिथिल कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी नींद भी आ जाती है। इस प्रकार से लाई गई नींद से मनुष्य के स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचता है। पाँच

मिनट की नींद से भी उतनी ही नई स्फूर्ति मिलती है जितनी कई घंटों की प्राकृतिक नींद से मिलती है। प्राकृतिक नींद में मनुष्य चिन्ता करते हुए सोता है। यह चिन्ता की क्रिया अचेतन मन को प्रभावित करती है, अतएव मनुष्य का मन विश्राम नहीं लेता और उसे नई शक्ति नहीं मिलती। कितने ही लोग सोकर उठने पर थकावट का अनुभव करते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। इसका कारण चिन्ता करते हुए सोना है। विचार विराम होने पर ही शरीर को आराम मिलता है। विचार विराम ही मानसिक शैथिलीकरण है।

मानसिक शैथिलीकरण दो प्रकार का होता है—एक मन को विचार-हीन बनाना और दूसरा मन को किसी भी प्रकार को कल्पनाओं में विचरण करने की छुट्टी दे देना। मन को विचारहीन बनाने की प्रक्रिया तथा उसकी उपयोगिता पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। मन किसी आसन से बैठकर अथवा सोकर विचारहीन बनाया जा सकता है। मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करने से भी मन विचारहीन हो जाता है। इससे उसकी चिन्ता करने की आदत टूटती है। जब इस आदत का बिनाश हो जाता है तो मनुष्य का जीवन आनन्दमय हो जाता है। चिन्ता से निवारण करने के लिये मन को किसी रचनात्मक काम में लगाने से भी मानसिक उपराम मिलता है और मानसिक वृद्धि होती है। इससे मानसिक रोगों का निवारण होता है। स्वास्थ्यवर्धक रचनात्मक काम साधारण कामों से भिन्न होता है। साधारण काम आजीविका कमाने, बाल-बच्चों के पालने अपनी कीर्ति फैलाने के लिये होते हैं। वे चिन्ताओं की वृद्धि करते हैं। रचनात्मक काम चिन्ता से मुक्त होकर किये जाते हैं। इनका हेतु स्वान्तःसुखाय होता है। ये खेल के समान मन की प्रसन्नता को बढ़ाते हैं। मनुष्य काम करने से नहीं थकता, चिंता से थकता है। चिन्ताजनित कार्य रोग की वृद्धि करते हैं, आत्मस्फूर्ति से किये गये कार्य स्वास्थ्यवर्धक होते हैं।

मानसिक शिथिलीकरण के प्रकार

मानसिक शैथिलीकरण जिस प्रकार मन को विचारहीन करने अथवा रचनात्मक काम के द्वारा होता है, इसी प्रकार अपने विचारों अथवा कल्पनाओं

के प्रति साक्षी भाव रखकर उन्हें चेतना पर आने की छुट्टी दे देने से भी वह होता है। यह मानसिक रेचन का योगिक उपाय है। इस विधि से अपने मन के भीतर वर्तमान दुर्भावों का विनाश हो जाता है। किसी भी दुर्भाव का चेतना की सतह पर आने से उसका विनाश होता है। जिस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषक मानसिक रोगी की दवी हुई स्मृति अथवा भावों को चेतना की सतह पर लाकर उनके विकारों को नष्ट करने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार योगी भी अपने मन के दबे भावों का मानसिक शैथिलीकरण के द्वारा चेतना के समक्ष लाता है। वह अपने आपसे घबड़ाता नहीं वरन् अपने सभी प्रकार के बुरे और भले भावों को चेतना की सतह पर आने की सुविधा देता है। आत्मनिर्देश के द्वारा सभी विस्मृत विचार चेतना की सतह पर चले आते हैं।

मनुष्य को मानसिक रोग अपने अनैतिक भावनाओं अथवा आत्मग्लानिजनक घटनाओं के विस्मरण करने की चेष्टाओं के कारण होता है। इसी चेष्टा के कारण मनुष्य के व्यवहार में अनेक प्रकार की असाधारणता भी आती है। जब कोई व्यक्ति नैतिक प्रतिबन्धों को अपने विचार से अलग कर देता है तो उसकी दलित भावनाएँ और आत्मग्लानिजनक स्मृतियाँ उसके स्मृतिपटल पर आ जाती हैं। इससे उनका विष नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश शारीरिक रोग के कीटाणुओं का विनाशक है उसी तरह चेतना का प्रकाश मानसिक रोगों के कीटाणुओं का विनाशक है। इस प्रकार के अभ्यास के नित्य करते रहने से मनुष्य को साम्य अवस्था की प्राप्ति होती है।

भगवान बुद्ध दोनों प्रकार मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास करते थे। "आनापान सति" पहले प्रकार के अभ्यास का अंग है और आत्मदर्शन की चेष्टा दूसरे प्रकार का अभ्यास है। अपनी दबी भावनाओं का साक्षात्कार और रेचन किस प्रकार भगवान बुद्ध ने किया, यह एक रुपक के रूप में बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित है। भगवान बुद्ध के "मारदर्शन" का यही रहस्य है। मार की सेना हमारी दबी हुई अनेक प्रकार की काम, क्रोध, लोभ आदि जनित वासनाएँ हैं। यह तृष्णा का परिवार है। यह हमारी चेतना के नीचे रहकर हमें तंग करते हैं। जब इन्हें योगाभ्यास के द्वारा चेतना की सतह पर

भगवान बुद्ध का मानसिक शैथिलीकरण

लाया जाता है तो ये फिर अपना उत्पात करना बन्द कर देते हैं। हमारे शत्रु फिर हमारे मित्र बन जाते हैं। इनकी शक्ति रचनात्मक अर्थात् संसार के लिए कल्याणकारी काम करने में व्यय होने लगती है।

मानसिक स्वास्थ अपने मनोभावों के प्रति साक्षी भाव रखने से स्थिर रहता है। मनुष्य के मन में भले और बुरे दोनों प्रकार के भाव आते रहते हैं। वह भले भावों को चेतना की सतह पर ठहरने देता है और ऐसे भावों को चेतना की सतह पर ठहरने नहीं देता जिनसे उसे आत्मभर्त्सना की अनुभूति हो। परन्तु इस प्रकार की चेष्टा हानिकारक होती है। आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य तभी ठीक रहता है जब वह भले और बुरे दोनों प्रकार के विचारों और भावों को बिना रोक टोक के चेतना की सतह पर आने देता है। जब मनुष्य केवल भले विचारों और भावों का ही अपनी चेतना में स्वागत करता है और बुरे विचारों और भावों का दमन करता है, अर्थात् उन्हें भूल जाने की चेष्टा करता है तो ये विचार और भाव चेतना के शत्रु बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति करते हैं। जो विचार और भाव उन्हें प्रकाशित होने का अवसर किये जाने पर मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ाते हैं वे ही विचार दबाये जाने पर रोग का कारण बन जाते हैं। इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों में यही दशाने की चेष्टा की गई है कि किसी दुर्भावना को दबाने पर वह किस प्रकार रोग का कारण बन जाती है। जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व के सभी अंगों को स्वीकार नहीं करता वह एकाङ्गी जीवन व्यतीत करता है वह अनेक प्रकार के रोगों का अङ्गी होता है।

देखा गया है कि जब ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, घृणा आदि के भावों की आत्म स्वीकृति नहीं की जाती और उन्हें चेतना की सतह पर नहीं आने दिया जाता तो मनुष्य को ऐसे शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो इन भावों के प्रतीक होते हैं। आंख की ज्योति कम होना अथवा अंधापन आ जाना, पेट में फोड़ा हो जाना, क्षय और एक्जिमा, बबासीर और कोढ़ आदि रोग उपर्युक्त प्रकार के भावों को चेतना की सतह पर न आने देने के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। जब इन भावों को चेतना की सतह

पर आने की स्वतंत्रता दे दी जाती है तो उनकी ध्वंसात्मक शक्ति रचनात्मक कर्मों में प्रकाशित होने लगती है। दबी मानसिक शक्ति प्रारंभ में भयानक रूप धारण करके प्रकाशित होती है, पर धीरे-धीरे वही शक्ति प्रिय रूप धारण कर लेती है।

'जासुआ लिवमेन' नामक एक अनुभवी अमेरिकन लेखक अपनी "पीस आफ माइण्ड" नामक पुस्तक में मानासक शान्ति प्राप्त करने के लिये यह शिक्षा देते हैं कि मानसिक शान्ति के लिये हमें अपने अप्रिय अव्यक्त अभद्र विचारों को वैसा ही उदार दृष्टिकोण रखना पड़ेगा, जिस प्रकार का दृष्टिकोण प्रजातन्त्रात्मक राज्य में राज्य के नागरिकों के प्रति होता है, अथवा पार्लियामेंन्ट में उसके सदस्यों के प्रति होता है। सरकार के विरोधी सदस्यों को एकदम दबाया नहीं जाता, उन्हें अपने विचारों के प्रकाशित करने का अवसर दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार का अवसर देने से उसमें जिम्मेदारी का भाव आता है। दूसरे सभा-सचात्मक को विश्वास रखना होगा कि यदि सभी सदस्यों को अपने विचारों को प्रगट करने का अवसर दिया जाये तो इससे उसका बल घटेगा नहीं अपितु बढ़ेगा। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में राष्ट्र के सदस्य विश्वास करते हैं कि जब सभी लोगों को अपने-अपने विचार प्रकाशित करने का अवसर दिया और सबकी राय प्रकाशित होने पर जब अन्त में सभा का मत लिया जाता है वह सभा का निर्णय अधिक से अधिक भलाई के पक्ष में ही होता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति अपने बुरे और भले, सभी विचारों को चेतना की सतह पर आने देता है और जब वह इसके पश्चात् कोई निर्णय करता है तो स्वाभाविक रूप से निर्णय भलाई के पक्ष में होता है। बुराई के भाव और विचार कम से कम होने के कारण बहुसंख्यकवाले विचार और भावों से हार जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति का आचरण संतुलित और भला होता है। उसका सारा जीवन सरस और अनुकरणीय होता है। ऐसे व्यक्ति के व्यक्तित्व में अकारण चित्त, भय, झक आदि मानसिकरोग नहीं पाये जाते और न वे शारीरिक रोग ही होते हैं जो बुरे विचारों के दमन से उत्पन्न जिस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राज्य में भले लोग ही राज्य-भार वहन करते और उनके

विचार राज्य के जीवन को सम्प्राणित करते हैं, इसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त को बरतने से अर्थात् सभी प्रकार के विचारों को चेतना की सतह पर आने का अवसर देने से, वे अप्रिय विचार भले. विचारों और भावों के नियंत्रण में सरलता से आ जाते हैं। जैसे जैसे बुरे विचारों को आत्म-प्रकाशन का अधिक अवसर दिया जाता है उनका बल बढ़ने के बदले घट जाता है। वे फिर मनुष्य के व्यक्तित्व की हानि करने की क्षमता को खोदते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक शैथिलीकरण से मनुष्य के बुरे भाव प्रकाशित होकर निर्बल बन जाते हैं और मनुष्य की हानि न कर उसे लाभ पहुँचाते हैं।

हेरो वेन्मन के स्वास्थ्यवर्धक आदेश

प्राकृतिक और मानसिक उपचार की समानता प्राकृतिक चिकित्सक हेनरी वेन्जमन महाशय के निम्नलिखित आदेशों से स्पष्ट है।

("यूअर डायट इन हेल्थ एण्ड" डिजीज में से)

"चिन्ता प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से बुरी है। यह बीमार आदमी के लिये विशेषकर हानिकारक है। बीमार मनुष्य की शारीरिक शक्ति कम रहती है और उसके विचार निराशाजनक होते हैं। ऐसी अवस्था में चिन्ता उसे खा जाती है अतएव चिन्ता की मनोवृत्ति का अभी से विनाश करो, इसकी आदत मत पड़ने दो। चिन्ता करने से लाभ कुछ नहीं होता, पर हानि ही होती है।

चिन्ता डायन का विनाश

चिन्ता इच्छाशक्ति को बलहीन कर देती है।, वह शारीरिक बल को बहा देती है और विचार शक्ति को तितर-बितर कर देती है। पर वास्तव में चिन्ता एक भूत के अतिरिक्त है ही क्या ? चिन्ता वास्तविक वस्तु नहीं है, किन्तु जब हम उसके चंगुल में फँस जाते हैं तो वह भूत के समान हमारी जान खानेवाली डायन बन जाती है। अब से चिन्ता तुम से दूर रहे। चिन्ता हिम्मत, स्फूर्ति और आत्मविश्वास से दूर भागती है।

आत्मविश्वास चिन्ता डायन को खा जाता है; अतएव पूरे मन के साथ कहो "मैं इस व्याधि से अवश्य मुक्त हो जाऊँगा। मैं मुक्त हो रहा हूँ। मैं अब चंगा हो गया।"—पृष्ठ १६४।

सोते समय के विचार

प्रतिदिन नीचे लिखे विचार को स्मरण कर लो और सोते समय और जागते समय अपने मन में दोहराओ। सवेरे दस बजे तक प्रसन्न रहो, तुम दिन भर प्रसन्न रहोगे। जब सोने लगो तब तब सुन्दर सुखद विचार लेकर सोओ। तुम्हारा चरित्र और इच्छाशक्ति सुप्त अवस्था में बनते हैं। तुम्हारा सोते समय का प्रबल विचार सुप्तावस्था में काम करते रहता है और वह तुम्हारे आन्तरिक मन को प्रभावित करता है। यदि यह विचार सुखद और आशा-तीत है तो तुम जब जागोगे तो अपने आपको प्रसन्नचित्त, स्फूर्तिमय और काम करने के लिये तत्पर पाओगे। सोने के पहले अपनी आँखें मूँदकर मन में चित्रित करो "मैं सुखी हूँ, मैं स्वस्थ हूँ" जैसा तुम होना चाहते हो वैसा अपने आपको सोते समय देखो। सोते समय अपने आपका उत्तम सजीव चित्र बनाओ और उसी चित्र के साथ सो जाओ।—पृष्ठ १६८।

भोजन के समय सावधानी

यदि हम भोजन चिन्ताग्रसित होकर तथा भयभीत होकर अथवा थककर करते हैं, अथवा जल्दी-जल्दी खाते हैं तो भोजन हमारी शारीरिक शक्ति को नहीं बढ़ावेगा। ऐसी अवस्था में पाचन-क्रिया ठीक से नहीं होती और खाया हुआ भोजन लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाता है। रोगी के लिये तो ऐसी अवस्था में भोजन करना और भी घातक है। भोजन को सावधानी और शान्ति के साथ करना चाहिए। प्रत्येक ग्रास को धीरे-धीरे भली प्रकार चबाना चाहिए, भोजन का रस आस्वादन करते हुये निगलना चाहिए। भोजनगृह में जल्दी में जाना, जल्दी-जल्दी से खाना और जल्दी में ही बाहर भागना बीमारियों का आवाहन करना है। चाहे कितना ही अच्छा शक्तिवर्धक भोजन क्यों न हो यदि वह जल्दी में अस्थिर विचारों के साथ खाया जाता है तो वह अन्त में अपच अवश्य पैदा कर देगा।

भोजन करने के पश्चात् पाचनक्रिया को प्रारम्भ होने के लिए पर्याप्त समय

देना चाहिए। भोजन करते ही भागना अथवा काम में लग जाना बड़ा घातक है। इस प्रकार की आदत शरीर की पाचनक्रिया को हानि पहुँचाती है। —पृष्ठ १३०।

"भोजन के विषय में अत्यधिक विचार करना भी स्वास्थ्य के लिये हानि-कारक होता है। भोजन को एक गणित की समस्या नहीं बना लेना चाहिये, नहीं तो जो हम भोजन से स्वास्थ्य सुधार की आशा करते हैं, उसके बदले स्वास्थ्य को हानि ही होती है। स्वस्थ मनुष्य सभी प्रकार के भोजन से लाभ की आशा रखता है।" पृष्ठ १३२।

स्वास्थ्यवर्धन के प्राकृतिक साधन निम्नलिखित हैं—

(१) नियमित समय पर भोजन करना भोजन के बीच में पाँच घंटे की देर अवश्य होनी चाहिये।

(२) भोजन के समय मानसिक शान्ति और स्थिरता का रखना।

(३) भोजन के प्रति उचित दृष्टिकोण रखना। किसी प्रकार की झक से न बंध जाना।

(४) महीने में एक बार चौबीस घंटे का उपवास रखना।

(५) नियमित रूप से दिन में तीन चार मील चलना।

(६) गहरे और बहते हुए जल में स्नान करना।

(७) भोजन में फल और दूध अवश्य लेना।

(८) शौच बंधे समय पर जाना।

(९) घर के बाहर काम करना। स्वच्छ वायु और सूर्य के प्रकाश में रहने की आदत डालना।

(१०) प्रतिदिन प्राणायाम।

युक्त नियम प्राकृतिक और मानसिक दोनों प्रकार के चिकित्सा विधि के अनुसार स्वास्थ्यवर्धक हैं। इसमें से बहुत से नियमों की उपयोगिता पिछले पृष्ठों में दर्शायी जा चुकी है।

———

आठवाँ प्रकरण

मनोविकारजनित रोग

मनोविकार जनित रोग का मूल कारण

मनुष्य की अन्तरात्मा भली है, अतएव वह मानसिक विकार को, चाहे वह किसी प्रकार का हो सदा बाहर निकालते रहती है। मनुष्य अपनी भली भावनाओं को सबके सामने प्रकाशित करने में गर्व की अनुभूति करता है। इससे उसे आनंद की अनुभूति होती है। वह अपनी बुरी भावनाओं को दूसरों के समक्ष प्रकाशित करने में लज्जा और आत्म-ग्लानि का अनुभव करता है। इससे उसे दुःख होता है। अपने भले गुणों के लिये दूसरे लोग हमारी प्रशंसा करते हैं। और हमारे दुर्गुणों के लिये वे हमारी भर्त्सना करते हैं। अतएव हम अपने गुणों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित करते हैं और अपने ऐबों को दूसरों की आंखों से बचाते हैं। यह चेष्टा अपने आपके समक्ष भले भावों को स्वीकार करना और बुरों को स्वीकार न करने में भी परिणत हो जाती है, अर्थात् जिन भावों को हम दूसरों से छिपाने की चेष्टा करते हैं उन भावों को हम अपने आपसे भी छिपाने की चेष्टा करने लगते हैं। यही चेष्टा मानसिक ग्रन्थि के बनने का कारण होता है।

किसी भी प्रकार के गुण अथवा दोष प्रगट होने से नष्ट हो जाते हैं और उनके छिपाने से वे बढ़ते हैं। जिन गुणों का हम अहँकार करते हैं, वे हमारे व्यक्तित्व की सामग्री बन जाते हैं, परन्तु उनमें फिर आगे बढ़ने की क्षमता नहीं रहती, हमारे वे ही गुण बढ़ते हैं जिनका अहँकार हमें नहीं है। इसी प्रकार जिन ऐबों से हमें ग्लानि होती है, जिनके प्रकाशन से हम अपने व्यक्तित्व में कमी की अनुभूति करते हैं, वे प्रकाशित होते ही नष्ट हो जाते हैं। पुरानी कहावत है—'पाप छिपाने से बढ़ता है और प्रकाशित होने से नष्ट हो जाता है।'

जिस पाप को अथवा मानसिक दोष को मनुष्य छिपाने की चेष्टा करता है वह मानसिक अथवा शारीरिक रोग में मनुष्य के जीवन में व्यक्त होता है। जब मनुष्य अपने चेतन मन में अपने कलुषित भाव को स्वीकार नहीं करता तो उसे अपनी अचेतन अवस्था में उस भाव को स्वीकार करना पड़ता है। भीतरी मन में पड़ी अभद्र भावना सदा उसी स्थान पर नहीं रहती; वह किसी न किसी प्रकार व्यक्त होती ही है। जिस प्रकार प्राकृतिक नियम के अनुसार शारीरिक विकार रोग के रूप में शरीर के बाहर आ जाते हैं, उसी प्रकार मानसिक विकार भी मानसिक अथवा शारीरिक रोग के रूप में मन के बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार जो रोग रोगी को होते हैं वे उसके दबे हुए भावों के प्रतीक होते हैं। जो भाव रोग का कारण होता है वह प्रायः मनुष्य के अहँकार को धक्का देनेवाला होता है। इस भाव के प्रकाशन से उसे आत्म-ग्लानि होती है, अथवा शोक होता है। बहुत से इस प्रकार के भाव मनुष्य की नैतिक धारणाओं के प्रतिकूल होते हैं।

मानलीजिये किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति की लोभवश हत्या कर डाली। हत्या करने की भावना यदि उसके मन में आत्मग्लानि उत्पन्न करती है और इसे वह दूसरों से तथा अपने आपसे छिपाने की चेष्टा करता है तो उसे किसी न किसी प्रकार का मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग शारीरिक रोग का रूप भी धारण कर लेता है। कितने ही लोगों को दूसरों का अनर्थ करने के पश्चात् अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। शेक्सपियर के 'मेकवेथ' नामक नाटक में दर्शाया गया है कि डनकन राजा के मार डालने के पश्चात् मेकवेथ की बुद्धि बेठिकाने हो गई। उसने अपने मित्र बेंको की हत्या भी की और फिर वह उसके भूत से त्रस्त होने लगा। उसने अपने मन की शान्ति खो दी। इसी प्रकार उसकी स्त्री को भी अनिद्रा का रोग हो गया। वह सोने के बाद उठती थी और अपने हाथों को रक्त रंजित देखती थी। निद्रा की अवस्था में ही वह अपनी नौकरानियों को जगाती और उन हाथों को धुलवाने का आदेश देती। वे नौकरानियाँ इसका अर्थ नहीं समझती थीं, पर लेडी मेकवेथ का अचेतन मन उसका अर्थ समझता था। वह अपने पाप को धोकर बाहर

निकालना चाहता था। अपने रोग से वह महिला इतनी परेशान हो गई कि अन्त में उसने आत्म-हत्या करली।

प्रबल आवेगों का दमन अर्थात् उनको भुला देने की चेष्टा से मनुष्य को विशेष प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। ये रोग, चाहे वे मानसिक हों अथवा शारीरिक, उन मनोभावों के प्रतीक होते हैं जिनको भुलाने की चेष्टा मनुष्य ने की है। मानलीजिये, किसी व्यक्ति ने निर्दोष व्यक्ति की अपने हाथों हत्या कर डाली, अथवा उसके द्वारा दिये गये कष्ट के कारण वह आत्म-हत्या करके मर गया। ऐसी अवस्था में दोषी व्यक्ति को लकवा अथवा कोढ़ का रोग उत्पन्न हो जाता है। लेखक के गाँव के दो व्यक्तियों को इसी प्रकार शारीरिक रोग हुआ। एक अपनी स्त्री को त्रास देता था। वह स्त्री फांसी लगा कर मर गई। उसके बाद उसे गलित कुष्ट का रोग हुआ जिससे उसके हाथ की अंगुलियाँ गल गईं। पीछे बड़े कष्ट से वह व्यक्ति मरा। एक दूसरा व्यक्ति गांव के गरीब निर्बल लोगों को थोड़ी सी बात पर मार पीट देता था। इस मार पीट के कारण दो एक लोगों की मृत्यु हो गई। पीछे इस व्यक्ति का नवजवानी में ही कमर का लकवा हो गया। वह तीन चार वर्ष तक चारपाई पर पड़ा-पड़ा कराहता हुआ अंत में काल-कवलित बना।

जो लोग किसी ऐसे कार्य को करने से डरते हैं जिन्हें वे दूसरों के समक्ष अभिमान पूर्वक नहीं कह सकते, जिनके प्रकाशित हो जाने पर उन्हें आत्म-ग्लानि का अनुभव हो, वे धन्य हैं। ऐसे ही लोग सच्चे आरोग्य का उपभोग करते हैं। इस प्रकार का डर वास्तव में अपने आपका ही डर है। मनुष्य के मन का साक्षी द्रष्टा उसका अन्तर्यामी है। वही परमात्मा है। इसकी आँख से हम अपने कामों को छिपाना दूर रहा, अपने मनोभावों को भी नहीं छिपा सकते। न केवल अनैतिक आचरण का परिणाम हमें दुःखद होता है, वरन् अनैतिक विचारों और भावों का परिणाम भी दुःखद होता है, चाहे वे आचरण में प्रकाशित हों अथवा नहीं। ये विचार और भावनायें ही मानसिक और शारीरिक रोगों में व्यक्त होती हैं।

नीची लिखी पंक्तिय. में अनेक ऐसे शारीरिक रोगों का वर्णन किया गया है जिनका प्रधान कारण दूषित मनोभाव हैं—

दमा का मानसिक कारण और उपचार

दमा चिन्तनशील व्यक्तियों का एक व्यापक रोग है। यह रोग प्रायः प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जाता है। जिस प्रकार क्षय रोग का व्यापक कारण मानसिक चिन्ता है, उसी प्रकार दमा का व्यापक कारण मानसिक चिन्ता है। विरले ही निश्चिन्त व्यक्तियों में दमा की बीमारी पाई जाती है। जब तक मनुष्य अपनी समस्याओं को हल कर सकने की योग्यता अपने में देखता है, उसे दमा की बीमारी नहीं होती, जब उसकी समस्या में इतनी जटिल हो जाती हैं कि उन्हें हल करने की योग्यता वह अपने-आपमें नहीं पाता, तब चिन्ता बीमारी का रूप धारण कर लेती है। यहाँ यह जान लेना लेना आवश्यक है कि मनुष्य की ऊपरी चिन्ता भीतरी चिन्ता से प्रायः भिन्न रहती है। चेतन मन की चिन्ता इतनी घातक नहीं होती जितनी अचेतन मन की चिन्ता होती है।

दमा और चिन्ता

मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार दमा सांकेतिक रूप से मरण की इच्छा का प्रतीक है। मनुष्य के बहुत से रोग उसकी अव्यक्त मानसिक भावना के प्रतीक होते हैं। डाक्टर होमरलेन के अनुसार दमा अपनी माँ के पेट में रहने की रोगी की इच्छा को दर्शाता है। एक बार जन्म हो जाने पर फिर माँ के पेट में जाना सम्भव नहीं, अतएव दमा का रोग मृत्यु की गोद में जाने की इच्छा को प्रकाशित करता है। दमा का रोग सांकेतिक रोग से अचेतन मन की जीवन का अन्त कर देने की इच्छा को दर्शाता है। डाक्टर होमरलेन ने कुछ दमा के रोगियों के मनोविश्लेषण से पता चलाया कि उनके रोग का कारण रोगी के उस काल में पाया जाता है जब कि वह माता के गर्भ में था। बहुतसी माताएँ सन्तान उत्पत्ति नहीं चाहतीं, पर उनकी इच्छा के प्रतिकूल उन्हें गर्भ रह जाता है। इस अवस्था में वे प्रायः सोचा करती हैं कि यदि बालक उत्पन्न न होता तो अच्छा होता। माता के ये विचार गर्भस्थिति बालक के अचेतन मन में घर कर लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक में मरने की इच्छा प्रबल हो जाती है। जब तक बालक लाड़-प्यार में रखा जाता है तब तक वह स्वस्थ रहता है, परन्तु

दमा की प्रतीकता

जब किसी प्रकार का संकट उसके ऊपर आ जाता है तो उसे कोई न कोई शारीरिक बीमारी हो जाती है। यही बालक प्रौढ़ होने पर किसी कठिनाई का सामना करते ही दमा के रोग का शिकार बन जाता है। सन्तान उत्पन्न न करने की इच्छा गरीबों की अपेक्षा धनी घरों में अधिक पाई जाती है। जिस व्यक्ति में जितनी ही अधिक धन की चाह होती है, सन्तान वृद्धि से उसे उतना ही अधिक भय होता है; अतएव कंजूसलोगों को या तो सन्तान होती ही नहीं और सन्तान होती ही है तो रोगी। जिस व्यक्ति को सन्तान की उत्पत्ति से जितनी ही वास्तविक खुशी होती है, उसकी सन्तान उतनी ही स्वस्थ और दीर्घजीवी होती है। माता-पिता की इच्छा के प्रतिकूल जन्म पा लेने वाले बालकों में मरने की इच्छा रहना स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्तियों के समक्ष जब कोई कठिन समस्या आ जाती है तो वे उसका वीरता से सामना न कर रोग का आवाहन करने लगते हैं। रोगी अपने जीवन की जिम्मेदारियों से अपने आपको मुक्त समझता है, अतएव रोग के द्वारा रोगी व्यक्ति अपनी कठिनाइयों को अपनी दृष्टि से ओझल करता है।

दमा अचेतन मन की चिन्ता से थकावट की अवस्था को दर्शाता है। जिस प्रकार सिर पर भारी बोझा होने पर मनुष्य बोझके मारे हाँफने लगता है, उसी प्रकार मनुष्य के अचेतन मन पर जब चिन्ता का भार अधिक बढ़ जाता है तो उसे दमा का रोग उभड़ आता है। इस अचेतन मन की चिन्ता का ज्ञान प्रायः चेतन मन को नहीं रहता। जिन चिन्ताओं से दमा का रोगी परेशान दिखाई पड़ता है, वे उसकी वास्तविक चिन्ताएँ नहीं होती। वे वास्तविक चिन्ताओं के प्रतीक अथवा रूपान्तर मात्र होती हैं। बालक की गर्भावस्था के समय की माता-पिता की चिन्ता उसकी प्रौढ़ावस्था की अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताओं की जननी हो जाती है। इस तरह व्यक्ति सदा चिन्तित रहने पर भी चिन्ता के वास्तविक कारण को नहीं जानता और न किसी प्रकार उसका उपचार ही कर सकता है। इसी प्रकार अपने प्रेमी के प्रेम से वंचित होने पर जो चिन्ता व्यक्ति को उत्पन्न होती है उसका ज्ञान व्यक्ति के चेतन मन को नहीं रहता, पर यह चिन्ता दमा के रोग का कारण बन जाती है।

बहुतसी स्त्रियों दमा का रोग पति के प्रेम के अभाव के कारण उत्पन्न

होता है। जो पति-पत्नी सन्तान निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाते हैं, उन्हें दमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। सन्तान निग्रह की इच्छा चेतन मन की इच्छा होती है। मनुष्य का अचेतन मन जो उसकी मूल प्रकृति का प्रकाशन है, इसका विरोधी होता है। मूल-प्रकृति नित्य प्रसवनी है। जब मनुष्य कोई कार्य इसके प्रतिकूल करता है तो वह अपने ही स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के अचेतन मन में भारी चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, और इन चिन्ताओं के कारण उसे दमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। जिस व्यक्ति को सन्तान निग्रह की जितनी प्रबल भावना होती है उसे दमा का रोग भी उतना ही अधिक होता है इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आनेवाले दो एक उदाहरण उल्लेखनीय हैं :—

दमा और अप्राकृतिक जीवन

लेखक के एक मित्र बड़े ही सदाचारी और सांसारिक बातों से विरक्त व्यक्ति हैं। उनकी धर्मपत्नी एक प्रतिभावान विदुषी है। वह स्त्री अध्यापक का काम करती है। मित्र अपनी स्त्री से बहुत दूरी पर जमीदारी का काम करते हैं। उसके पति सभी के प्रति बड़े उदार हैं पर वह उनकी उदारता को कायरता समझती है। उसके पति भामती लेखक वाचस्पति मिश्र के समान संयमी हैं। चालीस वर्ष की अवस्था होने पर भी उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई है। विदुषी को दमा की बीमारी भी है। जब कभी यह महिला कोई संकट में पड़ जाती है तो उसकी यह बीमारी उभड़ आती है। ज्ञात रूप से इस महिला का मन सदा पढ़ने लिखने में लगा रहता है। परन्तु सन्तानहीन जीवन हृदय को दुःखी बनाये रखता है। सन्तान की आवश्यकता अचेतन मन को आवश्यकता है। जब मनुष्य की इस मूल आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उसे हो जाते।

आत्मग्लानि और दमा

दमा के मानसिक रोगियों में दूसरों की आलोचना करने की भी प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरों की आलोचना करने की प्रवृति का उदय भी आत्म- भर्त्सना की मनोवृत्ति के दमन से होता है। जो मनुष्य अपने आपसे असन्तुष्ट रहते हैं वे दूसरों से भी असंतुष्ट रहते हैं। वे अपने आपके प्रति असंतोष को

दूसरों के ऊपर आरोपित कर देते हैं। अपने आपकी कमी ही विकृति रूप से दूसरे व्यक्तियों की कमी में दिखाई देने लगती है। यह आरोपण की प्रवृत्ति का एक कार्य मात्र है। वे अपने भाग्य से संतोष नहीं करते, वे अपनी परिस्थिति में अनेक दोष देखते हैं। अतएव वे अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित रहते हैं। उनके मनसूबे इतने भारी होते हैं कि उन्हें पूरा करना असभव होता है।

लेखक के एक दूसरे मित्र की स्त्री का हाल में ही प्रबल दमा की बीमारी हो गई है। इस मित्र के दो बच्चे हैं और दो बच्चे मर चुके हैं। वे अब संतान-निग्रह के उपाय काम में लाते हैं। सन्तान की वृद्धि न तो उनकी स्त्री चाहती है और न वे स्वयं चाहते हैं। इनकी स्त्री पढ़ी-लिखी और स्वाभिमानी है। उसे घर साफ रखने की झक सवार रहती है। वह दिन भर अपना सामान सजाने और घर साफ करने में लगी रहती है इससे थक कर वह प्रायः बीमार भी हो जाती है। स्त्री अपने पति से ऊँचे घराने की महिला है। वह अपना तनिक भी अपमान नहीं सह सकती। कभी-कभी पति-पत्नी में अनबन हो जाती है। ऐसी स्थिति में पति को ही नीचे झुकना पड़ता है। पति पहले किसी दूसरी महिला को प्यार करते थे। इसका ज्ञान उनकी स्त्री को हो गया था। इससे वह परेशान रहती थी। इस समय भी पति अपनी स्त्री को अधिक समय नहीं दे पाते। वे राष्ट्रीय कामों में लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में दमा की बीमारी का उभड़ आना स्वाभाविक ही है।*

शोक के दमन से भी दमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। मेरे एक छात्र की दादी को इस समय दमा की बीमारी है। यह शोक का दमन और दमा बीमारी उसे कोई बीस वर्षों से है। पहले पहल बीमारी का आरंभ निम्नलिखित घटना से हुआ—

जब उक्त वृद्धा युवाअवस्था में थी तो उसका एक पन्द्रह साल का

* उक्त मित्र के पत्रव्यवहार से पता चला है कि उन्होंने लेखक की सलाह मानकर सन्तान निग्रह के कृत्रिम उपायों को छोड़ दिया और इसके परिणाम-स्वरूप उन्हें एक पुत्र हाल में ही पैदा हो गया है। जब से पुत्र का जन्म हुआ है उनकी स्त्री का दमा का रोग जाता रहा। उसके स्वभाव में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है।

लड़का मर गया। इससे उसे भारी कष्ट हुआ और उसने आत्म-हत्या करना चाहा। उसने सुन रखा था कि घी और शहद बराबर मिलाकर खा जाने से मृत्यु हो जाती है, अतएव उसने कुछ घी और उतनी ही शहद मिलाकर खा ली। इससे उसकी मृत्यु तो नहीं हुई, पर उसे दमा की बीमारी उभड़ आई। यह बीमारी उसे आज दिन तक है। यह महिला अपने नाती को जो मेरा छात्र है बहुत प्यार करती है। वह कुछ समय तक उसी के पास अपने घर से दूर रहती थी। वह वहाँ जाती जहाँ कि वह एक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ता था, देखरेख करती थी, और उसे रोटी बनाकर खिलाती थी। जब तक वह उस नाती के पास घर से दूर रही तब तक उसे दमा की बीमारी नहीं हुई। पर जब यह नाती अपनी स्कूल की पढ़ाई पूरी करके कालेज चला गया और उसे अपने पुराने घर पर जाकर रहना पड़ा तो उसकी वह बीमारी फिर से उभड़ आई। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस महिला की पतोहू अर्थात् मेरे छात्र की माँ अभी जीवित है और घर में उसीका प्रभुत्व है। इस प्रकार के वातावरण का उसकी बीमारी से घनिष्ट सम्बन्ध है। जब मनुष्य की इच्छाशक्ति किसी घटना से एक बार कमजोर हो जाती है तो उसमें किसी प्रकार की कठिनाइयों का धैर्य के साथ सामना करने की क्षमता नहीं रहती। ऐसी अवस्था में जब कोई साधारण सी भी कठिनाई व्यक्ति के समक्ष आ जाती है तो वह बीमार हो जाता है। बीमारी मनुष्य को एक विशेष प्रकार का संतोष प्रदान करती है। बीमारी के कारण एक ओर व्यक्ति आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति से बच जाता है और दूसरी ओर वह अपने सम्बन्धियों के ध्यान को अपने ऊपर आकर्षित कर लेता है। जिस स्त्री को उचित प्रेम नहीं मिलता वह बीमारी का आवाहन करने लगती है। बीमार होकर वह विकृत मार्ग से उस वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होती है। दमा से बीमार महिलाएँ प्रायः प्रेमकी भूखी रहती हैं। जब उनकी इस इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो उनका रोग भी नष्ट हो जाता है।

दमा से पीड़ित पुरुष प्रायः अपने जीवन में असफल होते हैं। दमा उन्हें आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति से बचाता है। जिन लोगों के मनसूबे बड़े-बड़े होते हैं पर सफलता बहुत कम होती है, वे दमा के शिकार हो जाते हैं। लेखक के एक मित्र ऊँची विलायत की डिगरी प्राप्त किये हुए हैं, पर उन्हें उनकी योग्यता के

असफल जीवन और दमा

अनुसार कोई पद अभी तक नहीं मिला। अतएव वे अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं हैं। वे सभी बातों में दोष ही देखते हैं। उनके विचार से भारतवर्ष के नये आन्दोलन उसका उत्थान न कर, उसे पतन की ओर ले जा रहे हैं। वे पुरानी भारतीय संस्कृति के पक्षपाती हैं और जात-पांत में कठोरता चाहते हैं। पर आजकल उलटी ही लहर चल पड़ी है, इससे वे बहुत असन्तुष्ट हैं। इन्हें भी दमा की बीमारी है, और यह बीमारी जब कभी उभड़ आती है तो वे सन्तान-निग्रह के उपायों को काम में लाते हैं। ये बड़े स्वाभिमानी हैं, स्त्री का प्रभुत्व इनके ऊपर रहता है दमा के उभड़ने का कभी-कभी बड़ा विस्मयजनक कारण होता है। यदि वे सड़क पर चल रहे हों और वहाँ से कोई मोटर निकल जाय तो यह दमा उभड़ने का कारण बन जाती है। मोटर के निकलने से धूल उड़ती है, और जब यह धूल उनकी नाक में चली जाती है तो उन्हें जुखाम हो जाता है। जब कुछ दिन तक जुखाम बना रहता है तो उन्हें दमा उभड़ आता है। दमा के इस प्रकार उभड़ आने का वृत्तान्त सुनकर लेखक को आश्चर्य हुआ। पर जहाँ कारण मानसिक हो वहाँ कोई भी तुच्छ बाहरी कारण बीमारी उभड़ने के लिए पर्याप्त होता है। बीमारी उभड़ने में वास्तव में बाहरी कारण प्रतीक मात्र होता है। जो व्यक्ति स्वयं सदा मोटर पर चढ़ता रहता हो वह दूसरे व्यक्ति का मोटर पर चढ़ना और अपना जमीन पर चलना सहन नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि धूल का उड़ना दमा का वास्तविक कारण न होकर, इस मित्र की संपूर्ण मानसिक परिस्थिति उसकी बीमारी का कारण है।

दमा और निकम्मापन

सभी निकम्मे लोगों को कोई-न-कोई बीमारी लग जाती है। अतएव दमे की बीमारी प्रायः निकम्मे लोगों को ही हो जाती है। निकम्मे लोगों में आत्मविश्वास की कमी होती है। उनमें आन्तरिक आनन्द का अभाव रहता है। उनका चित्त शान्त नहीं रहता, अतएव ऐसी अवस्था में दमा का रोग हो जाना स्वाभाविक ही है। वे इस रोग के द्वारा अपनी निराशावाद का प्रतिकार करते हैं और अपने निकम्मेपन को छुपाने में समर्थ होते हैं।

रोग के कारण को जान लेने पर उसके निदान का मार्ग भी साफ हो जाता है। दमा के रोगी को जितना ही प्रेम मिलेगा वह उतना ही अपने रोग को दबाने में समर्थ होगा। दमा के रोगियों को सन्तान निरोध के उपायों को काम में लाना तुरंत ही बन्द कर देना चाहिए। दमा के रोगी को जीवन की जिम्मेदारियों को उठाने के लिये सदा प्रोत्साहित करना चाहिये। जो व्यक्ति जितना ही अपनी जिम्मेदारियों को उठाने के लिये तत्पर रहेगा, उसका रोग उतना ही हलका होगा। दमा के रोगी को धार्मिक शिक्षा देकर उसका अभिमान कम कराना भी अत्यन्त आवश्यक है। अभिमान के कम होने पर वह बड़े-बड़े संकल्प नहीं करता और उसकी निराशा भी फिर सीमित हो जाती है। दूसरे लोगों के प्रति प्रेम बढ़ाने से भी इस रोग का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों से जितना अधिक प्रेम करता है उसका मन उतना ही स्वच्छ रहता है और उसे उतनी ही कम स्थायी बीमारियाँ पकड़ती हैं। शान्त विचारों का अभ्यास भी इस रोग का अन्त करता है।

सिर की पीड़ा

सिर की पीड़ा एक सामान्य रोग है। यह प्रत्येक व्यक्ति को कभी-न-कभी हो जाता है। हम इसके शारीरिक कारण से ही प्रायः परिचित हैं। इसका मानसिक कारण हो सकता है, इस संभावना के ऊपर विचार हीं कम किया गया है। जब हम यह कहते हैं कि सिर की पीड़ा का मानसिक कारण होता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसका शारीरिक कारण नहीं होता।

सिर की पीड़ा के भौतिक कारण

शारीरिक विकारों से भी सिर दर्द होता है, जिस प्रकार मानसिक विकारों से सिर दर्द होता है। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक विकार दोनों साथ-साथ काम करते हैं। कभी-कभी मानसिक विकारों से शारीरिक विकार उत्पन्न होकर सिर दर्द का कारण बन जाते हैं। अतएव किसी एक विशेष व्यक्ति के सिर की पीड़ा के कारण को जानने के लिये उसकी संपूर्ण शारीरिक और मानसिक स्थिति को जानना आवश्यक होता है। यहाँ सिर की पीड़ा के मानसिक कारणों के बताने के पूर्व उसके साधारण शारीरिक कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सिर की पीड़ा अधिकतर पेट के विकार से उत्पन्न होता है। अपच, कब्जियत कोष्ठ-बद्धता, पित्त की वृद्धि आदि शारीरिक विकार सिर सर्द के रूप में प्रगट होते हैं। बुखार के समय भी सिर दर्द हो जाता है। सिर का दर्द अपरिचित रोग का प्रतीक है। यदि हमारे शरीर में कोई विकार उत्पन्न हो गया है तो वह पहले-पहल सिर दर्द के रूप में प्रगट होता है। विकार के नष्ट होने पर सिर की पीड़ा भी नष्ट हो जाता है। यदि हम सिर के दर्द से चेत होकर अपने स्वास्थ्य को सँभालने नहीं लगते तो किसी जटिल रोग से ग्रसित हो जाते हैं। सिर की पीड़ा मिटाने के लिये प्रायः पेट की चिकित्सा करनी पड़ती है।

कभी-कभी सिर की पीड़ा आँख की कमजोरी से उत्पन्न हो जाता है। जिन लोगों को मायोपिया की बीमारी हो जाती है और वे उसको नहीं जान पाते या परवाह नहीं करते उन्हें सिर का दर्द हो जाता है। किशोर बालकों के सिर के दर्द का अधिकतर यही कारण होता है। मायोपिया से अपच, बेचैनी, चिड़चिड़ेपन के साथ-साथ सिर का दर्द भी हो जाता है। जब मायोपिया से पीड़ित व्यक्ति चश्मा लगा लेते हैं तो उनके सिर का दर्द दूर हो जाता है।

सिर की पीड़ा के मानसिक कारण—चिन्ता

सिर की पीड़ा के मानसिक कारणों में प्रधान चिन्ता, शोक, विरह और द्वेष होते हैं। चिन्ता ही सिर दर्द का मुख्य मानसिक कारण है। चिन्ता करने से मस्तिष्क की नसों पर विशेष प्रकार का जोर पड़ता है। हमारे रुधिर का प्रवाह उसी ओर हो जाता है जिस ओर उसकी आवश्यकता होती है। चिन्ता के समय उसकी आवश्यकता मस्तिष्क में होती है, अतएव उसी ओर उसका प्रवाह होने लगता है। इस तरह मस्तिष्क में अत्यधिक रुधिर का दौरा हो जाता है जिससे कि रुधिर के बढ़ाव (ब्लड प्रेशर), सिर की पीड़ा आदि बीमारी हो जाती हैं। अधिक चिन्तन करने से रात्रि को ठीक से नींद नहीं आती। स्वप्न भयावने आते हैं। कभी-कभी स्वप्न-दोष भी हो जाते हैं। इन सबके कारण भी सिर की पीड़ा हो जाती है। अधिक पढ़ने लिखने वाले विद्यार्थियों के सिर दर्द का प्रायः यही कारण होता है।

चिन्तन करते समय मस्तिष्क के बहुत से जर्रे (सेल्स) टूट जाते हैं। ये टूटे हुए जर्रे खून के प्रवाह के द्वारा बाहर निकलते हैं। इसके लिये समय की

आवश्यकता होती है। लगातार चिन्तन करते रहने वाले व्यक्तियों के टूटे हुए जर्रे शीघ्रता से बाहर नहीं निकल पाते। ये जहर के रूप में मस्तिष्क में उपस्थित रहते हैं; इससे सिर की पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। जो विद्यार्थी देर तक रात को पढ़ते रहते हैं और पर्याप्त नींद नहीं लेते, उन्हें शिर की पीड़ा हो जाती है।

चिन्तन अधिक करने से मनुष्य की अधिक मानसिक शक्ति विचार करने में खर्च हो जाती है। कितने ही लोगों को भोजन करने तक का समय भी नहीं रहता। वे किसी जटिल समस्या पर सोचते हुए ही भोजन करते हैं। ऐसे लोगों को भोजन ठीक से नहीं पचता। जो शक्ति भोजन पचाने के लिये आवश्यक है, जब वह पेट को नहीं मिलती तो अपच की बीमारी हो जाती है, जिसके कारण सिर दर्द तथा अन्य बीमारियाँ हो जाती हैं। चिन्ता के कारण कितने ही लोगों को समय पर पेशाब करने और पैखाना जाने की फुरसत ही नहीं मिलती। जो व्यक्ति चिन्ता से मुत होकर इन प्राकृतिक कार्यों को नहीं करते उनके ये प्राकृतिक कार्य ठीक से नहीं होते, जिसके कारण सिर दर्द आदि की बीमारी हो जाती है।

चिन्ताएँ कई प्रकार की होती हैं। कुछ चिन्ताएँ बाहरी परिस्थितियों का सामना करने के संबंध में रहती हैं और कुछ आन्तरिक मन के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न होती हैं। बाहरी परिस्थियियों के कारण जो चिन्ताएँ होती हैं वे इतनी जटिल नहीं होती जितनी कि आन्तरिक परिस्थितियों से उत्पन्न चिन्ताएँ होती हैं। आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थिति का आरोप किसी बाहरी समस्या पर हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य समस्या जटिल रूप धारण कर लेती है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति मनुष्य की किसी प्रबल वासना के दमन के कारण उत्पन्न होती है। प्रायः कामवासना का दमन ही ऐसी स्थिति को उत्पन्न करता है। कितने ही व्यक्तियों को, जिनकी कामवासना अतृप्त रहती है, अनेक प्रकार के अकारण भय और चिन्ताएँ घेरे रहती हैं। ऐसे लोगों को स्थायी सिर के दर्द की बीमारी भी होती है। अतृप्त काम-वासना के कारण कितने ही युवकों को स्वप्न-दोष होते हैं। जब वे इन स्वप्न-दोषों के विषय में चिन्ता करने लगते हैं तो उनके स्वप्न-दोष और भी बढ़ जाते हैं। जिस बीमारी से मनुष्य डरता है वह बीमारी उसके लिये और भी भयंकर हो जाती है। स्वप्न-दोषों की वृद्धि के कारण सिर की पीड़ा का हो जाना स्वाभाविक है। स्वप्न-दोष के

साथ-साथ अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। सिर दर्द ऐसी अवस्था में इन रोगों का आगाह मात्र करता है।

अतृप्त कामेच्छा के कारण कितनी ही स्त्रियों को सिर की पीड़ा हो जाती है। यह एक प्रकार का हिस्टीरिया है। सदाचारिणी स्त्री को जब अपने पति से बोलचाल करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता तो उसे सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। जिस स्त्री को अपने पति के विषय में सन्देह हो जाता है कि वह उससे उदासीन है तो उसे सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। इस प्रकार का सिर दर्द एक तरह का पाला हुआ रोग है। जब तक पति की कल्पित उदासीनता नहीं जाती तब तक यह रोग बना रहता है। सिर की पीड़ा को पकड़ कर रोगी अपने प्रेमी को अपने विषय में चिन्तन करने के लिये बाध्य करता है। जब उनके पति उनके सिर की पीड़ा के विषय में परेशाम होने लगते हैं तो उन्हें अज्ञात आत्म-संतोष होता है। यदि सच्चे भाव से रोगी व्यक्ति की सेवा उसका प्रेमी करने लगे तो उसके सिर का दर्द समाप्त हो जाय।

कितनी ही स्त्रियों को सिर की पीड़ा इसलिये उत्पन्न हो जाती है कि दंपति सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाते हैं। सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाने से स्त्री की भोगेच्छा की तृप्ति नहीं होती। कामवासना के तीन अंग हैं—एक शारीरिक मिलन, दूसरा प्रेम और तीसरा संतानोत्पत्ति। जब तीनों प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होती है तभी कामवासना संपूर्ण रूप से तृप्त होती है। जो पति-पत्नी भोगविलास के लिये मिला करते हैं, किन्तु जिन्हें न आपस में वार्तालाप का अधिक समय मिलता है और जो न सन्तान उत्पत्ति चाहते हैं, वे अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। स्त्रियों को हिस्टीरिया, दमा, स्थायी सिर दर्द और क्षय रोग की बीमारी हो जाती है। इसी प्रकार पुरुषों को भी अनेक प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा अधिक प्रबल होती है। स्त्रियों का अचेतन मन सदा किसी बालक के साथ खेलते रहना चाहता है। जब किसी युवती स्त्री की इस आन्तरिक इच्छा की अवहेलना होती है तो वह रोग ग्रसित हो जाती है। प्रकृति सन्तान वृद्धि चाहती है; अतएव सन्तान-निग्रह अप्राकृतिक है। जीवन की जिम्मेदारियों पर विचार करके जब मनुष्य सन्तान-निग्रह

के उपायों को काम में लाता है तो प्रकृति उससे बदला लेती है। इसी कारण हिस्टीरिया, सिर की पीड़ा आदि की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सिर की पीड़ा का दूसरा कारण विरह कहा गया है। विरह प्रेम की पूर्ति के अभाव से उत्पन्न होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इसका भी संबंध काम-इच्छा से है। जब विरह की स्मृति का दमन होता है तो वह सिर दर्द की बीमारी के रूप में प्रगट होती है। सिर दर्द की पीड़ा यहाँ विरह की मृति की प्रतीक बन कर प्रेमी के समक्ष आती है। हमारे कितने ही शारीरिक रोग मानसिक क्लेशों के प्रतीक होते हैं। असह्य मानसिक क्लेश दमन की अवस्था में सहने योग्य शारीरिक क्लेश के रूप में प्रगट होता है। सिर की पीड़ा एक ऐसी स्मृति का सूचक है जो कि मस्तिष्क में समा नहीं सकती और जिसके कारण मस्तिष्क भारी हो जाता है।

विरह से सिर को पीड़ा

जिस प्रकार विरह सिर की पीड़ा का कारण होता है उसी तरह शोक भी सिर दर्द का कारण हो जाता है। शोक की अवस्था में मनुष्य पागल तक हो जाता है शोक की स्मृति के दमन का वही परिणाम होता है जो विरह की स्मृति के दमन का होता है। शोक से मुक्त होने पर ही मनुष्य अपनी मानसिक व्यथा से मुक्त हो सकता है। कितनी ही स्त्रियों को अपनी सन्तान के मर जाने के कुछ दिन बाद सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी शोक स्मृतियों को भुलाने के परिणामस्वरूप होती है।

क्रोध और द्वेष के भाव भी सिर की पीड़ा उत्पन्न करते हैं। किन्हीं किन्हीं लोगों को क्रोध करने के तुरन्त ही बाद सिर दर्द हो जाता है। क्रोध की अवस्था में मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के जहर उत्पन्न होजाते हैं। रुधिर के साथ ये जहर मिल जाते हैं और सारे शरीर में उनका प्रवाह होने लगता है। इसके कारण सिर-दर्द उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी इसके कारण मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। जिस व्यक्ति के प्रति हम बार-बार क्रोध लाते हैं, उसके प्रति हमारा द्वेष-भाव हो जाता है। द्वेष-भाव क्रोध के दमन से और भी प्रबल हो जाता है। जब क्रोध का इस तरह दमन होता है तो वह सिर-दर्द के रूप में प्रगट

क्रोध और द्वेष

होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के साथ रहता है जो सदा उसकी नुकताचीनी करता रहता है, तो उसे सिर-दर्द और आँख की कमजोरी की बीमारी होने की संभावना रहती है। जितनी प्रबल द्वेष भावना रहती है, उतनी प्रबल ये बीमारियाँ भी होती हैं।

ऊपर हमने सिर दर्द के बीमारी के जो कारण बताए हैं, उन्हें जानकर सिर दर्द को बीमारी का उपचार सरलता से किया जा सकता है। जिन उपायों से हम अपनी चिन्ता, विरह, शोक और द्वेष के मनोभावों से मुक्त हो सकते हैं उनसे सिर दर्द की बीमारी का भी नाश किया जा सकता है।

आत्म-निर्देश के द्वारा विचार-विराम का अभ्यास मनुष्य को चिन्ताओं से मुक्त करता है। इसी तरह परोपकार में मन लगाने से भी चिन्ताएं नष्ट होती हैं। नियमित जीवन और मध्यम मार्ग का अनुसरण

सिरकी पीड़ा की चिकित्सा भी चिन्ता के विनाशक हैं। अपने जीवन में हमें मैत्री भावना का अभ्यास संयम की वृद्धि करना उचित है, किन्तु अप्राकृतिक जीवन में रहना हानिकारक है। विरह और शोक का अन्त वैराग्यभाव और धर्म-चर्चा से होता है। जिस मनुष्य के जीवन में जितनी अधिक सच्ची धार्मिकता रहती है वह उतना ही प्रसन्नचित्त और स्वस्थ रहता है। द्वेष-भाव का अन्त मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। मैत्री-भावना का नित्य-प्रति अभ्यास हमारी सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करता है। इससे उत्साह की वृद्धि होती है और शरीर आरोग्य रहता है।

प्रत्येक प्रकार के रोग के विनाश करने में हमारा रोग के प्रति दृष्टिकोण महत्व का काम करता है। किसी रोग को हमें व्यर्थ न समझना चाहिये। रोगी से मनुष्य को आध्यात्मिक लाभ होता है। जब मनुष्य

रोग के प्रति दृष्टिकोण बाहर की चिन्ताएँ अधिक करने लगता है तो वह शरीर की ओर ध्यान देना भूल जाता है। रोग मनुष्य को शरीर की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करता है। जब मनुष्य अपने शरीर की ओर ध्यान देने लगता है तो उसका रोग नष्ट हो जाता है। मानसिक विषमता की अवस्था को नष्ट करने के लिये रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक

विषमता शारीरिक रोग में प्रगट होती है। जब मनुष्य रोगी हो जाता है तो उसके बाहर के विचार खिंचकर अपने शरीर पर ही केन्द्रित हो जाते हैं। विचारों के इस प्रकार केन्द्रित हो जाने से रोग के नष्ट होने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में मनुष्य का मन ही उसके शरीर का निर्माता और उसका नष्ट करने वाला है। जब शरीर को आरोग्य बनाने का निश्चय मन कर लेता है, तब शरीर आरोग्य हो जाता है और जब वह उसे अस्वस्थ बनाना चाहता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। हम अपने स्वभाव अथवा सम्पूर्ण मन को भली प्रकार से न जानने के कारण अनेक प्रकार के कष्टों को भोगते हैं। अपनी शक्ति को या तो हम काम में नहीं लाते अथवा हम उसका अपव्यय करते हैं।

सिर की पीड़ा को शत्रु न मानकर हमें उसे अपना मित्र मानना चाहिये। अधिकतर सिर का दर्द आनेवाली किसी भयंकर बीमारी का सूचक होता है। वह हमें उस बीमारी के लिये आगाह करता है। यदि हम सावधान हो जावें तो फिर बीमारी अधिक न बढ़े।

रोगों को अपना शिक्षक और हितैषी मानना, उनसे उद्विग्नमन न होना, उनके विषय में निश्चिन्त हो जाना रोगों से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। व्यक्ति जितना ही अधिक अपने रोगों के विषय में चिन्तित रहता है और उनसे अति शीघ्र मुक्त हो जाने की इच्छा करता हैं, वह रोगों को उतनी ही देर तक ठहराये रहता है। यदि किसी प्रकार का भय रहते हुए मनुष्य अपने रोग से मुक्त होने की चेष्टा करता है अथवा अपने आपको किसी प्रकार का निर्देश देता है तो उसका परिणाम उलटा ही पड़ता है। उसका निर्देश प्रतिनिर्देश में परिणत हो जाता है, अर्थात् उसके आत्मनिर्देश से उसे लाभ न होकर हानि ही होती है। वास्तव में उसे विश्वास ही नहीं होता कि शुभ विचारों का कोई लाभ होता है, और उसकी यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि उसे किसी प्रकार का लाभ न होगा। अतएव आत्मनिर्देश से किसी प्रकार का लाभ उठाने के लिये पहले-पहल संसय और भय को नष्ट करना आवश्यक है। इसके लिये कूये महाशय सम्मोहन विधि का प्रयोग करते थे। किसी दूसरे प्रकार के अभ्यास से, जिससे चित्त की वृत्तियाँ स्थिर हों, वही परिणाम होता है जो कूये महाशय की सम्मोहन विधि से होता था। स्वासकर मन को एकाग्र करना, नाम का जप

करना, अथवा शून्य भावना, अथवा निद्रा में लीन हो जाना सभी सन्निर्देश के प्रभाव को बढ़ाते हैं।

आत्म-निर्देश के द्वारा जिस प्रकार दूसरी बीमारियाँ अच्छी की जा सकती हैं, उसी प्रकार सिर का दर्द भी अच्छा किया जा सकता है। इस प्रसंग में लेखक का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। कूये महाशय आत्म-निर्देश को प्रत्येक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग के छुड़ाने के लिए काम में लाते थे। लेखक ने उनके सिद्धान्तों को सिर की पीड़ा के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया है। यह प्रयोग अपने ही एक मित्र पर हुआ जो हाई स्कूल के अध्यापक हैं। ये मित्र बड़े ही सरल स्वभाव व्यक्ति हैं। वे अपने काम की धुन में सदा लगे रहते हैं। इनके पढ़ाने से लड़के लोग बहुत ही संतुष्ट रहते हैं। उन्हें पाँच-छः वर्ष पहले सिर की पीड़ा की बीमारी शुरू हुई। इसके पहले उन्हें आँख की भी बीमारी हो जाती थी। सिर की पीड़ा का आँख की बीमारी से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, अतएव वे आँख की चिकित्सा कराने लगे। पीछे उन्होंने चश्मा पहनना भी प्रारम्भ किया। इससे आँख में तो कुछ सुधार हुआ पर सिर की पीड़ा न गई। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उनके आँख के रोग का भी मानसिक कारण था। उन्होंने सिर-दर्द के लिये अनेक प्रकार की चिकित्साएँ कीं, जिनमें प्राकृतिक चिकित्सा भी थी। अपने एक मित्र ने उनको कहा कि सबेरे बाहर घूमने जाने से सिर की पीड़ा जाती रहेगी। सबेरे घूमने से पूरे शरीर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और जब पूरे शरीर का स्वास्थ्य सुधर जाता है तो सिर-दर्द भी चला जाता है। पर इस मित्र के कई महीनों तक लगातार घूमने जाने पर भी उसका सिर की पीड़ा न गई, अपितु और भी बढ़ती गई। इस पीड़ा का आध्यात्मिक कारण था।

आत्म निर्देश

यह मित्र कुछ दिन पहले लेखक के पास आया। लेखक ने उसे आत्म-निर्देश विधि का अभ्यास करने को कहा। उन्होंने अपने सब व्यसन छोड़ दिये; अपने-आपको जितना निश्चिन्त हो सका बनाने का पूरा यत्न किया। इसके पश्चात् घर के लोगों को कह दिया कि कोई भी व्यक्ति जब तक मेरी नींद अपने-आप न टूट जाय, सबेरे न जगावे। वे अब नौ बजे ही सोने लगे। सोते समय भले आत्म-निर्देश देकर सोना प्रारंभ किया। सब के प्रति सद्भावना लेकर सोना

और अपने-आपको स्वस्थ मानकर सोना, इन्हीं विचारों को जब तक नींद न आ जाय मन में दुहराते रहना, यह अभ्यास शारीरिक तथा मानसिक रोगों को नष्ट करने में अत्यन्त लाभदायक होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने "आनापान सति" का अभ्यास और उस समय अपने-आपको शिथिल अवस्था में छोड़ने का अभ्यास भी प्रारंभ किया। इसके परिणामस्वरूप उनके स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। अब न तो उन्हें कोई सिर की पीड़ा है और न किसी प्रकार का आँख का रोग है। जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि को इधर-दौड़ाते रहता है और अनेक प्रकार की चिन्ताएँ करते रहता है तब तक उसकी मानसिक उलझनें बढ़ती ही जाती हैं। जब मनुष्य अपने आपको सब के हितचिन्तक तत्त्व के ऊपर छोड़ देता है, और जब वह एक ऐसी सत्ता में विश्वास करने लगता है, जिसकी गति उसकी बुद्धि के परे है तो उसका स्वास्थ्य अपने-आप ही सुधरने लगता है। यह तत्व हमारे चेतन मन से पृथक् नहीं है, पर यह चेतन मन को पूरा ज्ञात भी नहीं है! जो लोग बुद्धगम्य तत्त्व के अतिरिक्त किसी भी दूसरी सत्ता को नहीं मानते वे सदा चिन्ताओं में ही अपना समय व्यतीत कर देते हैं। किन्तु किसी घटना के घटित होने में कुछ ऐसे कारण भी होते हैं जिन्हें हमारी बुद्धि जान नहीं सकती; अतएव बुद्धि के सामर्थ्य में विश्वास करनेवाला व्यक्ति अक्सर धोखा खाता है और अन्त में निराशवादी और रोगी हो जाता है। जटिल परिस्थितियों अथवा रोगों से मुक्त करने में जो तत्त्व काम करता है उसका सम्पूर्ण ज्ञान किसी व्यक्ति को होना संभव नहीं। इस निश्चय पर दृढ़ रहनेवाले व्यक्ति के हजारों रोग स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। *

नेत्र रोग

प्रत्येक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति तीन बातों में प्राकृतिक विषयों के उल्लंघन से होती है। ये तीन बातें —भोजन, आराम और व्यायाम है। जब मनुष्य इन बातों में किसी प्रकार के अतिक्रम को हटा देता है, उसके लिये प्रायश्चित्त करके फिर प्राकृतिक जीवन बिताने लगता है तो उसे स्वास्थ्य-लाभ हो जाता

* लेखक के उक्त मित्र बड़े सदाचारी और सच्चे व्यक्ति हैं। ये स्थानीय जयनारायण स्कूल में अध्यापन का काय कर रहे हैं।

नेत्र रोग के प्राकृतिक कारण

है। जब नेत्र-रोगों के विषय में विचार कर रहे हैं तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य का प्रभाव नेत्रों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि शरीर के दूसरे अंगों पर पड़ता है। प्रत्येक अंग के रोग का एक सामान्य कारण होता है जो शरीर के स्वास्थ्य पर निर्भर रहता है। रोग का विशेष कारण उस विशेष अंग के विषय में भोजन, व्यायाम और आराम के प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होता है। जिस भाँति सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिये भोजन की आवश्यकता होती है, उसी तरह नेत्र के लिये भी विशेष प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। व्यायाम और आराम के विषय में भी यही नियम लागू होता है। इन विषयों पर अब हम एक-एक करके विचार करेंगे।

उपचार—उचित भोजन

बहुत से नेत्र रोगियों को कब्जियत की बीमारी रहती है। उन्हें या तो भोजन ठीक से नहीं पचता या दस्त साफ नहीं होता। इसका कारण भोजन सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन है। अधिक भोजन करना, बेसमय से भोजन करना, अयोग्य वस्तुओं को खाना इसका कारण होता है। इससे पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है अथवा कोष्ठबद्धता हो जाती है। इस स्थिति को मिटाने के लिये पेट की सफाई और भोजन में नियमितता लाना आवश्यक है। कितने ही नेत्र रोगियों को सिर-दर्द होते रहता है। इसका मुख्य कारण पेट का विकार होता है। पेट की सफाई हो जाने पर यह दर्द चला जाता है और नेत्रों में भी सुधार होता है। पेट की सफाई के लिए समय-समय पर रेचन अथवा एनिमा का प्रयोग आवश्यक है। प्राकृतिक चिकित्सा में एनिमा का प्रयोग ही लाभकर माना गया है हमारी प्राकृतिक किन्तु अत्यधिक एनिमा का प्रयोग मल को बाहर निकालने की शक्ति को कम कर देता है। अतएव उसी समय पर एनिमा का प्रयोग करना चाहिये जब तक कि उसका प्रयोग करना अत्यावश्यक होता है। बच्चों को आँख की अनेक प्रकार की बीमारियाँ, जैसे आँख आना, रोहा हो जाना आदि पेट की सफाई न होने के कारण होती हैं। उनका पेट रेचन अथवा एनिमा के

द्वारा समय-समय पर साफ करते रहना आवश्यक है। नेत्र रोग की अवस्था में तो उनका पेट अवश्य ही साफ रखना चाहिये।

पेट की सफाई उपवास से भी होती है। उपवास से भोजन सम्बन्धी अनियमितता का परिहार होता है। उपवास के समय शरीर के विभिन्न स्नायुओं में ठसा हुआ मल अथवा जहर बाहर निकल जाता है। इससे शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। नाड़ियों और नसों में मलरूपी जहर की उपस्थिति के समय उनकी कार्य करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। जब सब नाड़ियों में स्फूर्ति आती है तो आँख की पेशियाँ भी अपना काम ठीक से करने में असमर्थ होती हैं। हेनरी बैंनिजम महाशय ने अपनी नेत्र की प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तक "बेटर आई साइट विदाउट ग्लासेस" में नेत्र रोग को दूर करने के लिये उपवास की महत्ता दर्शाई है। पेट की सफाई और उपवास स्वास्थ्य लाभ के निषेधात्मक साधन हैं। योग्य भोजन करना भी नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिये आवश्यक है। नेत्र-रोग से मुक्ति पाने के लिये अपने भोजन में फल, दूध और शाकादि को हमे बढ़ाना पड़ेगा; वरिष्ठ भोजन और मसालों को दूर रखना होगा। सभी प्रकार के रोगियों का भोजन ऐसा होना चाहिये जो सरलता से पच जाय। यह नेत्र-रोग के लिये भी लागू है। भोजन पाँच-पाँच घन्टे के अन्तर से करना चाहिए, नहीं तो वह ठीक से हजम नहीं होता।

जिस प्रकार रोग से मुक्ति के लिये सारे शरीर के भोजन सुधार की, आवश्यकता है, उसी तरह नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिये नेत्र के विशेष आहार में सुधार होने की आवश्यकता है। नेत्र-रोग जितना शहर में रहनेवाले लोगों को होता है उतना ग्रामीण लोगों को नहीं होता। इसका एक कारण शहर के लोगों का अपने नेत्रों का दुरुपयोग करना तो है ही, किन्तु उन्हें योग्य वस्तुओं को देखने को न मिलना भी नेत्र-रोग का कारण होता है। प्राकृतिक दृश्य नेत्र के देखने की शक्ति की वृद्धि करते हैं। हरियाली, पशु-पक्षी का चलना-फिरना देखना नेत्र की शक्ति को बढ़ाता है। किसी भी सजीव और सुन्दर पदार्थ को देखने से नेत्र की शक्ति बढ़ती है। इसके प्रतिकूल निर्जीव, मन को अप्रसन्न बनाने वाले काले-काले घरों और फैक्टरियों को देखने से नेत्र की शक्ति का ह्रास होता है। वास्तव में शहरी जीवन एक ऐसा जीवन होता है जिसमें मन में खिन्नता लाने

वाले दृश्य ही अधिक होते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे अपनी आत्मा की तादात्म्यता की अनुभूति आस-पास के दृश्य के साथ करता है, उसकी सभी प्रकार की शारीरिक व मानसिक शक्तियों का विकास होता है, और वह जितना ही अपने विशेष प्रकार के कामों में चिन्ता से मग्न रहने के कारण बाह्य जगत को अपने को पृथक् करता है, उसकी सभी शक्तियों का ह्रास होता है। हमारी शारीरिक शक्तियाँ प्रकृतिदत्त हैं। उनका जीवन भी प्रकृतिमय है। जैसे-जैसे हम प्रकृति से अपने आपको अलग करते हैं अपना विनाश करते हैं। नेत्र के रोगी के लिये आवश्यक है कि वह देहात में रहने का आयोजन बना ले और अपना अधिक-से-अधिक समय खेत में काम करने, प्राकृतिक दृश्य देखने में व्यतीत करे।

जिस प्रकर प्राकृतिक दृश्य-दर्शन से नेत्र की शक्ति बढ़ती है, उसी तरह नन्हें-नन्हें बालकों को कलोल करते हुये देखने से भी नेत्र की शक्ति बढ़ती है।

प्राकृतिक दृश्य

यदि हम ऐसे वातावरण में रहें जहाँ हमारी देखने की इच्छा स्फुरित होती है तो हमारी दर्शन-शक्ति बढ़ती है। इसके प्रतिकूल अप्रिय वातावरण में अधिक काल रहने से नेत्र की शक्ति का विनाश हो जाता है। स्वास्थ्य लाभ के लिये योग्य व्यायाम की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि योग्य भोजन की, नेत्रों के स्वास्थ्य लाभ के लिए समस्त शरीर के व्यायाम के साथ-साथ नेत्रों को विशेष प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता होती है। हमारा शारीरिक व्यायाम दो प्रकार का होता है। पहला वह जो आजीविका सम्बन्धी कामों के करने में अपने आप हो जाता है और दूसरा वह जिसके लिए हम विशेष प्रयास करते हैं। आजीविका सम्बन्धी व्यायाम करने में जो नेत्रों का व्यायाम होता है वह अनियमित रहने के कारण प्रायः हानि-प्रद होता है। बहुत से लोग अपने नेत्रों से देखने की शक्ति को समय के पूर्व ही खो देते हैं। क्योंकि वे अपने नेत्रों का दुरुपयोग करते हैं। आज-कल पुस्तक पढ़ने का व्यसन बहुत बढ़ गया है। मनुष्य मनोरञ्जन, आजीविका कमाने और ज्ञानोपदेश—सभी कामों के लिए पुस्तक की शरण लेता है। कितनी ही पुस्तकें बड़े बारीक टाइप में लिखी रहती हैं। इनको लगातार पढ़ते रहने के कारण आँखों की साधारण देखने की शक्ति चली जाती है और उन्हें चश्मा लगाना पड़ता है। चश्मा लगाने से अन्धपन

में सुधार न होकर वह स्थायी हो जाता है। पुस्तक पढ़ने में अधिक समय व्यतीत करने से कम उमर के बालकों को मायोपिया का रोग हो जाता है। शहरों में बहुत से सिनेमा-घर रहते हैं। इनमें बिजली के प्रकाश से हमें अनेक प्रकार के दृश्य दिखाये जाते हैं। जिन बालकों अथवा प्रौढ़ व्यक्तियों को सिनेमा देखने की बान पड़ जाती है उन्हें प्रायः चश्मे लगाने पड़ते हैं। बिजली के प्रकाश में अधिक देर तक पढ़ने लिखने का काम करते रहने से नेत्र की शक्ति का विनाश हो जाता है।

जिन लोगों की देखने की शक्ति का ह्रास हो गया है उन्हें नेत्र सम्बन्धी विशेष प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता है। हेनरी वेंजिमन महाशय ने इन व्यायामों को भली भाँति अपनी उपर्युक्त पुस्तक नेत्र सम्बन्धी व्यायाम में दर्शाया है। इन व्यायामों का एक लक्ष्य नेत्र सम्बन्धी स्नायुओं में स्फूर्ति उत्पन्न करना होता है। ये व्यायाम मायोपिया के रोगों को दूर करने में विशेष लाभकर सिद्ध हुए हैं। मायोपिया के रोग में आँख की वे पसलियाँ जो आँख के गोलक के ऊपर अपना नियन्त्रण रखती हैं और जो आँख के रेटिना को आँख के लेंग्स के समीप अथवा दूर लाकर वाह्यपदार्थ की योग्य प्रतिभा प्राप्त करने में सहायता देती हैं अक्रिय हो जाती हैं। जब योग्य व्यायाम के द्वारा गति-सञ्चार किया जाता है तो आँख के गोलक पर नियन्त्रण करने की मनुष्य की शक्ति बढ़ जाती है और उस तरह आँख की दर्शन शक्ति में भी उन्नति होती है। आँख के व्यायाम करने में आँख का मिचमिचाना, पुतली को ऊपर नीचे करना, तिरछे-दायें-बायें देखना, दूर के पदार्थ पर दृष्टि लगाना, विशेषकर लाभकारी होता है। इसके अतिरिक्त गर्दन की नसों के व्यायाम से भी आँख की दर्शन-शक्ति बढ़ती है। प्राकृतिक चिकित्सा पुस्तक पढ़ने को नहीं रोकती, किन्तु नियमित रूप से पढ़ने की आवश्यकता दर्शाती है। जहाँ तक हो सके, पढ़ने-लिखने का काम दिन को ही करना चाहिए। किरासन तेल की सहायता से अथवा बिजली की सहायता से पढ़ने से आँख कमजोर हो जाती है। पढ़ते समय बीच-बीच में आँख को मिचमिचाना चाहिए और कभी-कभी आँख बन्द करके बैठ जाना चाहिए।

नेत्र के स्वास्थ्य लाभ का तीसरा उपाय आराम है। हमारे दिन भर के काम करने से हमारी जो शक्ति खर्च होती है उसकी पूर्ति आराम के समय होती है। यदि मनुष्य को योग्य आराम न मिले तो चाहे वह कितना ही अच्छा भोजन क्यों न करे, व्यर्थ जाता है। आराम दो प्रकार का होता है—एक निद्रा का, दूसरा जागृतावस्था का। कितने ही लोग कई घन्टों तक बिस्तर पर पड़े रहने पर भी निद्रा का वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त करते।

आराम

पहले तो उन्हें बहुत देर तक नींद ही नहीं आती और यदि झपकी लग ही जाय तो वे बड़े भयंकर स्वप्न देखने लगते हैं। इसका कारण उनके मन में चलते रहनेवाले अभद्र विचार और प्रबल भावनाएँ रहती हैं। भली भाँति सोने के लिए इन विचारों और भावनाओं से मुक्त होना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य कोई चिन्ताजनक विचार लेकर सो जाता है तो वह सोकर उठते समय नई स्फूर्ति का अनुभव नहीं करता, वह थकावट और मानसिक चिन्ता का अनुभव करता है। मनुष्य जिन विचारों को लेकर सोता है, वे उसकी सुप्तावस्था में चलते रहते हैं और मनुष्य का सोकर उठकर प्रसन्नता अथवा खिन्नता का अनुभव करना इन विचारों के गुणों पर निर्भर करता है। आशावादी मनुष्य को सब लोगों के प्रति सद्भावना के विचार लेकर सोना स्वास्थ्य प्रदान करता है। समस्त शरीर के स्वास्थ्य के साथ-साथ नेत्र का स्वास्थ्य भी बढ़ जाता है।

नेत्रों के लिए इसके अतिरिक्त विशेष आराम की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए मनुष्य को आँख मूँद कर और सब अंगों को शिथिल करके आरामकुर्सी पर बैठ जाना चाहिए अथवा शवासन में पड़ जाना चाहिए। अपने आँख के सामने आनेवाले अन्धकार के ऊपर ही अपने ध्यान को जमाना चाहिए। इस तरह का अभ्यास प्रतिदिन दस पन्द्रह मिनट दो तीन बार करने से आँख की ज्योति बढ़ जाती है। हेनरी बेंजिमिन महाशय ने इस प्रकार के अभ्यास को बड़ा लाभकर बताया है।

प्रत्येक शारीरिक रोग के एक भौतिक और दूसरे मानसिक कारण होते हैं। नवीन मनोविज्ञान की खोजें प्रति दिन यह सिद्ध कर रही हैं कि हमारे

बहुत से शारीरिक रोगों के कारण मानसिक होते हैं और प्रत्येक शारीरिक रोग में भौतिक कारण के अतिरिक्त मानसिक कारण अवश्य रहता है। हमारे मन के भाव हमारे शरीर पर अवश्य प्रभाव डालते हैं। उत्तम भाव स्वास्थ्य की वृद्धि करते हैं और अनुत्तम भाव उसका विनाश करते हैं जो नियम सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य के विषय में लागू होता है, वह उसके किसी विशेष अंग के विषय में भी लागू होता है। हमारे मन के कुछ ऐसे अवाञ्छनीय भाव हैं जो नेत्र के स्वास्थ्य को विशेष हानि पहुँचाते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, शोक और चिन्ता नेत्र की दर्शन-शक्ति के विनाशक हैं। ऐसे तो हमारा साधारण विचार इस प्रकार की धारणा का समर्थक है हीं, आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें इसे योग्य दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित कर रही हैं। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय हैं।

नेत्र रोग के मानसिक कारण

क्रोध के द्वारा किस तरह मनुष्य अन्धे हो जाते हैं, इसका एक अच्छा उदाहरण ब्राउन महाशय की 'ले एनालेसिस' नामक पुस्तक में पाया जाता है। एक प्रतिष्ठित धनी व्यक्ति की स्त्री व्यभिचार करने लगी। इसका ज्ञान धनी मनुष्य को हो गया। वे अपनी स्त्री के इस आचरण पर बहुत क्रुद्ध हुए किन्तु अपने क्रोध को प्रकाशित न कर सके। वे उसे तलाक देना चाहते थे। किन्तु अपनी पत्नी के तलाक देने से उनकी समाज में बनी प्रतिष्ठा के नष्ट होने की सम्भावना थी। वे अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट नहीं करना चाहते थे। अब तो वे मन ही मन जलने लगे। थोड़े ही दिनों में वे अन्धे हो गए।

क्रोध का दमन

उक्त उदाहरण में प्रतिष्ठित व्यक्ति का मन उस व्यभिचारिणी पत्नी के मुँह को नहीं देखना चाहता था। उसका मुँह देखने से उसे बड़ा दुःख होता था। किन्तु वह इसे रोक भी नहीं सकता था। जिस बात से बचने का रास्ता उस व्यक्ति की साधारण बुद्धि नहीं खोज सकती थी, उससे बचने का मार्ग उसके अचेतन मन ने खोज लिया।

हाल ही में लेखक ने एक परिवार के दो ऐसे व्यक्तियों को देखा जिन्हें

सदा किसी न किसी प्रकार का रोग रहा ही करता था। इन्हें नेत्र-रोग विशेषकर पीड़ा देता था। ये दोनों एक दूसरे को नहीं चाहते थे। तिस पर भी दोनों को साथ-साथ रहना पड़ता था। नेत्र रोग के विषय में खोज करने में पता चला कि उनका आपस का विरुद्ध सम्बन्ध ही उनके रोग का प्रधान कारण है। उन सास-बहुओं में परस्पर अनबन रहती है और तिसपर भी उन्हें साथ रहना ही पड़ता है। इसीसे उन्हें अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को दबकर रहना पड़ता है, उसे विशेषकर अधिक रोग होते हैं।

ईर्ष्या

ईर्ष्या के कारण भी नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब हम दूसरे का बड़प्पन नहीं देख सकते और उन्हें किसी प्रकार की हानि भी नहीं पहुँचा सकते तो हम अपने स्वास्थ्य का ही विनाश कर लेते हैं। जैसे-जैसे संसार में प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का भाव बढ़ता जाता है, नेत्ररोगों की वृद्धि होती जाती है। जिस व्यक्ति से हम ईर्ष्या करते हैं, उसे नहीं देखना चाहते और जब हम उसको अपनी दृष्टि से अलग करने में असमर्थ रहते हैं तो अपनी दर्शन-शक्ति का ह्रास कर देते हैं।

लेखक के एक मित्र हाल ही में अपनी नौकरी से नेत्र-रोग के कारण छुट्टी लेकर आए। उन्होंने नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए अनेक प्रकार के उपचार किए। अन्त में उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की शरण ली। जिस समय वे अपनी प्राकृतिक-चिकित्सा करा रहे थे, लेखक से उनकी भेंट हुई। उनसे नेत्ररोग के विषय में पूँछ-ताँछ करने से पता चला कि जब वे नौकरी पर जाते हैं तब उनका नेत्र-रोग बढ़ जाता है और जब वे घर आते हैं तब उनका नेत्र-रोग अच्छा होने लगता है। उनके जीवन की कुछ और बातें सुनकर लेखक को निश्चय हुआ कि उनका आन्तरिक मन उस स्थान में नहीं रहना चाहता जहाँ वे नौकरी किए थे। किन्तु वे अपनी नौकरी भी नहीं छोड़ सकते थे। नेत्र-रोग की बीमारी उन्हें नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य कर रही थी। वास्तव में उनके साथी आफिसर उन्हें अप्रिय थे। लेखक ने उन्हें नौकरी छोड़ने की सलाह दी।

नौकरी छोड़ने पर अपने नेत्र-रोग से शीघ्रता से मुक्त हो गए। प्राकृतिक चिकित्सा ने नेत्रों को स्वास्थ्य-प्रदान करने में अपना काम अवश्य किया, किन्तु अनुकूल मानसिक परिस्थिति के अभाव में यह चिकित्सा निष्फल हो जाती थी।

शोक

शोक के कारण नेत्र को जितनी आकस्मिक हानि पहुँचती है उतनी दूसरे किन्हीं कारणों से नहीं पहुँचती। बहुत से व्यक्ति अपने निकटतम सम्बन्धियों के मर जाने पर अन्धे हो जाते हैं। बहुत-सी माताएँ तथा पिता पुत्र-शोक में एका-एक अन्धे हो जाते हैं। लेखक के एक वयोवृद्ध मित्र ने अपने जीवन में देखी हुई एक घटना का वर्णन किया जो उल्लेखनीय है।

कानपुरनिवासी दीनदयाल तिवारी नामक एक सज्जन का एकलौता लड़का, जो वकील हो चुका था, एक आकस्मिक दुर्घटना से रास्ते में गिरकर मर गया। इसकी खबर उनके पिता को सवेरे मिली। पिता उस स्थान पर आए जहाँ पर उस लड़के का शव पड़ा था। शव के देखते ही उनको बड़ा मानसिक धक्का लगा और वे जन्मभर के लिए अन्धे हो गए।

चिन्ता

चिन्ता के कारण भी नेत्र-रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चिन्ता से पहले बदहजमी होती है। इससे फिर रक्त और नाड़ियों में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर की सभी क्रियाओं की गति मन्द हो जाती है। निद्रा कम आने लगती है। इस सबके कारण नेत्र की देखने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। नेत्र की दर्शन-शक्ति नेत्र की पसलियों और नाड़ियों के ठीक से काम करने के ऊपर निर्भर रहती है। चिन्ता के कारण ये नाड़ियाँ जकड़ जाती हैं और अपना काम ठीक से नहीं करतीं। इससे दर्शन-शक्ति में कमी हो जाती है। प्राकृतिक-चिकित्सा के द्वारा नेत्र की दर्शन-शक्ति में सुधार होता है। प्राकृतिक-चिकित्सा करते समय नेत्रों का विशेष प्रकार का व्यायाम करना पड़ता है। यदि हम इस व्यायाम के मानसिक पहलू

को देखें तो हम इसे चिन्ता से मुक्त करने की एक विशेष प्रकार की विधि पावेंगे। किसी भी प्रकार का शारीरिक व्यायाम तब तक स्वास्थ्यकर नहीं होता जब तक कि उसे निश्चिन्त होकर नहीं किया जाता। शारीरिक व्यायाम मानसिक शिथिलता अथवा उपराम प्राप्त करने की विधि है।

नेत्रों के मानसिक कारण जानकर बहुत से जटिल नेत्र-रोगों का उपचार सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि हम प्राकृतिक-चिकित्सा के साथ-साथ नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए मानसिक चिकित्सा भी करें तो हमें बड़ी शीघ्रता के साथ सफलता मिले। प्राकृतिक-चिकित्सा करते रहना नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए आवश्यक है।

नेत्र रोग का उपचार

किन्तु इसी को सम्पूर्ण चिकित्सा मान लेना भूल है। अपने रोगों से मुक्त होने के लिए अपने मनोभावों को सुधारना उतना ही आवश्यक है, जितना कि शरीर की क्रियाओं का सुचारु रूप से सञ्चालन। जिन मनोभावों से नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं उनके विरोधी मनोभावों का रोगी से अभ्यास कराना उसे स्वास्थ्यलाभ कराने में सहायक होता है। क्षमा, उदारता, वैराग्य और संतोष क्रमशः क्रोध, ईर्ष्या, शोक और चिन्ता के विनाशक हैं। इन भावों का अभ्यास करने से मनुष्य के नेत्रों की शक्ति की वृद्धि होती है। इस अभ्यास की विशेष प्रक्रिया है। किन्तु इस प्रक्रिया के अज्ञान की अवस्था में किसी भी प्रकार से भी उनका अभ्यास करना लाभदायक होता है। सोते समय मनुष्य को निश्चिन्त होना और सबके प्रति सद्भावना करना नेत्रों के रोगनिवारण के लिए विशेष लाभकारी होता है। सोने के समय हमारे शरीर के स्नायुओं का निर्माण होता है और हमारी सद्भावना इस निर्माण में महत्व का काम करती है।

क्षयरोग

क्षयरोग वैद्यों द्वारा असाध्य शारीरिक रोग समझा जाता है। क्षयरोग का उपचार उसकी पहली अवस्था में होना संभव है, दूसरी अवस्था में पहुँचने पर बड़ा कठिन है और तीसरी अवस्था में पहुँचने पर असंभव समझा

क्षयरोग के विषय में सामान्य धारणा

जाता है। क्षयरोग छूत का रोग है। जिस रोगी को क्षयरोग होता है उसे स्वस्थ्य लोगों से दूर रखा जाना आवश्यक समझा जाता है। क्षयरोग का कारण आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार कुछ कीटाणु होते हैं। ये कीटाणु शरीर में पहुँचकर वृद्धि करने लगते हैं। जिस शरीर में साधारण जीवन की क्रियायें ठीक से नहीं होतीं उसे क्षयरोग हो जाया करता है। डाक्टर और वैद्य लोग क्षयरोग से बचने के लिये मनुष्य का खुली आबहवा में रहना, ऐसे मकान में रहना जहाँ सूर्य की किरणें पर्याप्त पड़ती हों, आवश्यक समझते हैं। सूर्य की किरणों से क्षयरोग के कीटाणु मर जाते हैं। फलाहार भी क्षयरोग को रोकने में लाभदायक होता है।

क्षयरोग के साधारण चिकित्सक न तो क्षयरोग के मानसिक कारण पर ही विचार करते हैं और न मानसिक उपचार पर ध्यान देते हैं। आधुनिक

क्षयरोग का मानसिक कारण

मनोविज्ञान की खोजों से यह निश्चित हो रहा है कि हमारे अनेक शारीरिक रोगों का मानसिक कारण होता है। रोग का शारीरिक कारण तो होता ही है पर मानसिक कारण के अभाव में शारीरिक कारण उतना भयानक परिणाम नहीं उत्पन्न करता। क्षयरोग का एक प्रधान मानसिक कारण आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति है। जो मनुष्य किसी कारण-वश अधिक पश्चात्ताप करते रहते हैं अथवा अपने आपको कोसते रहते हैं; जिनके जीवन में उत्साह की कमी होती है, जो अपने व्यवसाय को पसंद न करते हुए उसमें लगे रहने के लिये बाध्य होते हैं, उन्हें दमा अथवा क्षय रोग हो जाने की संभावना रहती है। इन दोनों रोगों का प्रतिकूल परिस्थति में रहने से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

आत्म-भर्त्सना

कितने ही नवयुवक और नवयुवतियों को क्षयरोग इसलिये होता है कि वे अपने आप को किसी कारणवश कोसने लग जाते हैं। किशोरासम्बन्धी कुकृत्यों के कारण आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति वस्था में कामवासना उत्पन्न हो जाती है। यह आत्मग्लानि की भावना कितने ही बालकों में

क्षयरोग का कारण बन जाती है। बालकों में हस्थमैथुन की आदत भी क्षयरोग का कारण होती है। इस आदत से शारीरिक क्षति उतनी नहीं होती जितनी कि मानसिक क्षति होती है। आत्मग्लानि से ही क्षयरोग की जड़ जम जाती है। आत्मग्लानि से पीड़ित व्यक्ति निकम्मा हो जाता है। उसमें अच्छे काम करने का उत्साह नहीं रहता। वह अपने सभी कामों में विफल होने लगता है और उसे सभी काम भाररूप ढोने पड़ते हैं। अतएव यदि बालकगण अपनी कामकुचेष्टाओं से बचाये जा सकें तो उनकी न तो मानसिक प्रसन्नता नष्ट हो और न वे असाध्य मानसिक रोगों के शिकार बनें।

प्रतिकूल वातावरण

प्रतिकूल वातावरण में पड़ जाने से भी क्षय रोग उत्पन्न हो जाता है। लेखक का एक मित्र ऐसे काम में लग गया जिसे वह छोड़ना चाहता था, पर छोड़ नहीं सकता था। जिस स्थान पर वह रहता था वहाँ से वह चला जाना चाहता था। पर वह जा नहीं सकता था। उसके विचार धीरे धीरे निराशावादी हो गए, पीछे उसे क्षय रोग हो गया। इसी तरह कितने ही लोग अपनी रुचि के अनुसार रोजगार न पाने पर क्षय रोग से पीड़ित हो जाते हैं। इसी प्रकार जब स्त्रियों को मन माना पति नहीं मिलता अथवा वे किसी ऐसे घर में विवाहित होती हैं जहाँ उनको घर के सभी लोग तंग करते रहते हैं तो उन्हें क्षय रोग हो जाता है। नपुंसक पुरुष से विवाहित हो जाने से भी बहुत सी कुलीन घराने की युवतियों को क्षय रोग हो जाता है। जब मनुष्य के जीवन की आशाओं के फलित होने की संभावना नहीं रहती तो उसे कोई ऐसा रोग पकड़ लेता है जिससे उनके शरीर का अन्त हो जाता है।

मनुष्य को क्षय रोग तब तक नहीं होता जब तक कि उसके प्रतिकूल उसकी शारीरिक और मानसिक परिस्थिति नहीं होती। क्षय रोग के कीटाणु सदा वातावरण में रहते हैं और यदि इन कीटाणु के शरीर में प्रवेश कर जाने से ही क्षय रोग हो जाता तो आज दिन तक संसार में कोई मनुष्य जीवित ही न बचता। पर ये कीटाणु तभी घातक होते हैं, जब कि वे

मनुष्य के शरीर में उचित भूमि पाते हैं । दूसरे यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि क्षय रोग इतना व्यापक रोग नहीं हैं जितना कि वह समझा जाता है। अनेक अनुभवी डाक्टरों का कथन है कि संसार के अधिक लोगों को क्षयरोग होता है, किन्तु क्षय रोग से प्रायः सभी लोग बच जाते हैं। क्षय रोग से वही लोग मरते हैं जिनका शरीर दूसरे कारणों से निर्बल हो जाता है। यदि मनुष्य का शरीर निर्बल न हो तो उसे क्षय रोग के कीटाणु घातक सिद्ध न हों। पौष्टिक भोजन,खुली हवा और सूर्य की रोशनी में रहने से रोग नष्ट हो जाता है। क्षय रोग से आक्रान्त हजार में एक व्यक्ति की मृत्यु होती है।

क्षय रोग का निवारण आत्म-निर्देश

क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि यह न बताया जाय कि उसे क्षय रोग हुआ है और यदि उससे क्षय रोग असाध्य रोग न कहा जाय तो उसका भारी कल्याण हो। जब क्षय रोग के रोगी को यह कह दिया जाता है कि उसे क्षय रोग हो गया है तो वह हतोत्साह हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसका रोग से बचना कठिक हो जाता है। लेखक एक ऐसे रोगी को जानता है जिसे क्षय रोग था, पर उसे बताया नहीं गया। जब एक प्रतिष्ठित वैद्य ने उससे कह दिया कि तुम्हें क्षय रोग हो गया है तो उसी समय से उसका उठना-बैठना असंभव हो गया। इसी रोगी को प्रतिनिर्देश के द्वारा क्षय की बीमारी से मुक्त किया जा सका। पीछे लोगों ने यही कहा कि उसका रोग भ्रम मात्र था। लेखक को एक पञ्जाबी नवयुवक एक बार रेल में मिला। वह फौज का अफसर था। वह बड़ा हट्टा-कट्टा था। उसने अपनी जीवनी बताते हुए कहा कि मुझे क्षय रोग हो गया था और मैं एक प्रसिद्ध क्षय रोग के सेनेटोरियम में दो साल रह चुका हूँ। जब वहाँ के डाक्टरों ने मेरे बचने की कोई उम्मेद न देखी तो मुझे वहाँ से भेज दिया। घर पर आकर मैं एक बगीचे में रहने लगा। यहाँ मैंने स्वामी विवेकानंद के लेख पढ़ना प्रारंभ किया और अपने विचारों में इस प्रकार पूरा परिवर्तन कर डाला। मैं धीरे-धीरे आत्मनिर्देश के द्वारा उस घातक रोग से एकदम मुक्त हो गया।

लेखक का एक फूफेरा भाई भी एक बार क्षय रोग से पीड़ित था। उसकी अंतिम घड़ियाँ आ चुकी थीं। फिर उसके मन में संकल्प आया कि यदि मैं बच जाऊँगा तो अपना जीवना भगवान के भजन में व्यतीत करूँगा। धीरे-धीरे वह उस रोग से मुक्त हो गया और आज दिन तक स्वस्थ होकर अपना काम कर रहा है।

क्षय रोग को भयानक रोग न समझना उससे मुक्त होने का एक उपाय है। जो लोग क्षय रोग को असाध्य कहकर डरावना बना देते हैं वे क्षय रोग से प्राणान्त करनेवालों की संख्या बढ़ाते हैं। कहा जाता कि स्विट्जरलैंड में यूरोप के सभी क्षय रोग के बीमार मनुष्य स्वास्थ्यलाभ करने जाते हैं और वहाँ के प्रायः सभी निवासियों को क्षय रोग होता है। पर इसके कारण वे लोग मर नहीं जाते। कुछ डाक्टरों का कथन है कि क्षयरोग प्रत्येक मनुष्य को होता है। ८ वर्ष, १३ वर्ष, १९ वर्ष, २५ वर्ष और ४० वर्ष की अवस्था में क्षणरोग का एक बार आक्रमण होता है। इसे साधारण डाक्टर पहचान नहीं पाते। जिस व्यक्ति को पहली अवस्था में क्षय रोग हो जाता है वह आगे चलकर, (जब उसे क्षय रोग का आक्रमण होता है तो) उसका सफलतापूर्वक सामना करता है। जिस व्यक्ति को पहले क्षय रोग नहीं हो पाता वही आगे चलकर (जब उससे पीड़ित होता है तो) अधिक हानि पाता है। क्षय रोग से बचे हुए डाक्टर को ही प्रायः क्षय रोग के अस्पताल में रखते हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति को यह रोग एक बार हो चुकता है उसे उसकी छूत नहीं लगती।

रोग के प्रति दृष्टिकोण

क्षय रोग से बचने का एक उपाय अपने जीवन को परोपकार में लगा देना है। जो व्यक्ति अपने जीवन को जितना ही अधिक परोपकार में लगाता है वह अपने मन का बल उतना ही अधिक बढ़ाता है। निर्बल मन रोग का आवाहन करता है और सबल मन रोग का विनाश करता है। जिस प्रकार की बीमारी मनुष्य को हो, यदि वह उस बीमारी के विषय में चिन्तित न होकर उसी प्रकार की बीमारी पी- से

मैत्री-भावना का अभ्यास

ड़ित दूसरे व्यक्ति की सेवा करने लग जाय तो उसकी अपनी बीमारी नष्ट हो जाय। अपने आपके विषय में चिन्ता करने से रोग अधिक बढ़ता है, दूसरों के विषय में चिन्ता करने से रोग का विनाश होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक निस्वार्थबुद्धि से दूसरे रोगियों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक उनको स्वस्थ बनाने में सफल होता है, क्योंकि उसमें दूसरे के मन में सद्विचार उत्पन्न करने की उतनी ही अधिक शक्ति हो जाती है मनुष्य के रोग का उपचार वास्तव में उसके डाक्टर नहीं करते, वह स्वयं आत्मनिर्देश के द्वारा अपना उपचार करता है। इसके लिये विचारों की शुद्धि होना आवश्यक है और जिस व्यक्ति के अपने विचार शुद्ध हैं वह दूसरों के विचार भी शुद्ध कर सकता है।

अनिद्रा

किसी प्रकार की प्रबल मानसिक उत्तेजना के दमन से अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। अनिद्रा की बीमारी का घनिष्ठ सम्बन्ध क्रोध के दमन से है। जब मनुष्य अपने क्रोध को प्रकाशित नहीं कर पाता तो वह अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न करता है। क्रोध का प्रकाशन दो कारणों से रुकता है—एक वातावरण के अनुकूल न होने के कारण और दूसरे अपनी नैतिक बुद्धि के कारण। जब किसी कारण से क्रोध का अवरोध होता है तो वह अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न कर देता है।

अनिद्रा का मानसिक कारण

अनिद्रा की बीमारी स्वभावतः क्रोधी व्यक्तियों को उतनी नहीं होती जितनी क्रोध न करनेवाले व्यक्तियों को होती है। क्रोध न करनेवाले व्यक्तियों के मन में क्रोध अवश्य आता है, पर वे उसका प्रकाशन नहीं करते। ऐसी अवस्था में यह क्रोध अपने ऊपर ही आरोपित हो जाता है और अनेक प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक बीमारियों में प्रकाशित होता है।

क्रोध और अनिद्रा

लेखक के एक विद्यार्थी को अपने ससुर से क्रोध हो गया था। उसकी समझ से वे उसका समादर नहीं करते थे। इससे उसे अनिद्रा की बीमारी

हो गई। अनिद्रा की बीमारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की परिचायक है। इस अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य को मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है और उसे किसी प्रकार की झक उत्पन्न हो जाती है। जिन व्यक्तियों की आत्म-सम्मान की भावना प्रबल होती है उन्हें जितनी अनिद्रा की बीमारी होती है उतनी दूसरे लोगों को नहीं होती। आत्म-सम्मान की प्रबल भावना के व्यक्ति को क्रोध भी अधिक आता है और वह क्रोध का दमन भी अधिक करता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को अनिद्रा तथा अन्य मानसिक रोग भी होते हैं।

बहुत से सुशील व्यक्तियों को अनिद्रा का मानसिक रोग होते दिखाई देता है। इसका कारण उनके भीतरी मन में चलनेवाली क्रियायें हैं। सुशील व्यक्ति अपने क्रोध को छिपाने की चेष्टा करता है। वह किसी पर क्रोध आ जाने पर अपने आपको कोसता है। ऐसी अवस्था में उसका मानसिक द्वन्द्व प्रत्यक्ष मन पर न चलकर भीतरी मन में चलने लगता है और उसकी निद्रा भंग होने लगती है। यदि ऐसे व्यक्ति को नींद आती है तो वह भयंकर स्वप्नों को देखता है।

लेखक के एक मित्र उच्च अधिकारी हैं। बड़े सुशील व्यक्ति हैं। इन्हें अपनी स्वप्नावस्था में भयंकर स्वप्न आते हैं और इन स्वप्नों के कारण नींद भंग हो जाती है। इसके बाद उन्हें नींद नहीं आती। इसी प्रकार लेखक की एक छात्रा, अपने-आपको किसी प्रकार के दुराचरण के लिये बहुत कोसती रहती थी। वह नहीं चाहती थी कि किसी प्रकार के क्रोध के विचार उसके मन में अपने शत्रु के प्रति भी आवें। उसे क्षय रोग की झक सवार हो गई थी। पूछताछ करने पर पता चला कि उसे नींद भी कम आती है। लेखक के एक ट्रेनिंग कालेज के छात्र को विशेष प्रकार का गर्दन का दर्द था। इस दर्द का मानसिक कारण था। निर्देशविधि के द्वारा इसका उपचार किया गया। पीछे पता चला कि उन्हें नींद न आने की भी बीमारी है। उनकी नींद जल्दी से टूट जाती है। इन्हें मैत्रीभावना का अभ्यास करने की सलाह दी गई। इससे इनकी यह बी-मारी जाती रही। इस परिणाम से यह निश्चित हुआ कि ये विद्यार्थी, जो

देखने में बड़े ही शान्तभाव के थे, अपने क्रोध को सदा दबाते रहते थे। इसीके परिणामस्वरूप उन्हें यह रोग उत्पन्न हो गया था।

प्रबल मनोवेगों के रोके बिना मनुष्य की न तो भौतिक और न आध्यात्मिक उन्नति होती है, किन्तु सभी प्रकार की मानसिक बीमारियाँ और अपराध की मनोवृत्तियाँ भी इसीसे उत्पन्न होती हैं। जब मनुष्य अपने मनोवेगों को कुशलता से रोकता है तो उसकी उन्नति होती है और जब उसके रोकने में किसी प्रकार की अकुशलता कर देता है तो अपना और दूसरों का विनाश कर डालता है। शक्ति का संचय उसके अवरोध से ही होता है। संचित शक्ति मनुष्य की उन्नति कर सकती है अथवा उसका विनाश कर सकती है।

जिस प्रकार क्रोध के अवरोध से अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है उसी तरह कामवासना के अवरोध से भी अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। कामवासना का अवरोध किसी प्रकार की ऐसी घटना से होता है जिसके कारण आत्म-ग्लानि उत्पन्न हुई हो। जब कामवासना का अवरोध होता है तो व्यक्ति में विषयलिप्त व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कामवासनासम्बन्धी किसी बातचीत को सुनना नहीं चाहता। वह कामवासना को उत्तेजित करनेवालों चित्रों को नहीं देखता और प्रेम की कविताओं में रुचि नहीं दिखाता। कामवासना का अवरोध कभी-कभी मानसिक नपुंसकता का रूप धारण कर लेता है। जिस व्यक्ति को मानसिक नपुंसकता रहती है वह अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह करने लगता है। कभी-कभी यह सन्देह किसी प्रकार के लांछन में प्रकाशित होता है और कभी-कभी यह स्त्री को सदा साथ रखने की इच्छा में प्रकाशित होता है, वह अपनी स्त्री को थोड़े काल के लिये भी अकेले नहीं छोड़ना चाहता।

कामवासना का अवरोध और अनिद्रा

हाल में ही लेखक को एक नवयुवक की अनिद्रा की बीमारी का विलक्षण वृत्तांत ज्ञात हुआ। इनकी अवस्था कोई सत्ताईस वर्ष की है और और वे एक विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। घर के ये सम्पन्न व्यक्ति हैं। तीन साल पहले इनका विवाह हुआ था। विवाह होने के बाद से ही इनके

विचारों और व्यवहार में विलक्षणता आ गई है। कोई डेढ़ साल से उन्हें अनिद्रा की बीमारी हो गई है। उन्हें अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग सताते रहते हैं। उन्हें क्षयरोग का भी भ्रम बना रहता है। बड़े से बड़े डाक्टरों ने इनके शरीर की परीक्षा की पर रोग का कोई पता न चला। उनका कथन है कि इनका रोग कल्पित है और यह उनके निकम्मे होने के कारण उत्पन्न हो गया है। वे किसी भी काम को देर तक नहीं कर सकते। उनका मन सदा अशान्त और चंचल रहता है। इसके कारण वे अधिक काल तक एक स्थान पर ठहर भी नहीं सकते। किसी भी व्यक्ति से थोड़ी देर तक बात करने के बाद ही वे उठ जाते हैं। इस समय उनका शरीर कृशकाय हो गया है। यदि किसी प्रकार का अशुभ विचार मन में आ जाय तो वे उसे निकाल नहीं सकते। रेल की यात्रा करते समय किसी ज्योतिषी को उन्होंने अपना हाथ दिखाया। उसने उनसे कहा कि उनकी संतान जीवित नहीं रहेगी और उनकी मृत्यु उनकी पत्नी की मृत्यु के पहले ही हो जावेगी। इस विचार ने उनके मन में घर कर लिया। अब वे सदा इसी विचार को सोचा करते हैं।

वे अपनी स्त्री को एक क्षण के लिये भी अकेले नहीं छोड़ना चाहते। वह जहाँ जाती है वे उसके साथ ही जाते हैं। स्त्री के अनेक फोटोग्राफ ले रखे हैं और उन्हें अपने कमरे में सदा अपने सामने रखते हैं। इससे यह दिखाई देता है कि वे अपनी स्त्री को बहुत प्यार करते हैं। वे अपनी स्त्री को सदा किसी-न-किसी काम में लगाये रहते हैं। वह उनकी सेवा में ही सदा लगी रहती है। उसे चैन से न तो सोने देते और न ठीक से भोजन करने देते हैं। एक बार वह चार-पाँच दिन तक भूखी ही रह गई; पर इसकी उन्हें चिन्ता न हुई। जब कभी भोजन करने स्त्री बैठती है तो वे कह बैठते हैं कि तुम समझती हो मैं स्वस्थ हूँ, इससे तुम मजे से भोजन कर रही हो। सोते में उसे जगा देते हैं और उससे कहते हैं कि मैं दुःख में पड़ा हूँ, तुम सुख की नींद सो रही हो। स्त्री को बार-बार यही कहते हैं कि मुझे तो तुम्हारे पहले ही मर जाना है। इससे स्त्री को भारी मानसिक क्लेश होता है।

उपर्युक्त रोगी के विषय में और अधिक पता चलाने से ज्ञात हुआ कि वे

सुहागरात के दिन भी अपनी पत्नी से नहीं मिले थे। उस दिन उनके मित्र ही उनके पास रहे थे। संभव है कि वे अब भी अपनी स्त्री से मिलना न चाहते हों। उनके मन में कामवासना का अवरोध है। किसी ने उनके ऊपर नपुंसकता का भी सन्देह किया था। इससे वे बहुत अप्रसन्न हुए थे। वास्तव में उनकी मानसिक नपुंसकता का कारण उन में कोई शारीरिक कमी नहीं है, वरन् किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है, जो पुराने अनुभव के कारण बन गई है। स्त्री की उपस्थिति में उसके प्रति प्रेम की उत्तेजना न होकर उनके मन में घृणा की उत्तेजना होती है। यह कामवासना के विकार का परिणाम है। उनके सदा यह कहने का कि मैं अपनी स्त्री के पहले मर जाऊँगा और उसकी कोई सन्तान जीवित न रहेगी यह अर्थ है कि उनकी स्त्री यदि पहले ही मर जाय तो अच्छा हो। उन्हें स्त्री एक भार के रूप में दिखाई देती है। इसकी अज्ञात चिन्ता ही उन्हें परेशान कर रही है और इसके कारण ही न उन्हें चैन मिलती है और न रात में नींद आती है।

जिस किसी व्यक्ति में मानसिक नपुंसकता आ जाती है उसका सांसारिक जीवन निरानंद हो जाता है। उसे अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह होने लगता है। इसके कारण उसे नींद भी कम आती है। उक्त व्यक्ति विवाह होने के पूर्व पूर्ण स्वस्थ था। वह बुद्धि और आचरण में दूसरे नवयुवकों जैसा ही था। उसकी बीमारी का प्रारंभ उसके विवाह के बाद ही हुआ। देर से शादी करनेवाले नवयुवकों के मन में अपने पुरुषत्व के के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। इसके कारण जब वे विवाह करते हैं तो वे अपनी पत्नी से वैसा सम्बन्ध नहीं रख पाते जैसा कि किशोरावस्था में शादी होनेवाले व्यक्ति रखते हैं।

आत्महीनता की भावना और अनिद्रा

जब किसी व्यक्ति को समाज मे अपना सम्मान खो जाने का सन्देह हो जाता है तो उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। एडलर महाशय के कथानुसार अनिद्रा की बीमारी का प्रधान कारण आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि ही है। बीमारी के द्वारा रोगी अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करता है। जब मनुष्य के भीतरी मन में आत्म-विश्वास

की कमी होती है पर वह बाहरी परिस्थिति के कारण किसी प्रकार की भारी जिम्मेदारी ले लेता है तो उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी मनुष्य को आत्म-भर्त्सन की पीड़ा से बचा लेती है।

कितने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी उन्हीं विद्यार्थियों को होती है जो अपने आपसे बड़ी-बड़ी आशायें करते हैं और जिनमें वास्तविक योग्यता कम होती है। जब विद्यार्थी के सम्बन्धी विद्यार्थी से बड़ी आशा करने लगते हैं और वह अपने-आप में उन आशाओं की पूर्ति की संभावना नहीं देखता तो वह किसी प्रकार के रोग का सहारा ले लेता है। अनिद्रा की बीमारी इसी प्रकार की मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप होती है।

आत्महीनता के कारण जो रोग किसी व्यक्ति को उत्पन्न हो जाता है उसका प्रचार स्वयं रोगी ही करता देखा गया है। जिस विद्यार्थी को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो जाती है वह सभी लोगों से अपनी बीमारी के बारे में कहते फिरता है। जब वह बिस्तर पर पड़ता है तो वह कुछ-न-कुछ करते रहता है और कुछ नहीं तो करवटें बदलते रहता है। इसका अर्थ यही है कि वह नींद भंग करने का उपाय अपने-आप ही रचते रहता है। नींद चुपचाप एक जगह पड़े रहने पर ही आ सकती है। इसे छोड़ अनिद्रा का रोगी सभी कुछ करते रहता है।

अनिद्रा अन्य प्रकार के मानसिक रोग की पूर्वावस्था है। अनिद्रा से जब मनुष्य की मानसिक शक्ति कम हो जाती है तो किसी प्रकार का अशुभ विचार मन में आकर घर कर लेता है। इस विचार से लड़ने में

अनिद्रा और अन्य मानसिक रोग

फिर मानसिक शक्ति खर्च होने लगती है। कभी-कभी जिस अभद्र विचार को व्यक्ति मन से निकालना चाहता है उसीके अनुसार वह आचरण भी करने लगता है। अनिद्रा से पीड़ित रोगी किसी शारीरिक रोग की खोज में रहता है। जब वह किसी शारीरिक रोग का सहारा पा लेता है तो प्रायः उसका अनिद्रा का रोग कम हो जाता है। वास्तव में शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के

रोग मानसिक विकार को बाहर निकालने के मार्ग हैं जब एक मार्ग अवरोध होता है तो दूसरे मार्ग से मानसिक विकार बाहर निकलने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक पीड़ा से बचने की प्रबल इच्छा आन्तरिक इच्छा रहती है। अतएव जब उसे शारीरिक रोग और मानसिक रोग के बीच चुनाव करना पड़ता है तो वह शारीरिक रोग को ही पसंद करता है।

अनिद्रा के रोग का अन्त रोगी के मन में आत्म-विश्वास उत्पन्न करके अथवा मैत्री भावना की वृद्धि करके किया जा सकता है। आत्मविश्वास की

अनिद्रा का उपचार

वृद्धि के लिये पुरानी मानसिक ग्रन्थि का रेचन करना और रोगी को रचनात्मक कार्य में लगाना आवश्यक है। मैत्री भावना की वृद्धि प्रतिदिन के अभ्यास से होती है। दूसरे लोगों के हित का चिन्तन करना, बालकों की सेवा करना, सभी लोगों के प्रति सब समय और विशेषकर सोते समय सद्विचार लाने से, मनुष्य के मन में मैत्री भावना की वृद्धि होती है इसकी वृद्धि होने पर बुरे स्वप्नों का आना बन्द हो जाता है और अनिद्रा के रोग का अन्त हो जाता है।

लेखक की एक छात्रा को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो गई थी। इस अनिद्रा के कारण उसे पहले का पढ़ा हुआ विषय भूल रहा था। इसके कारण वह परीक्षा में बैठना नहीं चाहती थी। परीक्षा में न बैठ सकने की चिन्ता से अनिद्रा की बीमारी और भी बढ़ रही थी और इसके कारण उसकी विस्मृति बढ़ती जाती थी। इस प्रकार एक चक्कर उसकी मानसिक स्थिति का हो गया था। लेखक जब उसके घर गया तो वह इसी प्रकार की स्थिति में बेचैन थी। यह बीमारी उसे परीक्षा के कुछ पर्चे करने के बाद प्रारभ हुई थी। इधर चार-पाँच दिन की छुट्टी थी।

उसकी मानसिक स्थिति के अध्ययन से पता चला कि वह प्रथम श्रेणी में पास होने की आशा करने लगी थी, पर उसमें योग्यता द्वितीय श्रेणी में पास होने भर की थी। इस साल उसका विवाह भी होनेवाला था और भावी ससुराल के लोग भी उससे बहुत कुछ आशा करने लगे थे। इस आशा

की पूर्ति की जब संभावना न दिखी, तो अनिद्रा की बीमारी प्रारंभ हो गई। अनिद्रा का व्यापक कारण चिन्ता है। आशा अत्यधिक बढ़ाने से चिन्ता उत्पन्न होती है। जब आशा अथवा आकांक्षा की कमी की जाती तो चिन्ता भी नष्ट हो जाती है।

उक्त छात्रा की बीमारी की भौतिक चिकित्सा की गई थी, उससे उसे लाभ न हुआ। लेखक ने उसे आश्वासन दिया कि उसकी स्मृति ठीक है और उसे विषय ठीक तरह से स्मरण है तो उसकी बीमारी कुछ कम हुई। उससे यह भी कहा गया कि परीक्षा से बचने की चेष्टा कायरता है और चाहे फेल क्यों न हो, परीक्षा में बैठना ही चाहिये। इस प्रकार के आश्वासन और प्रोत्साहन से उसे मानसिक शान्ति हुई और उसकी अनिद्रा की बीमारी जाती रही।

अनिद्रा की बीमारी के रोगी के मन से और सब विचार निकल जाते हैं और यही विचार मन में बैठ जाता है कि मुझे नींद नहीं आती। यह विचार ही निद्रा का आना रोक देता है। यह नकारात्मक विचार आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है। अनिद्रा का रोगी निद्रा चाहता है पर इसका ध्यान ही उसे सोने नहीं देता। उसे डर रहता है कि यदि मुझे निद्रा न आई तो मैं पागल हो जाऊँगा। यह डर भी उसे नींद नहीं आने देता। इस प्रकार के रोगी की अनिद्रा का अन्त उसे यह आश्वासन देकर किया जा सकता है कि अनिद्रा से सभी लोग पागल नहीं होते। कितने ही लोग महीनों न सोकर स्वस्थ बने रहते हैं। जब तक इस प्रकार का विचार रोगी चेतन मन तक ही रहता है, उसे लाभ नहीं होता, पर इस विचार के अचेतन मन में चले जाने से उसे तुरंत लाभ होता है। अनिद्रा से डरनेवाले व्यक्ति से यह अभ्यास कराना आवश्यक है कि अनिद्रा भयानक रोग नहीं। इससे नुकसान नहीं है।

अनिद्रा का रोगी प्रायः चंचल रहता है। इस प्रकार के रोगी को लेटाकर अपने मन को साँस पर केन्द्रित करने के लिये कहा जाय। जिस तरह मनुष्य सोते समय साँस लेता है उसी प्रकार उससे साँस लेने को कहा जाय। कभी-कभी इसके लिये स्वयं चिकित्सक को सोने का अभिनय करना

पड़ता है। लेखक के एक छात्र को जो अनिद्रा की बीमारी से पीड़ित था लेखक के एक भिक्षु मित्र ने अपने सामने ही सुला दिया। यहाँ निर्देश विधि का प्रयोग किया था। पीछे मैत्री भावना का अभ्यास कराके उसको अनिद्रा की बिमारी सदा के लिये नष्ट कर दी गई।

कभी-कभी अनिद्रा की बीमारी किसी भारी हानि अथवा मानहानि से हो जाती है। अनिद्रा की बीमारी का कारण हानि की स्मृति नहीं होती वरन् भविष्य की चिन्ता होती है। लेखक के मित्र को जो एक स्कूल के अध्यापक हैं एक बार अनिद्रा की बीमारी हो गई। उन्होंने लेखक से अनिद्रा से मुक्त होने का उपाय पूछा। फिर उनकी मानसिक व्यथा को सहानुभूतिपूर्वक सुना गया। वे जिस स्कूल में काम करते थे उसके प्रधान अध्यापक कुछ दिन की छुट्टी पर गये और उन्हें उनकी जगह पर काम करना पड़ा। इसी बीच सरकारी ग्रान्ट भी आई। उन्होंने स्कूल के चपरासी को बैंक भेजा। उसने बैंक से रुपया लाकर घर पर इनकी स्त्री को बिना गिने दे गया। पीछे जब ये आये तो रुपया उन्होंने गिना। रुपया ९००) था। दूसरे दिन चपरासी से पूछा कि तुम कितना रुपया दे गये थे तो उसने कहा १९००) मैं दे गया हूँ। इसको सुनकर वे अवाक् हो गये। इसकी खबर स्कूल कमेटी के अध्यक्ष को दी गई। कमेटी ने निर्णय किया कि १०००) अध्यापक को देना चाहिये। चपरासी से गिनकर अपने आप रुपया न लेना अध्यापक की भूल है। अध्यापक की तनख्वाह १२५) ही है और उसके सात लड़कियाँ हैं। अब उसको चिन्ता थी कि रुपया कैसे पटाया जायगा; दूसरे उसे अपमानित होने का भी दुःख था। कमेटी ने चपरासी को सच्चा माना और उसे झूठा माना।

इस व्यक्ति को निम्नलिखित कथा कही गई— एक गाँव में एक साधु जा रहा था। वहाँ के कुछ लोग गाँव की देवी के मन्दिर पर इकट्ठे थे। वहाँ पर एक व्यक्ति प्रसाद बटवा रहा था। पूछने से पता चला कि वह सनकी व्यक्ति अपना घोड़ा खो जाने के कारण प्रसाद बटवा रहा है। यह समाचार सुनकर साधू विस्मित हुआ। जब उस सनकी व्यक्ति से कारण पूछा गया तो उसने कहा कि मैं घोड़ेपर हर समय सवार रहता था। जिस

समय घोड़ा चोरी गया मैं उसपर सवार नहीं था, नहीं तो मुझे भी चोर चुरा ले जाते। मैं बच गया इसीकी खुशी में प्रसाद बटवा रहा हूँ।

इस व्यक्ति से कहा गया कि भाई आपको नुकसान होना था ही। कुछ प्राकृतिक घटनाओं को हम रोक नहीं सकते हैं। इतना ही पर्याप्त है कि आपको अधिक नुकसान नहीं हुआ। इस अध्यापक के मन में यह बात बैठ गई। इसके बाद वह चिन्तामुक्त हो गया और उसे नींद आने लगी। वैराग्यभाव के आने पर चिन्ता नष्ट हो जाती है और अनिद्रा की बीमारी भी चली जाती है।

बीमारी का भय

बीमारी का डर रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। यह मानसिक कमजोरी का सूचक है जिस प्रकार वास्तविक मृत्यु की अपेक्षा मृत्यु का डर कहीं अधिक त्रासदायक होता है, उसी प्रकार वास्तविक बीमारी की अपेक्षा उसका डर कहीं अधिक त्रासदायक होता है। कहावत है कि जो मनुष्य जिस बात से डरते रहता है वह बात उसी के मत्थे पड़ती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो बीमारी का डर बीमारी से हमें न बचा कर उसे और भी हमारे ऊपर लाद देता है। डर के कारण मनुष्य की बीमारी को रोक सकने की शक्ति कम हो जाती है और इसके कारण बीमारी के कीटाणु अपना दुष्प्रभाव उसके शरीर पर कर डालते हैं। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति बीमारी से नहीं डरता उससे बीमारी डरती है। जो बीमारी का आना एक स्वाभाविक घटना मानता है और उसके प्रति मैत्री भावना स्थापित कर लेता है उसे बीमारी त्रास नहीं देती। पहले तो ऐसे व्यक्ति को बीमारी होती ही नहीं और यदि हो हो जाय तो अधिक पीड़ा नहीं देती। बीमारी के प्रति अपना मानसिक रुख बदल जाने पर वह प्रायः रोगी को छोड़ देती है। इस प्रसंग में लेखक के एक मित्र का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है

लेखक के एक मित्र को सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं उसे क्षय रोग न हो जावे। उसके भय के परिणामस्वरूप उसे कुछ दिन में क्षय-रोग

वास्तव में हो गया। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इस व्यक्ति को उस समय भी क्षय रोग का संदेह था जब कि उसे किसी प्रकार की बीमारी न थी। वह अपने शरीर की परीक्षा बार-बार डाक्टरों से कराया करता था। जब एक बार यह प्रमाणित कर दिया गया कि उसे वास्तव में क्षय रोग हो गया है तो वह भुआली के सेनीटोरियम में गया। वहाँ वह रोगियों के समान रहने लगा और अपने जीवन की घड़ियाँ गिनने लगा। वहाँ का डाक्टर एक. मनोवैज्ञानिक था। उसने रोगी से कहा कि तुम खूब खाओ, पिओ और किसी प्रकार का परहेज मत करो। पर रोगी को तो पहले से मृत्यु का भय त्रास दे रहा था अतएव वह बड़ी परहेजी के साथ रहता था। इस पर भी जो कुछ वह खाता-पीता था उसे ठीक से पचता नहीं था। डाक्टर ने रोगी को साफ-साफ कह दिया कि यदि तुम भली प्रकार से मन भर भोजन न करोगे तो अवश्य मर जाओगे। यहाँ तुम्हें खूब खाना-पीना और मृत्यु से चुनाव करना है। चाहो तो खूब खा पीकर जीओ और चाहो तो कम खाकर मर जाओ। रोगी ने सोचा कि मरना कोई बुरी बात नहीं, चलो खूब खायँ चाहे बचें अथवा नहीं। ज्यों ही इस प्रकार रोगी ने मृत्यु का भय त्याग दिया उसका क्षय रोग भी जाता रहा और वह भुआली से मोटा-ताजा होकर आया।

मेरे एक दूसरे मित्र क्षय रोग से बहुत डरा करते थे। वे एक जमींदार थे और उनका विद्याध्ययन अच्छा था। उन्होंने डाक्टरी की कुछ पुस्तकें पढ़ी थीं। उनके घर में कुछ लोगों की मृत्यु क्षय रोग से हो चुकी थी। क्षय रोग के बारे में पता चलाने से ज्ञात हुआ कि यह रोग एक व्यक्ति सेदूसरे व्यक्ति पर कीटाणु द्वारा जाता है। ये कीटाणु बातचीत करते समय अथवा खाँसते समय रोगी की साँस के साथ उसके मुँह से बाहर आ जाते हैं और दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में स्वाँस के साथ चले जाते हैं। अतएव इस व्यक्ति को सभी लोगों के समीप बैठकर बातचीत करने से भय हो गया। यह सदा सतर्क रहने लगा कि कहीं दूसरे व्यक्ति की साँस से आकर कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश न कर डालें। पर जिस बात से मनुष्य सदा डरते रहता है वह होकर ही रहती है।

एक बार इस व्यक्ति को शीत काल में देर तक शहर में काम करते रहना पड़ा। इससे उसे सर्दी और खाँसी की बीमारी हो गई। अब तो उसके क्षय रोग के भय ने जोर पकड़ा। उसे डर हो गया कि उसे क्षय रोग हो गया है। उसने अपने शरीर की डाक्टरों से परीक्षा कराई और उसका डर और भी पक्का हो गया। खाँसी बढ़ती ही गई और बुखार भी आने लगा। कुछ दिनों के बाद डाक्टरों ने सलाह दी कि वह घर के बाहर न निकले। अब तो वह सदा बिस्तर पर ही रहने लगा। कुछ दिनों के बाद उनकी मनोवृत्ति हो गई कि मैं अधिक काल तक जीवित न रहूँगा। जिस समय वह सोच रहा था कि मुझे अधिक दिन नहीं जीना उसी समय उसे एक नई झक सवार हो गई। एक दिन जब वह पेशाब करने के बर्तन में पेशाब कर रहा था तब उसके मन में विचार आया कि कहीं वह उस पेशाब को उठाकर पी न जाय। इससे वह घबड़ा गया। अब यह विचार सदा उसके साथ रहने लगा। इसी प्रकार एक दिन उसके मन में विचार आया कि कहीं वह अपने पाखाने को ही अपने मुँह में न डाल ले। इस विचार ने और भी उसे घबड़ा दिया। अब सदा यही विचार उसे त्रास देते रहता था। इन विचारों से रोगी को एक लाभ हुआ। वह अपने क्षय रोग के भय को भूल गया और उसका क्षय रोग जाता रहा। पर अब एक नई इल्लत उसके ऊपर लग गई है। उसे सदा भय लगा रहता है कि कहीं वह पाखाने को खा न ले। इसके लिये उसको अपने समीप एक व्यक्ति रखना पड़ता है। जो पीड़ा पहले उसे एक शारीरिक बीमारी के भय से होती थी, उससे कहीं अधिक पीड़ा अब उसे विचार मात्र से हो रही है।

बहुत से लोगों को बीमारी नहीं रहती, परन्तु वे बीमारी के भय के कारण ऐसे ही पीड़ित रहते है जैसे कि वास्तविक बीमारी से पीड़ित व्यक्ति रहता है जो व्यक्ति रोगों के विषय में जितना ही अधिक चिन्तन करता है उसे उतने ही अधिक रोग घेरते हैं। जिस प्रकार भूत के विषय में चिन्तन करने वाले व्यक्ति को भूत घेरे रहते हैं, उसी प्रकार बीमारी के विषय में चिन्तन करने वाले व्यक्ति को बीमारी घेरे रहती है। बीमारी का भय करना उसको निमन्त्रण देना है। बीमारी इस तरह जब नहीं भी आती है तो

भी उसका त्रास मनुष्य को होता ही है। जो मनुष्य बीमारी को किसी प्रकार भूल जाते हैं उन्हें बीमारी भी भूल जाती है।

इस प्रसंग में डाक्टर होमरलेन द्वारा चिकित्सा किया गया एक महिला को निम्नलिखित रोग का वृत्तान्त उल्लेखनीय है:—

डाक्टर होमरलेन के पास एक ऐसी महिला आई जिसे गेस्ट्राइटीज़ (पेट का रोग) की बीमारी थी। उसे वास्तविक रोग न था, पर उसे शारीरिक पीड़ा वैसी ही होती थी। जैसी कि वास्तविक रोग के समय होती है। उसने अपना इलाज पहले तो साधारण डाक्टरों से कराया, किन्तु जब उनसे कोई लाभ न हुआ तो वह डाक्टर होमरलेन के पास गई। स्वयं उस महिला का पति इस रोग का विशेषज्ञ था। अतएव कोई दूसरे डाक्टर की उसे आवश्यकता ही न थी। उसने रोग का कोई भी शारीरिक कारण न पाया।

वह डाक्टर होमरलेन के पास अपना परिचय ठीक-ठीक न देकर इलाज कराना चाहती थी। परिचय देने से उसके पति की कीर्ति पर धब्बा पड़ता था। पर मानसिक रोगों में पूरा परिचय देना अत्यन्त आवश्यक होता है। जब इस महिला के पूर्व संस्कार का अध्ययन किया गया तो ज्ञात हुआ कि वह गेस्ट्राइटीज़ के रोगियों की पीड़ा देखकर घबड़ा गई थी। पर उसे विश्वास रहता था कि उसका पति उसे इस रोग से अवश्य बचा लेगा। किन्तु एक बार उसने देखा कि एक महिला इस रोग से पीड़ित होकर स्वयं डाक्टर साहब के सामने उनके घर पर ही मर गई। इससे डाक्टर साहब पर उस रोग से बचा सकने की योग्यता में उसकी श्रद्धा जाती रही। अब उसे भय हो गया कि यदि उसे गेस्ट्राइटीज़ का रोग हुआ तो उसे मरना ही पड़ेगा। रोग के भय ने उसको इतना विचालित कर दिया कि रोग के न रहते हुए भी वह रोग का अनुभव करने लगी। जब एक बार किसी बात का भय मनुष्य के मन में घर कर लेता है तो फिर उसे विचार के द्वारा बाहर निकालना संभव नहीं होता। इस प्रकार कितने ही व्यक्ति उन रोगों से पीड़ित रहते हैं जिनका उनके शरीर में कोई कारण नहीं है। जब उक्त महिला ने अपने जीवन की सब कथा डाक्टर होमरलेन

को कह सुनाई तो उसके भय का कारण प्रकाशित हो गया और भय का भी रेचन हो गया। इसके रेचन हो जाने पर रोग का अन्त हो गया।

महिला किसी भी डाक्टर को रोग के वास्तविक कारण को नहीं बताती थी। उसे गेस्ट्राइटीज़ से डर हो गया है इसे वह स्वीकार नहीं करना चाहती थी। ज्योंही उसने अपनी मन की कमजोरी को स्वीकार किया उसका रोग भी नष्ट हो गया।

बीमारी का भय बीमारी के विषय में सावधानी रखने से नहीं जाता। कभी-कभी यह भय उसकी निरर्थकता पर विचार करने से चला जाता है। परन्तु कई बार इस प्रकार का भय उसकी निरर्थकता पर विचार करने से भी नहीं जाता है। स्वयं रोगी जानता रहता है कि उसका भय निरर्थक है तिस पर भी वह उस भय से मुक्त नहीं होता। लेखक का एक छात्र हृदय रोग के भय से पीड़ित रहता था। उसने अपने हृदय की परीक्षा करवाई पर रोग का कुछ भी कारण न पाया। वह इस भय को व्यर्थ जानकर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता था। कभी-कभी बीमारी के भय की व्यर्थता पर विचार करने से उसका विचार मन में और भीदृढ़ हो जाता है।

किसी भी प्रकार के भय का कारण मानसिक कमजोरी होती है। जिस प्रकार कमजोर मन के व्यक्ति को शारीरिक बीमारी का भय त्रास देता है, उसी प्रकार उसके विचार मात्र ही उसे त्रास देने लगते हैं। शारीरिक बीमारी का भय ही मानसिक बीमारी में रूपान्तरित हो जाता है। कितने ही लोगों को भय लगा रहता है कि वे कहीं आत्म हत्या न कर डालें, अथवा अपने प्रिय-जन को न मार डालें। कितने लोगों को असगुन से भारी भय हो जाता है। कितने ही लोग ग्रह-नक्षत्रों से डरा करते हैं। इनके कारण वे उसी प्रकार दुःखी रहते हैं जिस प्रकार दूसरे लोग शारीरिक बीमारियों से दुःखी रहते हैं कभी-कभी प्रकृति मानसिक त्रास से बचाने के लिये मनुष्य को शारीरिक रोग उत्पन्न कर देती है और कभी-कभी शारीरिक रोग से बचाने के लिये मानसिक रोग को उत्पन्न कर देती है।

रोग का अथवा किसी प्रकार का त्रास देनेवाला विचार-मनुष्य के

आध्यात्मिक पतन का सूचक है। जब मनुष्य में ईर्ष्या और द्वेष के भाव बढ़ जाते हैं तो उसे अनेक प्रकार के भय और चिन्ताएँ सताने लगती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने-आपको दूसरे लोगों की सेवा में लगा दे। इससे उसके मन में प्रेम के भाव आते हैं। प्रेम के विचार मनुष्य के मन में दृढ़ता ले आते हैं। इससे उसकी इच्छाशक्ति बलवान होती है और जब मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान हो जाती है तो कोई भी अभद्र विचार उसके मन में नहीं ठहरता। निर्बल इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति अभद्र विचारों को मन से बाहर नहीं निकाल पाता; बलवान इच्छाशक्ति से ही अभद्र विचारों से मुक्ति होती है। इच्छाशक्ति का बल प्रेम की वृद्धि और स्वार्थ-त्याग से बढ़ता है। जो व्यक्ति दूसरों से घृणा करता है वह एक दिन अपने-आपको भी घृणा का पात्र बना लेता है। जिस प्रकार के भाव हम दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने हृदय में लाते हैं, उसी प्रकार के भाव अपने-आपके प्रति भी अपने मन में उत्पन्न होते हैं। दूसरों को मारने की इच्छा हा आत्म-हत्या के भावों में परिणत हो जाती है, पर हत्या और आत्म-हत्या के भाव एक दूसरे के पूरक हैं। जो व्यक्ति दूसरों का सदा कल्याण चाहता है उसके मन में आत्म-कल्याण के भाव अपने-आप ही आते हैं। दूसरों को जीवनदान देने-वाले व्यक्ति के मन में ही निर्भीकता आती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि किसी प्रकार के भय से मुक्त होने के लिये मनुष्य अपने-आपको दूसरे के कल्याण करने में लगा दे। जो अपने-आपकी जितनी अधिक परवाह करता है वह अपने-आपको उतना ही अधिक दुःखी बनाता है। जो व्यक्ति अपने विषय में भूल जाता है और दूसरों को सुखी बनाने में अपना समय खर्च करता है वह अपने-आपको अभद्र विचारों से मुक्त करने में उतना ही समर्थ होता है। देखा जाता है कि सीधे-सादे लोगों की अपेक्षा पढ़े-लिखे और चालाक लोगों को ही मानसिक रोग अधिक होते हैं। बीमारी का भय एक प्रकार का मानसिक रोग है। इसका परिणाम शारीरिक रोग हो सकता है, पर इसके न होते हुए भी मनुष्य को मानसिक त्रास होता ही है। मनुष्य की बुद्धि और चालाकी उसे दूसरे लोगों को ठगने अथवा कुशलता से व्यवहार करने में काम देती है, पर अपने-आपको समझने

में अथवा अपने भय को भुलाने में वह काम में नहीं आती। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व अभ्यास को छोड़कर प्रति-अभ्यास करे। वह अपने-आपको एक अबोध बालक जैसा जान ले। यदि वह अपने अहंकार के कारण दूसरों लोगों को घृणा की दृष्टि से देखता रहा हो तो उसे चाहिये कि वह उनकी मनोयोग के साथ सेवा करे। वह अपने-आपको जितना नम्र करने की चेष्टा करेगा उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ उतनी ही सुलझ जायँगी। इसी प्रकार जो व्यक्ति जीने और मरने की परवाह नहीं करता उसके समीप बीमारियों का भय नहीं आता, पर मरने का भय अपने-आप नहीं छूटता। इसके लिये भी मैत्री भावना के अभ्यास की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति का मन दूसरे लोगों की सेवा में लगा हुआ है, वही अपनी बीमारी को भुला सकता है और वह मृत्यु के भय पर विजय प्रात कर सकता है।

चिन्ता का उपचार

चिन्ता एक प्रकार का व्यापक मानसिक रोग है। यह रोग मनुष्य मात्र को होता है। जो व्यक्ति जितना प्रतिभ शाली होता है उसकी चिन्ता भी उतनी ही प्रबल होती है। जब मनुष्य का मन किसी प्रकार की चिन्ता से आक्रान्त हो जाता है तो वह धीरे-धीरे अपनी मानसिक शक्ति को खो देता है। मानसिक शक्ति के ह्रास होने पर उसे अन्य प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कई प्रकार के बाह्य रोग चिन्ता से दुर्बल हुए मन में घर कर लेते हैं। जिस मनुष्य का मन चिन्ता से निर्बल नहीं बन जाता वह दूसरे प्रकार के रोगों का भी सामना कर लेता है।

चिन्ता एक घातक मानसिक रोग

चिन्ता मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। चिन्ता का एक तुरन्त का कारण होता है, और एक स्थायी होता है। तुरन्त का कारण कोई भी घटना हो सकती है। मान लीजिए आपका लड़का बाहर खेलने चला गया है और उसे घर वापस आने में कुछ देर हो गई, तो यदि आपका मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से निर्बल हो गया है, आप अनेक प्रकार के दुखदायी विचार मन में लाने लगते हैं। आपके मन में सन्देह उत्पन्न होने लगता है कि कहीं कोई गुण्डा बालक को बहका न ले गया हो, कोई आकस्मिक घटना

चिन्ता का कारण

न हो गई हो, कहीं बालक रास्ता न भूल गया हो। इस प्रकार के अनेक अशुभ विचार मन में आने लगते हैं। लेखक हाल ही में एक महिला से मिला। उसे मूर्छा होने की बीमारी है। यह महिला विदुषी है और, और ज्ञान-चर्चा में कहीं साधारण लोगों से ऊँची है। उसने अपने मन की स्थिति बतलाते हुए कहा कि मैं जब कभी किसी बात को सुनती हूँ तो उसका बुरा पहलू ही मेरे मन में पहले-पहल आता है। यदि मेरा लड़का स्टेशन जाय और आने में देर लग जाय तो से यही सोचने लगती हूँ कि कोई न कोई दुर्घटना उसके साथ हो गई है। हजार अपने-आपको समझाने पर भी मन को शान्ति नहीं मिलती। जब तक लड़का वापस नहीं आता, बेचैनी बनी ही रहती है। इस बेचैनी से शारीरिक थकावट भी उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार की मानसिक स्थिति घटना विशेष के कारण नहीं होती, वरन् मानसिक दुर्बलता के कारण हो जाती है। जब मनुष्य का मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण निर्बल हो जाता है तो कोई भी घटना दुखदायी भावना मन में ले आती है। कभी कभी मनुष्य को स्थायी चिन्ता और भय होते हैं। वह इनसे जितना ही मुक्त होने का उपाय करता है, वे उसे और भी पकड़ते जाते हैं। एक स्थायी चिन्ता का यदि निवारण हो भी जाय तो दूसरी उसी प्रकार की चिन्ता मनुष्य को पकड़ लेती है। यहाँ भी चिन्ता का कारण मानसिक निर्बलता है। कितनी ही चिन्ताओं का बाहर परिस्थिति में कारण होता है, पर कितनी कोरी विकल्प मात्र होती हैं। मन का निर्बल अवस्था में मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें उठती हैं और ये कल्पनायें मन में स्थायी बनाने की चेष्टा करती हैं। निर्बल मन के व्यक्ति को बाहर के लोगों के सन्निर्देश प्रभावित नहीं कर सकते, किन्तु दुर्निर्देश तुरन्त प्रभावित करते हैं।

मान लीजिए आपका मन अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। आपको भय है कि यह परिस्थिति कई दिनों तक चलेगी। आप किसी ज्योतिषी के पास जाते हैं, उससे आप अपने परिस्थिति के बारे में कुछ भी नहीं कहते। ज्योतिषी आपके बारे में दस भली बातें और दो दुखदायी बातें कह देता है। अब मन निर्बल की अवस्था में उन दस बातों की सम्भावना में आपको

इतना विश्वास हो जायगा कि उसके कारण आपको नींद आना कठिन हो जायगा। साधारणतः जो लोग अपने भाग्य के विषय में जानने के लिए ज्योतिषी के पास जाते हैं, उनका मन निर्बल होता है। भाग्यवादी कर्तव्यवादी नहीं होता। ऐसे व्यक्ति का ज्योतिषी भाग्य-फल बता कर लाभ न कर नुकसान ही करता है। अपने भाग्य के पलटने के विषय में अधिक चिन्ता करानेवाला मनुष्य अभागा होता है। मनुष्य अपने भविष्य के विषय में जैसे विचार करते रहता है उसका भविष्य वैसे ही हो जाता है। जब किसी प्रकार का विचार मनुष्य के अन्तर-मन तक पहुँच जाता है तो वह बाह्य जगत की घटना में प्रकाशित होने लगता है। पर किसी सद्विचार को दृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य का मन बलवान हो। निर्बल मन को सदा बुरे विचार ही सूझते हैं। वह अपने अकल्याण के विचारों से प्रयत्न करने पर भी मुक्त नहीं हो पाता। जैसे जैसे वह ऐसे विचारों को भुलाने की चेष्टा करता है वे उसके मन में और भी गहरा स्थान पा लेते हैं। वे व्यक्ति की बाहरी चेतना से तो निकल जाते हैं, पर वे अब स्थायी मानसिक अथवा शारीरिक रोग में प्रकाशित होने लगते हैं।

चिन्ता से मुक्त होने का उपाय चिन्ता को दबाना नहीं, वरन् उसको सुलझाना है। दबाने से चिन्ता बीमारी का रूप धारण कर लेती है। कोई भी रोग दबाने से नष्ट नहीं होता। वह थोड़े समय के लिये अन्तर्ध्यान हो जाता है और पीछे विकराल रूप में प्रकाशित होता। यही नियम चिन्ता के विषय में लागू होता है। चिन्ता दुःखदायी विचार है। यह मानसिक कमजोरी का परिणाम है। यह दुःख भोगकर ही मन बल प्राप्त कर सकता है। यह एक प्रकार की बीमारी है। बीमारी से यदि कोई मनुष्य बच जाय तो वह पहले से अधिक स्वस्थ हो जाता है।

चिन्ता से मुक्त होने का उपाय

चिन्ता से मुक्त होने के दो मौलिक उपाय हैं। पहला उपाय मन को निर्बल न होने देना और यदि मन निर्बल हो जाय तो उसे बलवान बनाने की चेष्टा करना; दूसरा चिन्ता से घबड़ाना नहीं, चिन्ता के आने पर उसका

सामना करना और उसका आना ही अपने लिए हितकर समझना है। यहाँ इन इन दोनों उपायों पर कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है।

मन की शक्ति का ह्रास अन्तर्द्वन्द्व के कारण होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के विषय में मनुष्य को सदा सचेत रहना चाहिये मानसिक अन्तर्द्वन्द्व किन्हीं दो प्रबल वासनाओं अथवा धारणाओं के कारण होता है। मनुष्य के आदर्श और उसकी भोगेच्छाओं में विषमता होने के कारण भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व होता है। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं और आदर्शों में जितनी ही समता ले आता है उसका मन उतना ही अधिक शान्त और बली रहता है। इसके लिए एक ओर हमें अपनी इच्छाओं का शोध करना पड़ता है, अर्थात् हमें अपनी मानसिक शक्तियों को किसी भले कार्यों के लिए काम में लाना आवश्यक है, और दूसरी ओर हमें अपने आदर्शों को व्यवहार्य बनाना पड़ता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को हटाना

मान लीजिए, कोई मनुष्य बड़ा आदर्शवादी है। ऐसे व्यक्ति की सामान्य भोगेच्छायें सदा उसके चेतन मन को धोखा देती रहेंगी। वे छुपकर अपनी तृप्ति का मार्ग निकालेंगी। मनुष्य का एक अंग ऐसी स्थिति में दूसरे अंग का शत्रु बना रहेगा। इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य के मन का बल नष्ट हो जाता है और उसे किसी प्रकार की चिन्ता सताने लगती है। कितने ही लोगों को अकारण भय होते हैं। ये भय वास्तव में अपने आपके प्रति ही हैं। कितने ही लोग अपने निर्णय पर ठहर हीं नहीं सकते, उन्हें सदा सन्देह बना रहता है कि उन्होंने कोई भूल कर दी है। यह सन्देह को मनोवृत्ति प्रबल वासना के दमन का परिणाम मात्र होता है।

कभी-कभी मनुष्य अपने आदर्शों के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है। इस प्रकार के आचरण के पश्चात् उसके मन में आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य इस दुःख को विस्मरण करने की चेष्टा करता है। अनेक बार प्रयत्न करने पर उसकी दुःखदायी स्मृतियाँ अदृश्य हो जाती हैं। यही अन्तर्द्वन्द्व कभी-कभी चिन्ता का रूप धारण करके प्रकाशित हो जाता है।

मान लीजिए किसी सेठ ने अपने एक नौकर का रुपया जमा कर लिया है। वह नौकर कहीं बाहर चला जाता है और उसकी वहीं मृत्यु हो जाती है। अब उसका लड़का रुपया माँगने आता है। सेठ जानता है कि लड़के के पास कोई प्रमाण नहीं है, अतएव वह रुपया देने से इनकार कर देता है। उसका हृदय उसे कोसता अवश्य है, पर वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता है और वह इस घटना को भूल जाता है। पर अब उसका मानसिक द्वन्द्व भीतरी मन में चलने लगता है। इसके परिणामस्वरूप उसका मन निर्बल हो जाता है। अब अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें उसके मन में उठने लगती हैं। वह किसी प्रकार का दूसरों से दुर्निर्देश पाते ही, उसी विचार से पीड़ित होने लगता है। अपने लाख प्रयत्न करने पर भी बुरे विचार उसे नहीं छोड़ते। उसे अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। उसे अब न अपना कृत्य स्मरण है और न वह मुक्त होने का कोई उपाय ही कर सकता है। यदि उसे किसी प्रकार का सन्निर्देश दिया जाय तो उसका उसमें विश्वास नहीं होता।

जो मनुष्य अपने मन का बल खोना नहीं चाहते उन्हें एक ओर यह आवश्यक है कि वे अपने आपको भली प्रकार से पहचानने की चेष्टा करें, और अपने आदर्शों को उतना ही ऊँचा बनावें, जितना कि वे प्राप्त कर सकें, अपने आपको धोखा देने की चेष्टा न करें; दूसरे उन्हें सदा इस प्रकार काम करना चाहिए कि मानों कोई अदृश्य द्रष्टा उनके सभी कर्मों को देख रहा है। प्रत्येक भले और बुरे काम का परिणाम होता है। इन परिणाम को देने वाला हमारा आन्तरिक मन ही है। हम अपने बुरे कर्मों को संसार से छुपा सकते हैं, पर अपने आपसे नहीं छुपा सकते। इसी प्रकार भले काम चाहे संसार को ज्ञात न हों, पर हमें तो ज्ञात ही रहते हैं। प्रत्येक बुरे काम का परिणाम मन को दुर्बल बनाना होता है और प्रत्येक अच्छे काम का परिणाम मन को सबल बनाना होता है। जब मन निर्बल हो जाता है तो हमारी कल्पनायें तथा इच्छायें हमारे हित के प्रतिकूल हो जाती हैं और यही कल्पनायें बाह्य जगत में घटनाओं के रूप में प्रकाशित होने लगती हैं। इस प्रकार हम अपने आपको ही अपने दुष्कृत्यों के लिए दण्ड

देते हैं। जब मनुष्य का मन सबल रहता है तो उसकी कल्पनायें उसके हित के अनुकूल होती हैं, वह अभद्र कल्पनाओं को या तो मन में लाता ही नहीं, यदि अभद्र कल्पनायें मन में आ जाएँ तो उन्हें वह तुरन्त निकालने में समर्थ होता है। उसके मन में शुभ कल्पनायें ही आती हैं और मनुष्य को उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ाती जाती हैं। इस प्रकार पुण्य अपने आप ही मनुष्य के कल्याण में फलित होता है।

जब अन्तर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप मनुष्य का मन निर्बल हो जाय तो यह आवश्यक है कि उसे किसी न किसी प्रकार बलवान बनाया जाय।

शुभ आत्मनिर्देश का अभ्यास

मन को बलवान बनानेका एक उपाय आत्मनिर्देश है। आत्मनिर्देश से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। इमील कूए महाशय ने लाखों रोगियों को आत्मनिर्देश के द्वारा स्वस्थ बनाया था। पर आत्मनिर्देश के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि निर्देश देनेवाले के वाक्यों में श्रद्धा हो। यदि सन्देह की मनोवृत्ति होते हुए कोई व्यक्ति आत्मनिर्देश का अभ्यास करे तो परिणाम उलटा ही होता है। जैसे-जैसे वह अपने आपको स्वास्थ्य का सुझाव देता है, उसका रोग, चाहे वह मानसिक हो अथवा शरीरिक, और भी जटिल हो जाताहै। कभी-कभी थोड़े समय के लिए आत्मनिर्देश के कारण रोग अदृश्य हो जाता है, पर पीछे फिर वह निकल पड़ता है। आत्मनिर्देश की असफलता को देखकर फ्रायड महाशय ने मनोविश्लेशण विधि का आविष्कार किया था। जब तक मनुष्य के मन की गाँठ नहीं खुलती, उसे चिकित्सक पर श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धा के अभाव में रोग से स्थायी रूप से मुक्त होना असम्भव है।

जिस प्रकार आत्मनिर्देश की सहायता सेअन्य रोगों से मुक्ति मिलती है, उसी प्रकार चिन्ता से भी आत्मनिर्देश के द्वारा मुक्ति मिल सकती है। पर यहाँ भी श्रद्धा का होना आवश्यक है, और इसके लिए मानसिक पवित्रता आवश्यक है, अर्थात् मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त होना आवश्यक है। मानसिक ग्रन्थियों से कैसे मुक्त हुआ जाय यह एक महत्त्व का प्रश्न है।

मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त होने का एक मनोवैज्ञानिक उपाय मनोवैज्ञानिक लोग काम में लाते हैं। मनोविश्लेषण के द्वारा पुरानी स्मृतियाँ रोगी की चेतना की सतह पर लाई जाती हैं और जब रोगी उसको आत्मस्वीकृत कर लेता है तो उसका मानसिक रोग नष्ट हो जाता है। पर देखा गया है कि

मनोविश्लेषण

कितने दिनों के मनोविश्लेषण के पश्चात् भी कभी-कभी मानसिक चिकित्सक को मानसिक ग्रन्थि का पता नहीं लगता और कितने ही रोगियों को अपने मानसिक ग्रन्थियों का ज्ञान रहते हुए भी वे उससे मुक्त नहीं होते। संभव है वे जिसको अपनी मानसिक ग्रन्थि समझते हैं वह उनकी वास्तविक मानसिक ग्रन्थि की प्रतीक मात्र हो। पर सभी प्रकार की खोज के पश्चात् कोई-कोई व्यक्ति अपने मानसिक रोग से मुक्त नहीं होते। ऐसी अवस्था में क्या उपाय रचना चाहिए ?

हमें यहाँ अपने मूल सिद्धान्त को न भूलना चाहिए। रोग की उपस्थिति मानसिक निर्बलता के कारण होती है। निर्बलता अपने आप को धोखा देने अथवा आदर्श से गिरने के कारण उत्पन्न होती है। यदि मनुष्य अपने आपको धोखा देना बन्द कर दे और सभी प्रकार के त्याग के लिए तैयार हो जाय

मानसिक त्याग

तो उसे कोई मानसिक रोग न होगा। वास्तव में चिन्ता मनुष्य को भोगों की इच्छा से मुक्त करने का मन का बनाया हुआ उपाय है। जहाँ धन, वैभव, रूप मान इत्यादि की इच्छा है वहीं चिन्ता है। जैसे-जैसे मनुष्य इनका मानसिक त्याग करते जाता है उसका मन सबल होता जाता है और उसकी चिन्तायें भी नष्ट हो जाती हैं। त्यागी मनुष्य का मन बलवान होता है। जो मनुष्य सभी प्रकार की परिस्थितियों को अपने अनुकूल समझता है, जो सभी कामों में भलाई देखता है वही अपने आपको सन्निर्देश दे सकता है।

जिस व्यक्ति की इच्छायें जितनी प्रबल होती हैं उसका मन उतना ही दुर्बल होता है। ऐसे व्यक्ति की अपने आपको सन्निर्देश देने की शक्ति कम होती है। ऐसे मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें

उठती हैं और वे उसे चैन नहीं लेने देती। इच्छाओं को वस में करने से ही मनुष्य का मन सबल हो सकता है। मनुष्य का मन जब सबल हो जाता है तब भले विचार उसके मन में आते हैं और वह ऐसे विचारों का स्वागत करता है। भला विचार फिर अपना प्रभाव दिखाता है। अतएव बलवान् मनवाले व्यक्ति के ही सन्निर्देश फलित होते हैं और जिस मनुष्य का त्याग जितना ही अधिक होता है उसका मन उतना ही सबल होता है। अतएव निर्बल मन के व्यक्ति से त्याग कराना च हिए। रोगी दूसरे मनुष्यों की सेवा करके अपने रोग से मुक्त हो जाता है। गरीब दूससे मनुष्यों की चिन्ता करके अपनी गरीबी की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। अपने विषय में चिन्ता से मुक्त होने का उपाय दूसरों के विषय में चिन्ता करने लग जाना है।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् साहित्यकार तथा कवि गेटे महाशय का कथन है कि संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है, पर सभी वस्तुओं के लिए कीमत चुकानी पड़ती है। यदि आप एक वस्तु चाहते हैं तो उसके लिए दूसरी वस्तु आपको खोनी पड़ती है। यदि आप धन, सम्पत्ति मान, बड़ाई चाहते हैं तो उसके लिए आंतरिक शान्ति खोन आवश्यक है, और यदि आन्तरिक शान्ति चाहते हैं तो धन, सम्पित्ति, मान, बड़ाई खोनी आवश्यक है। सभी वस्तुएँ किसी भी व्यक्ति को नहीं मिलती हैं। जिसको भूख लगती है उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के सुन्दर भोजन नहीं मिलते और जिन्हें अनेक प्रकार के भोजन मिलते हैं उन्हें पेट के रोग रहते हैं अर्थात् वे उन्हें खा नहीं सकते। उन्हें भूख न लगने की बीमारी रहती है। कितने ही निर्धनों को सन्तान बहुत अधिक रहती है और धनवाले या तो निःसंतान होते हैं या उनकी संतान मर जाती है अथवा स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हैं, जिसके संताप से धनी लोगों का हृदय तप्त रहता है। प्रत्येक प्रकार के लाभ के लिए त्याग करना पड़ता है और प्रत्येक त्याग का लाभ होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता है वह अपना मन उतना ही बली बनाता है और सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होने का भ गी होता है।

चिन्ता से मनुष्य को घबड़ाना कदापि न चाहिए, अपितु उसका सामना करना चाहिए। जब सभी लोगों को चिन्ता होती है तो हम क्यों उससे मुक्त होने की इच्छा करें—इस प्रकार की मनोवृत्ति चिन्ता की भयानकता को नष्ट कर देती है। मनुष्य जीवन ही चिन्तामय है। यदि मनुष्य को चिन्ता न हो तो उसका मानसिक विकास ही न हो। चिन्ता मनुष्य को सचेत बनाती है। जिस मनुष्य को जितनी प्रबल चिन्ता छोटी अवस्था में हो जाती है उसे अपनी बड़ी उमर में उतनी ही कम चिन्ता होती है। जिस प्रकार जटिल मानसिक या शारीरिक रोग जीवन की प्रारंभिक अवस्था में हो जाने से मनुष्य पीछे उसी रोग से बचने में समर्थ होता है, इसी प्रकार यदि मनुष्य अपनी किशोरावस्था में चिन्तारूपी रोग से गुजर जाय तो उसे उसकी प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में उसकी भयंकरता नहीं सताती। अतएव अपने हिस्से भर चिन्ता कर लेना ही भला है। कितने ही लोगों को अपने विद्यार्थी जीवन में अनेक प्रकार की चिन्तायें होती हैं। जो लोग इस अवस्था से निकल चुकते हैं उन्हें प्रौढ़ावस्था की चिन्तायें अधिक नहीं सतातीं और जिन्हें प्रौढ़ावस्था में चिन्तायें हो चुकी रहती हैं वे वृद्धावस्था में शान्तमय रहते हैं। जिन्हें बाल्यवस्था में चिन्तायें नहीं होतीं उन्हें प्रौढ़ावस्था में होती हैं और जिन्हें प्रौढ़ावस्था में नहीं होती उन्हें वृद्धावस्था में होती हैं। अतएव चिन्तावस्था को पार जब भी कर लिया जाय, अच्छा है।

धैर्य का अभ्यास

नवाँ प्रकरण

मानसिक रोगों की चिकित्सा के प्रयोग

शारीरिक रोगों की चिकित्सा

हमें कितने ही मानसिक रोगी ऐसे मिलते हैं जिन्हें किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक बीमारी का सन्देह रहता है। वे कितना ही अपने शरीर का डाक्टरों द्वारा निरीक्षण क्यों न करावें उनका सन्देह जाता नहीं। इतना ही नहीं, कितने ही लोगों को अपने कल्पित रोग से वैसा ही त्रास होता है जैसा कि वास्तविक रोगी को होता है। पेट का रोग और हृदय का रोग इसी प्रकार के रोगों में से हैं।

सन्देहजनित रोग

हृदय का रोग

लेखक को एक नवयुवक के हृदय और पेट के रोग की चिकित्सा करने का कुछ दिन पहले अवसर मिला। इस युवक की उम्र कोई बाईस वर्ष की थी। वह पेट में वायु बढ़ने का अनुभव करता था और साथ ही साथ उसके हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती थी। रोग इतना जटिल था कि उसके मारे रोगी को नींद तक नहीं आती थी। वह दिन-रात दुःख के मारे चिल्लाता रहता था। डाक्टरों के द्वारा शरीर की परीक्षा करवाने पर उसके रोग का कोई भी पता नहीं चलता था। रोगी को डाक्टरों से बड़ी चिढ़ थी। उसने एक प्रसिद्ध यूरोपियन डाक्टर की डाक्टरी चिकित्सा-पर एक पुस्तक का भली प्रकार से अध्ययन किया था। इस पुस्तक में लिखा था कि डाक्टर लोग रोग की वृद्धि करते हैं और रोगी को मार डालते हैं। उसने अनेक प्रमाण दे कर सिद्ध किया था कि मानव जाति का अनर्थ किस प्रकार

रोग का वर्णन

डाक्टरों के द्वारा होता है। अतएव यह युवक जो एक बड़ा विद्वान व्यक्ति है किसी भी डाक्टर की दवाई नहीं खाता था। कुछ होमियोपैथिक डाक्टर इसे अपनी गोलियों को पानी में मिला कर पिलाने लगे। इससे बचने के लिये उसके मन में सभी प्रकार के पेय पदार्थों के प्रति संदेह हो गया। वह अपने सामने दूध दुहाकर पीता था और कुँए से ताजा पानी भरवा कर पीता था। वह रखा हुआ दूध और पानी कभी नहीं पीता था।

वह बहुत ही परेशान था। गुस्से के मारे वह कभी-कभी घर के बर्तनों को तोड़-फोड़ देता था। एक बार एक व्यक्ति को, जो उसकी चिकित्सा करने आया था, उसने एक तमाचा मार दिया। उसका विश्वास हो गया था कि उसकी चिकित्सा कोई मनुष्य नहीं कर सकता है, स्वयं प्रकृति ही उसकी चिकित्सा कर सकती है। अतएव वह पहाड़ पर जाने के लिये बड़ा ही उतावला हो रहा था। पर वह अपने बिस्तर से उठ भी नहीं सकता था। उसे आराम कुर्सी पर बैठाकर इधर-उधर हटाया जाता था।

इस रोगी का प्रत्येक अंग डाक्टरी दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ था। कुछ लोग समझते थे कि वह रोगी बनने का ढोंग करता है, वास्तव में उसे कोई रोग नहीं है। उसके कुछ नजदीक के सम्बन्धी इसी विचार के थे और ये लोग उस के रोग की हँसी उड़ाते थे।

लेखक का इस युवक से पहले से ही परिचय था। युवक उसे प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। उसके रोग को देखने से किसी की समझ में कुछ भी नहीं आता था। रोग का प्रारम्भ आधी रात के समय जब वह सो रहा था एकाएक डर जाने से हुआ था। अतएव भूत-प्रेत में विश्वास करने वाले लोग इसे भूतबाधा कहते थे। इसके लिये देवी देवताओं की आराधना भी की जाती थी और शास्त्री लोगों से पाठ कराया जाता था। पर स्वयं रोगी इसमें कोई श्रद्धा नहीं रखता था। वह एक तर्कप्रधान वैज्ञानिक विधि से सोचने वाला व्यक्ति है, अतएव वह उन्हें व्यर्थ समझता था।

इस रोगी का रोग तीन साल पहले प्रारम्भ हुआ था, पर बीच-बीच में वह अच्छा हो जाता था। इस बार उसने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया था। अब उसके रोग के कारण घर भर के लोग परेशान हो गये थे। जिस

समय लेखक रोगी को देखने गया उस समय घर के सभी लोग उसे थे और वह बेचैन था। वह सोचने लगा था कि उसका बचना कठिन है। लेखक को देखते ही उसके मन में कुछ शान्ति-सी हुई। धीरे-धीरे दूसरे लोग उसके पास से हट गए। जान पड़ता था कि उस रोगी के मन में अनेक बातें हैं, जो वह दूसरों से कहना चाहता है, पर संकोचवश नहीं कह सकता।

लेखक ने इस रोगी पर पहले-पहल निर्देश विधि का ही प्रयोग किया। जिस प्रकार निर्देश-विधि को काम में लानेवाले चिकित्सक रोगी के ऊपर

उपचार

"पास" करते हैं, उसी प्रकार उसके ऊपर पास के रूप में हाथ फेरा गया। इससे उसको और भी अधिक सान्त्वना हुई और कुछ समय के बाद उसे नींद आ गई। इसके बाद घर के सभी लोगों का लेखक की क्रिया पर विश्वास हो गया। स्वयं रोगी की उस पर श्रद्धा बढ़ गई। अब वह लेखक के बिना रह नहीं सकता था।

धीरे-धीरे उसने अपने मन को खोलना आरंभ किया। लेखक ने उसे इस कार्य में प्रोत्साहित किया। उसे संदेह हो गया था कि वह नपुंसक हो गया है और उसकी शारीरिक शक्ति बिलकुल नष्ट हो गई है। इस प्रकार की धारणा का कारण उसकी किशोरावस्था में पड़ी हुई कृत्रिम रूप से वीर्यपात करने की आदत थी। वह बड़े धनी घर का बालक था। धनी घर के लोग कई प्रकार के तकिये काम में लाते हैं। ये बालकों की काम-प्रवृत्ति को उत्तेजित करते हैं। इन्हीं तकियों से जननेन्द्रिय के संघर्ष हो जाने से वीर्यपात हो जाता है। इस प्रकार वीर्यपात करने की आदत इस रोगी को १४-१५ वर्ष की अवस्था में लग गई थी। पीछे उसने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा कि जो व्यक्ति अपना वीर्यपात कृत्रिम रूप से करता है उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है, उसका शरीर निकम्मा हो जाता है और उसे अनेक प्रकार की बीमारियाँ घेर लेतीं हैं। इस प्रकार के विचारों से इस बालक को भारी धक्का लगा। उसे भय हो गया कि कहीं उसको भी उपर्युक्त बीमारियाँ न हो जाय। इससे उसकी वीर्यपात करने की आदत तो जाती रही, पर अब उसके मन में एक बड़ा ही घातक विचार बैठ गया। वह अपने सन्देह को किसी से कह नहीं सकता था। उसे विश्वास हो गया कि वह

नपुंसक और निकम्मा हो गया है। धीरे-धीरे उसकी स्मरण-शक्ति कमजोर हो गई और उसे पढ़ना-लिखना छोड़ना पड़ा। पीछे उसे पेट का रोग और हृदय के रोग उत्पन्न हो गये।

यह रोगी एक बड़े सुशिक्षित परिवार का व्यक्ति है। उसे शिष्टाचार की सभी प्रकार की शिक्षा मिली थी। अतएव उसके मन में अपने कुकृत्य के लिये आत्मग्लानि भी भारी हुई। बड़े घर का बालक होने के कारण वह अपनी शंका को किसी से प्रकाशित भी नहीं कर पाता था। अतएव उसकी मानसिक जटिलता बढ़ती गई। कुछ दिनों के बाद वह अपने मित्रों से अलग भी रहने लगा। जब उसका पढ़ना-लिखना छूट गया तो उसके साथ सहानुभूति दर्शाने-वाला भी कोई न रहा। रोगी के मन में एक प्रकार की गाँठ बन गई। उसके हृदय और पेट के रोग इसी गाँठ के प्रतीक थे।

लेखक ने रोगी को कई प्रकार के उदाहरण देकर समझाया कि उक्त प्रकार से वीर्यपात होना भी एक प्राकृतिक बात है और इससे न कोई व्यक्ति निकम्मा होता है और न उसे नपुंसकता आती है। पर उसका रोग इतने ही आश्वासन से नहीं गया। लेखक को उसके साथ पहाड़ों पर जाना पड़ा। पर धीरे २ उसके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। पीछे उसके पुराने मित्र उसके पास जाने लगे। अब उसने कई व्यक्तियों से मित्रता और बढ़ाली। कुछ दिन के लिये उसे एक मानसिक चिकित्सा-भवन में भेजा गया। यहाँ रहना उसे जेल के समान लगा। धीरे-धीरे उसने रचनात्मक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। अब उसका हृदय का रोग और पेट का रोग दोनों हो चले गये। वह इस समय शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब तक चिकित्सक पर रोगी की श्रद्धा नहीं रहती उसे कोई लाभ नहीं होता। इसी तरह चिकित्सक

चिकित्सक के प्रति श्रद्धा

यदि रोगी से प्रेम करता है, तो उसका रोग उसकी मैत्री भावना के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। रोगी में आत्मविश्वास का अभाव पाया जाता है। उसे चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती है। वह अपने आपको सँभाल नहीं सकता। उसे शुभ निर्देश देकर उसके मन में

आत्मविश्वास उत्पन्न किया जाता है। बहुत दिन का रोगी भाग्यवादी हो जाता है। उसे इस भाग्यवादिता से मुक्त करके उसे आत्म-निर्भरतावादी बनाना उसके स्वस्थ होने के लिए आवश्यक है। जब मनुष्य भाग्वादी हो जाता है तो अपने रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करना छोड़ देता है। जिस प्रकार भाग्यवादी व्यक्ति नियतिवाद के सिद्धान्त में विश्वास करता है, उसी प्रकार रोगी भी नियतिवादी होता है। यह अपने सभी दुःखों का कारण परिस्थिति में खोजने की चेष्टा करता है। जब वह परिस्थिति में ही अपने रोग का कारण पा लेता है तब उसे विचित्र आत्मसंतोष मिलता है। रोगी अपने रोग का कारण सदा अपने आप से बाहर ढूँढ़ता रहता है। इस तरह वह अपने रोग के लिये अपने-आपको निर्दोष तो सिद्ध करने में समर्थ होता है परन्तु इससे उसके रोग का विनाश नहीं होता। रोग तभी रोगी को छोड़ता है, जब रोगी अपने रोग से मुक्त होने का दृढ़ निश्चय कर लेता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि उसे चिकित्सक से तथा दूसरे लोगों से शुभ निर्देश मिलें और उसमें आत्मविश्वास आवे।

मनोविकार के रोगों की उत्पत्ति

हृदय के रोग से पिड़ित व्यक्ति प्रेम का भूखा रहता है। जब मनुष्य के प्रेम का किसी कारण से प्रसार नहीं होता और उसका अवरोध हो जाता है तो यह अवरोध विकार का रूप धारण कर लेता है। इससे हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अपने पेट में किसी गुप्त बात को रखना, अपनी शंका को छिपाना, किसी व्यक्ति के प्रति दुर्भावना रखकर उसे स्वीकार न करने से पेट का रोग उत्पन्न हो जाता है। इन दोनों रोगों का घनिष्ट सम्बन्ध मनुष्य की कामवासना और प्रेम की भूख से है।

प्लूरेसी का रोग

आरोग्य लाभ करने में आत्मनिर्देश का महत्व दर्शाते समय लेखक की एक छात्रा, कुन्तीनागर के प्लूरसी और क्षय रोग से मुक्त होने की चर्चा पहले की गई है। यह इतने महत्व का प्रयोग है कि उसका विस्तार पूर्वक वर्णन यहां करना अनुचित न होगा। इस रोग के उपचार में रोगी की भावनाओं में बड़ी सावधनी से परिवर्तन किया गया था और इसी के परिणाम स्वरूप वह एक घातक रोग से मुक्त हो गई।

इस छात्रा को प्लूरेसी का रोग अकस्मात हो गया था। इस छात्रा का पिता इसी रोग से मर गया था। छात्रा की अवस्था कोई २५ वर्ष की थी। उसने अभी तक वृद्ध पिता की सेवा करने के हितार्थ विवाह नहीं किया था। जब वह अपनी बीमारी से पीड़ित थी, लेखक उसे देखने गया। यह छात्रा बड़ी भावुक है, अतएव लेखक का विश्वास था कि इसके रोग का कारण किसी प्रकार के प्रबल भावों की अनुभूति होगा। जब लेखक उस छात्रा के पास गया तो उसने अपने मन की एक जटिल समस्या । उसने कहा कि मैं अपने पिता की स्मृति को भुलाना चाहती हूँ, यह स्मृति बहुत ही दुःखद है, पर मैं उसे भूलती नहीं हूँ। पिता की बीमारी और मृत्यु की स्मृति को भुलाने का क्या उपाय किया जाय?

लेखक ने उसकी मानसिक स्थिति समझ कर कहा कि उसे अपने पिता की स्मृति नहीं भुलाना चाहिये। यह पिता के प्रति एक प्रकार की कृतघ्नता होगी। उसे अपने पिता का स्मरण ही करना चाहिये और पिता जो उससे आशा करते थे उसे उसी आशा की पूर्ति करना चाहिये। वे देशभक्त थे और उन्होंने अपना सारा जीवन देश के कार्य में लगाया था। उसे भी पिता के समान देशसेवा में जीवन व्यतीत करना चाहिये। पिता को जीवित रखने की उसकी इच्छा व्यर्थ है। यह अपने स्वार्थ के लिए ही मनुष्य चाहता है। पिता वृद्ध हो चुके थे, अतएव टूटे-फूटे शरीर में उन्हें भटकाये रखने की इच्छा अच्छी नहीं है। उन्होंने पुण्य किया है, अतएव वे कहीं सुन्दर कुल में अवश्य जन्म लेंगे।

लेखक के उक्त विचारों पर उस छात्रा ने ध्यान दिया। इसके परिणामस्वरूप वह पिता की स्मृति भी भूल गई। अब उसे सब समय अपने पिता का ध्यान नहीं आता था। इस महिला का बीमारी का कारण भी पिता से उसका अत्यधिक आत्मसात् होना था। जब मनुष्य किसी व्यक्ति से अत्यधिक आत्मसात् कर लेता है, तो उसके गुण और अवगुणों को अपने अनजाने ग्रहण तो कर ही लेता है, उसके आरोग्य और रोग का भी वह अभिनय करने लगता है। इस प्रकार का अभिनय कभी-कभी व्यक्ति अपनी अचेतन अवस्था में करता है और कभी-कभी चेतनावस्था में करने लगता है। ऐसी अवस्था में जिस व्यक्ति का वह ध्यान करता है, उसका रोग वास्तव में उसके शरीर में उत्पन्न हो जाता है। यह

आत्मसात् अचेतन मन का व्यापार है, अतएव चेतन मन के समझाने-बुझाने से इस प्रकार रोग नष्ट नहीं होता। इसके लिये किसी ऐसी विधि का उपयोग करना पड़ता है जिससे आत्मसात् की स्थिति का अन्त हो। इसके लिये प्रिय व्यक्ति के प्रति विकर्षण और बैराग्य उत्पन्न करना आवश्यक होता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब छात्रा अपने पिता की मृत्यु की दुःखद स्मृति को भुलाने की चेष्टा करती थी तब वह उस स्मृति को नहीं भूलती थी। इस प्रकार के प्रयत्न से स्वयं उसे भी वही रोग हो गया जिससे उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। परन्तु जब उसने दुःखद स्मृति को भुलाने के बदले सदा स्मरण करने का चेष्टा की तो वह स्मृति चेतना से जाती रही और उसके रोग का प्रधान कारण भी इस प्रकार नष्ट हो गया।

छात्रा को प्लूरेसी की बीमारी के समय बहुत दर्द था। इस दर्द का अन्त आनापान सति के अभ्यास से किया जा सका। यह छात्रा पीछे लखनऊ के अस्पताल में भेजी गई। आनापान सति के अभ्यास के कारण वह अपनी मानसिक प्रसन्नता बनाये रखने में समर्थ हुई। इस प्रयोग से यह प्रत्यक्ष होता है कि रोगी का रोग चाहे जड़ से न जाय, आत्म-निर्देश के द्वारा हलका अवश्य हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आत्म-निर्देश के सफल होने के लिये दबे भावों के प्रति रोगी का दृष्टिकोण परिवर्तित होना तथा उनका रेचन होना नितांत आवश्यक है।

यह छात्रा पीछे भुआली भेजी गई थी। उससे पत्र व्यवहार आगे न रहने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त छात्रा का आत्मनिर्देश का अभ्यास कहाँतक जारी रहा। पर उसके आत्मनिर्देश का महत्त्व स्वस्थ हो जाने से यह निश्चित है कि रोग से मुक्त होने में आत्मनिर्देश ने उसकी अवश्य सहायता की। इस छात्र के रोग की विशेषता उसकी मानसिक परिस्थिति से उत्पत्ति थी। जब मनुष्य का अचेतन मन किसी कारणवश दूसरे व्यक्ति के साथ आत्मसात् कर लेता है तो दूसरे व्यक्ति के दोष और गुण उसमें चले आते हैं। इस पुस्तक के चौथे प्रकरण में आत्मसात् के कारण पैर में पीड़ा उत्पन्न होने की चर्चा की गई है। आत्मसात् के रोग तुरंत

अथवा बहुत दिन के बाद प्रकाशित होते हैं और इस प्रकार के रोग मानसिक अथवा शारीरिक रूप धारण कर लेते हैं। उक्त दृष्टान्त में रोग का बल मानसिक था, पर इस रोग ने शारीरिक व्याधि का रूप धारण कर लिया था। आत्मसात् करुणा, प्रेम, भय अथवा घृणा किसी भी प्रबल भाव के उत्तेजित होने पर हो जाता है*। जब तक आत्मसात् की ग्रन्थि नहीं खुलती, रोग का अन्त भी नहीं होता। यह कार्य धीरे-धीरे होता है। इसके लिये किसी भी मानसिक भाव का दमन न करके उसका रेचना करना आवश्यक है। यदि पहले से ही उक्त छात्रा के पिता के विषय में सावधानी के साथ चर्चा की जाती तो उसके आत्मसात् के भाव का रेचन हो जाता, और उसे उक्त रोग हीन होता, क्योंकि उसमें फिर अपने पिता के रोग का अभिनय करने की प्रवृत्ति न रहती। दमन से कोई भी प्रवृत्ति प्रबल होती है, उसके प्रकाशन और उसपर विचार करने से उसका बल क्षीण हो जाता है।

चेहरे का लकवा

गत वर्ष लेखक के एक छात्र की गर्दन में विशेष प्रकार का दर्द हो गया था। वह इसके कारण कई दिनों तक पढ़-लिख नहीं सका। जब वह अपनी प्रैक्टिकल की परीक्षा के लिये जा रहा था उस समय लेखक को इसका ज्ञान हुआ। इस छात्र से पूछने पर पता चला कि वह होमियोपैथिक चिकित्सा करा रहा है। उसे इस प्रकार का रोग एक साल पहले भी हुआ था जब कि वह अपनी किसी परीक्षा की तैयारी कर रहा था। इस छात्र की अवस्था कोई २८ वर्ष की थी। डाक्टरों ने कहा था कि यह चेहरे के लकवा की पूर्व अवस्था है।

लेखक ने इस छात्र को भी आनापान सति और मानसिक शान्ति का अभ्यास करने की सलाह दी। उसने यह अभ्यास किया। उससे दवाई छोड़ देने की सलाह नहीं दी गई पर उसने अपनी दवाई करना छोड़ दिया। इस अभ्यास के परिणाम-स्वरूप उसका गर्दन का रोग पूरी तरह से जाता रहा। वह खूब ठीक से पढ़ने लगा।

---

* भय के आत्मसात् से गेस्ट्राइटीज की बीमारी का उदाहरण होमरलेन ने दिया है।

जिस समय छात्र घर को जानेवाला था, उसी समय उसने अपना एक और रोग बताया। उसने कहा कि उसे नींद कम आने की भी बीमारी है। इसे हटाने के लिये उससे सोते समय मैत्री भावना का अभ्यास करने का आदेश दिया गया। मैत्री भावना के अभ्यास से उसे कुछ ही दिन में गाढ़ी नींद आने लगी। जब कोई मनुष्य आनापान सति अथवा मैत्री-भावना का अभ्यास करते-करते सो जाता है तो सुख की नींद सोता है और जब सोकर उठता है तो वह प्रसन्नचित्त रहता है। उसे भयानक स्वप्न नहीं होते, उसका मन प्रसन्न रहता है।

रोगी की अनिद्रा की बीमारी को जानकर, यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि कितने ही शारीरिक रोगों के पीछे मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। मानसिक रोग का ज्ञान रोगी को नहीं रहता। उसका शारीरिक रोग उसे ढँके रहता है। जब रोगी का शारीरिक रोग हलका पड़ता है तब उसे अपने मानसिक रोग का भी ज्ञान होता है।

मानसिक चिकित्सा का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि यह छात्र अच्छे दर्जे में अपनी ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा पास कर सका और उसका दृष्टिकोण सदा के लिये परिवर्तित हो गया।

आँख के रोग का उपचार

आँख के रोगों के मानसिक कारण भी होते हैं और इनका उपचार मानसिक विधि से होना संभव है। मैत्री भावना के अभ्यास से तथा शैथिलीकरण के अभ्यास से इस रोग से मुक्ति पाना कैसे संभव है यह लेखक के एक प्रयोग से स्पष्ट होता है। रोगी को आँख का रोग परीक्षा में बैठने के समय ही हो जाया करता था। वह इसके कारण एम० ए० की परीक्षा पास नहीं कर पाता था। उसके रोग का तथा उपचार का वर्णन उसने निम्नलिखित शब्दों में हाल ही में किया है—

"आज से कई वर्ष पहले मैं चक्षु रोग से पीड़ित था। वैसे तो बचपन से ही कुछ आँख की बीमारी से कभी कभी कष्ट पाता था। पर विशेषतः आँख आ जाने की यातना आकस्मिक न थी। लेकिन आँखों का स्वास्थ्य साधारणतः उत्तम ही था। किन्तु मानसिक गुत्थियाँ कुछ ऐसी हो गई थीं कि जब जब मैं

परीक्षा की तैयारी करता था अथवा उस ओर अग्रसर होता था तो कोई न कोई कठिनाई अवश्य आ जाती थी । फिर चश्मे का प्रयाग बताया गया । वह मेरे लिये लाभप्रद हुआ । एलोपैथी इत्यादि नाना प्रकार के उपचारों को अजमाया, परन्तु जब-जब परीक्षा समीप आती थी, आँख या मस्तिष्क में कोई न कोई कष्ट हो जाता था । किसी ने मेरे भाग्य के कारण, किसी ने नक्षत्रों की स्थिति और ग्रहदशा का कारण बताया । कोई कहता था कि पढ़ते-पढ़ते आँख खराब हो गई है । मैं हैरान था । ज्योंही परीक्षा का समय बीत जाता था, मैं पुनः चंगा हो जाता था, आँख की दशा सुधरने लगती थी ।"

"अजब हाल था । चाँद के चार कोने दिखाई पड़ते थे । धीरे-धीरे दो चाँद, चार चाँद तथा दस-बारह चाँद एक के नीचे दूसरा और तीसरा, इसी भाँति क्रमशः दिखाई पड़ने लगा । बिजली के बल्ब के नीचे एक प्रकाश-दण्ड करीब पाँच फीट लम्बा दिखाई पड़ने लगा । मैं जीवन से निराश था । प्रतिदिन मैं कहता था कि मुझे कोई चक्षुरोग नहीं, फिर यह दृष्टिरोग कैसा । मैंने खेराबाद (सीता पुर), पटना तथा लखनऊ की यात्रा की । डाक्टरों से आश्वासन पाकर सांत्वना नहीं हुई । वे मेरी किञ्चिन्मात्र सहायता नहीं कर सके । बहुमूल्य चश्मे भी मैंने दो तीन लिये, पर लाभ न हुआ ।"

"अन्त में मैंने आपके बताये शैथिलीकरण का अभ्यास किया तथा 'सोऽहं' भावना का जप किया । प्रत्येक अवस्था में अपने आपको सुखमय समझना और किसी प्रकार भी उद्विग्न हुए बिना मन में शान्ति स्थापित रखना मेरे लिये अतीव सुखकर प्रतीत हुआ । शैथिलीकरण को मैं जितना ही अपनाता गया उतना ही मैं सुखी प्रतीत होने लगा । दूसरे लोगों के परीक्षा-सम्बन्धी कटाक्ष अब बिलकुल ही तीव्र नहीं दिखाई देते थे । आर्थिक कठिनाइयाँ भी अब उतनी तीव्र नहीं मालूम पड़ती थीं । जीवन में अब आशा का संचार हो गया ।"

"आँख की अवस्था अब तीव्र गति से सुधरने लगी । निर्भीकता बढ़ती गई । जो सहपाठी परीक्षाओं को देकर मुझसे योग्यता या सनदों में आगे बढ़ गए थे, उनसे मिलने में भी अब झेंप नहीं मालूम पड़ती थी । अब समय बदल गया, दुःख के बादल हट गए ।"

"शैथिलीकरण के अभ्यास से जिस परीक्षा से मैं डरा करता था और रोग के आक्रमण का प्रतीक्षा करने लगता था, वह भय और रोग के आक्रमण की प्रतीक्षा का भाव जाता रहा। अन्त में मेरा मस्तिष्क बली हो गया तथा रुधिर चांप भी कम हो गया। अन्त में मैं एम० ए० की परीक्षा में बैठा। इस इस बर मेरा मन शान्त था। मैं शैथिलीकरण के अभ्यास को करता रहा और उक्त परीक्षा में, द्वितीय श्रेणी में मैं उत्तीर्ण हो गया। परीक्षा में मुझे उच्च कोटि के अंकों की उपलब्धि हुई।"

बाध्य विचार का निवारण

कुछ वर्ष पूर्व लेखक के पास एक ऐसा नवयुवक आया जिसे फाँसी होने की झक सवार हो गई थी। वह जितना ही इस विचार को अपने मन से निकालने की चेष्टा करता था उसका विचार और भी अधिक प्रबल हो जाता था। वह साधारणतः स्वस्थ था और गल्ले का रोजगार करता था। इसमें वह कुशल था। पर बीच-बीच में फाँसी का विचार उसे सताया करता था। कभी-कभी यह विचार इतना प्रबल हो जाता था कि उसके कारण वह कोई काम नहीं कर सकता था। इस विचार से परेशान होकर कभी-कभी रोगी आत्म-हत्या करने को भी सोचता था। रोगी ने कई वकीलों से फांसी होने के अपराधों के बारे में पूछा पर सभी ने बताया कि उसे इसका भय होना निरर्थक है। उसकी झक थी कि मुझे भंगी झाड़ू मार देगा और फिर मुझे फांसी हो जावेगी।

रोग का लक्षण

उक्त झक के प्रारम्भ होने का इतिहास रोगी के अनुसार निम्नलिखित था—एक बार रोगी की अपने घनिष्ठ मित्र से लड़ाई हो गई; इस पर उक्त मित्र ने उसे कई तरह की गालियाँ दी और उसे बेइमान बताया। उसने उक्त रोगी को जूतों से पिटवाने की धमकी भी दी। इस पर रोगी ने एक दिन बाजारमें दूसरे लोगों से उस मित्र को जूतों से पिटवाया। इस घटना

रोग का कारण

❀ इस पत्र के लेखक का नाम श्रीशिवनाथ ग्वाल है।

के बाद रोगी को भारी आत्मग्लानि हुई और उसे मानसिक बेचैनी रहने लगी।

एक दिन एक व्यक्ति जिसने किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या की थी, रोगी के घर रात को ठहर गया। इसके कुछ दिन बाद इस बात का पता पुलिस को चला और रोगी के घर की तलाशी ली गई। रोगी को भय हो गया कि कहीं वह भी उक्त अपराधी के हत्या के जुर्म की साजिश में न पकड़ा जाय। पर ऐसा न हुआ। रोगी ने जब उसे अपने घर ठहराया था, उसके अपराध का उसे ज्ञान ही न था। कुछ दिन तक उसे यह भय परेशान करता रहा की पुलिस उसी को अपराधी मानकर उसे दण्डित न करा दे। इस समय कई प्रकार की बुरी-बुरी कल्पनायें उसके मन में आती रहीं। पीछे यह विचार शान्त हो गया।

पर एक दिन एक मेहतर को उसने अपने घर के सामने झाड़ू लगाते देखा। उसके मन में कल्पना आई कि यदि भंगी मुझे झाड़ू न मार दे तो मुझे फांसी लग जायगी। यह विचार सर्वथा युक्तिहीन था, पर उसे छोड़ता न था। अकारण ही यह विचार उत्पन्न हो गया था।

इस रोगी को अपने पुराने मित्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उससे न केवल माफी माँगने को कहा गया, वरन् उसे पैसा रुपया भी देकर तथा उसका सम्मान बढ़ा कर उसका संतोष करने के लिये आदेश दिया गया। साथ ही साथ प्रतिदिन दान करने का अभ्यास करने को कहा गया। रोगी ने इस आदेश को माना और इसके परिणामस्वरूप उसका अभद्र विचार नष्ट हो गया। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वास्तविक भलाई के काम और भलाई करने की कल्पना दोनों से ही लाभ होता है।

रोग का उपचार

क्षय रोग का भय

क्षय रोग का भय बहुत से नवयुवकों और नवयुवतियों को अकारण ही हो जाता है। इस प्रकार का भय कभी-कभी आन्तरिक मन द्वारा उनके आवाहन का सूचक होता है। इस प्रकार का भय आन्तरिक संघर्ष का परिणाम होता है।

रोगी अपने कल्पित दोष के लिये अपनी आत्मभर्त्सना करता है और जब वह इस विचार को भुलाने की चेष्टा करता है तो उसे क्षय रोग हो जाने की कल्पना विचार बन कर त्रास देने लगती है। यहाँ पर दो एक ऐसे उदहरण दिये जाते हैं जिनमें रोगी को वास्तविक क्षयरोग नहीं था, जब शरीर की परीक्षा करवाते तो क्षय रोग का प्रजरण नहीं पाते थे। वे इस बात को जानते भी थे, तिस पर भी क्षय रोग की कल्पना सदा उन्हें त्रास देती रहती थी—

लेखक की एक छात्रा को क्षय रोग का भय हो गया। वह स्वयं जानती थी कि उसे यह रोग होना संभव नहीं, पर तिस पर भी उसका मन मानता नहीं था। उसने अपने शरीर की परीक्षा डाक्टरों से कराई। उन्होंने रोग के कोई लक्षण न पाये, पर क्षय रोग का भय एक झक के रूप में उसे उपस्थित हो गया। क्षय रोग के विचार ने उसे ऐसा पकड़ा कि उसके कारण वह पढ़-लिख नहीं सकती थी। वह पढ़ने-लिखने में बड़ी तेज थी और खूब परिश्रम करती थी। पर क्षय रोग का विचार अब उसे परिश्रम नहीं करने देता था। वह अपने विचार से परेशान हो गई।

इस महिला ने लेखक के मनोविज्ञान के व्याख्यानों में मानसिक झंझटों का वृत्तांत सुना था। अतएव जब परीक्षा की तैयारी का समय आया और उसकी मानसिक झंझट जटिल हो गई जिसके कारण वह परीक्षा के लिये तैयारी नहीं कर पा रही थी, वह लेखक के पास आई। लेखक ने उसकी बीमारी का सारा वृत्तांत सुना। उसका कथन था कि उसे विश्वास नहीं है कि उसे क्षय रोग है। वह खूब मोटी ताजी है ही और भोजन भी ठीक से करती है। एक डाक्टर को छोड़ किसी ने उसके शरीर में क्षय रोग नहीं बताया। पर तिस पर भी क्षय रोग का विचार उसे नहीं छोड़ता। जब शाम होती तो उसका ध्यान थरमामीटर पर चला जाता है और उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे थरमामीटर उठाकर शरीर का ताप देखना पड़ता है। कभी-कभी एक आध डिगरी ताप अधिक दिखाई पड़ जाता है। जब तक वह थरमामीटर से ताप नहीं देख लेती। तब तक उसे चैन भी नहीं मिलती। उसका कथन था कि इस प्रकार की मानसिक स्थिति से तो मर जाना ही अच्छा है।

इस महिला से कुल तीन बार बातचीत करने का अवसर मिला। दूसरी बातचीत में उसने अपनी अनेक त्रुटियों से मुक्त होने का उपाय पूछा। उसे आत्मग्लानि इस बात की थी कि वह कभी-कभी दूसरों का अकल्याण भी चाहती है। एक बार उसकी एक दूसरी महिला से लड़ाई हो गई थी। उसने इसे खूब खरा-खोटी सुनाई थी। उसका दोष नहीं था। इसके मन में भी क्रोध के भाव आते थे पर उन्हें दबा दिया जाता था। इस पर उसकी साथी महिलाओं ने उसे बुरा कहा। पीछे झगड़नेवाली महिला की लड़ाई दूसरी किसी महिला से हो गई। इस बार उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। इससे भीतर ही भीतर उक्त छात्रा प्रसन्न होती थी। पीछे उसे यह आत्म-भर्त्सना होने लगी कि वह इतनी नीच है कि दूसरे का पतन चाहती है। इस विचार के पश्चात् ही उसे क्षय रोग की झक सवार हुई।

इस महिला को आश्वासन दिया गया कि उसकी नैतिकता नीच कोटि की नहीं है। अपने शत्रु का पतन चाहना स्वाभाविक है और यदि ऐसा विचार आ जाय तो उसके लिये आत्म-ग्लानि का करना व्यर्थ है। यह कोरा अहंकार मात्र है कि मैं सबसे पवित्र व्यक्ति हो जाऊँ। मानसिक क्रियायें और प्रतिक्रियायें हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करतीं। उनके नियम भौतिक जगत् की घटनाओं के नियमों के सदृश अचल हैं। अतएव अपने विचार और आचरण का सुधारना हमारा काम है न कि किसी बुरे विचार के लिये आत्मग्लानि की अनुभूति करना। इससे इच्छाशक्ति और भी कमजोर हो जाती है। इस महिला से उक्त महिला के प्रति, जिससे वह झगड़ी थी मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। अभी रोग ताजा ही था, अतएव दो दिन के अभ्यास के पश्चात् ही क्षय रोग की झक नष्ट हो गयी। पीछे इस महिला ने इतना अध्ययन किया कि वह प्रथम श्रेणी में बी० टी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई। इस महिला को अव्यवहार्य आदर्श-वादिता का रोग था। जब कोई मनुष्य अपने क्रोध के विचारों की स्वीकृति अपने आपके प्रति नहीं करता तो ये विचार किसी प्रकार के पेट के अथवा हृदय और फेफड़े के रोग का रूप धारण कर लेते हैं।

क्षयरोग के भय अथवा शंका का एक दूसरा उदाहरण लेखक की चिकित्सा में आये एक नवयुवक का है। यह नवयुवक लेखक का पुराना छात्र था। इसने एक वर्ष पूर्व कल्पित रोगों के कारण और उनके उपचार के विषय में लेखक के कुछ व्याख्यान सुने थे। अतएव जब उसे भी क्षय रोग की कल्पना सताने लगी और बहुत प्रयत्न करने पर भी जब वह नहीं छूटी तो वह लेखक के पास आया। इस बीच उसका स्वास्थ काफी बिगड़ चुका था, वह अपने स्वास्थ को सुधारने के लिये दवाई भी काफी करा चुका था।

जब रोगी लेखक के पास आया तो लेखक ने उसकी मानसिक परिस्थिति से भली भांति परिचित होने की चेष्टा की। इस युवक को रोगी होने के पूर्व अपनी आजीविका के विषय में पर्याप्त चिन्ता रह चुकी थी। उसने नौकरी पाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह विफल ही रहा। वह एक राष्ट्रीय विद्यालय की ऊँची से ऊँची परीक्षा पास कर चुका था। उसके साथी दो अढ़ाई सौ रुपया मासिक वेतन पा रहे थे, पर उसे अभी तक कोई नौकरी नहीं मिली थी। इससे उसका मन बहुत ही दुःखी था। पर अब बीमारी के समय वह दुःख भूल सा गया था।

प्रारंभ से ही रोगी कुछ शंकायुक्त मन का था। उसका स्वास्थ भी पहले से ही कुछ मंदा ही रहा। उसे पिछले जीवन का अनुभव था कि उसकी बीमारी की अवस्था में उसके घर के लोग उसके साथ अधिक सहानुभूति दिखाते हैं। इस सत्य को जानकर लेखक को रोगी के रोग का प्रधान कारण स्पष्ट हो गया। यहां रोगी जीवन से निराशसा हो गया था। अब रोग का आवाहन करके वह अपने जीवन की जिम्मेदारियों से बचना चाहता था। रोगी मनुष्य से बड़ी बड़ी आशायें कोई नहीं रखता। अतएव रोगी के अचेतन मन ने क्षय-रोग की कल्पना को पकड़ लिया। संभव है यदि यह कल्पना रोगी को बहुत दिन तक रहती तो वास्तव में उसे क्षय रोग ही हो जाता। भोजन में अनेक प्रकार के परहेज तो प्रारंभ कर ही दिये थे। उसे अनेक पदार्थ पचते नहीं थे। वह सभी चीजे डर कर खाता था। उसे बार बार कुपच हो जाता था।

रोग का कारण जानकर लेखक ने रोगी की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति के प्रति सहानुभूति दर्शाई। उसे अपने .रोजगारी का इतिहास भी सुनाया। उसे बताया कि पढ़ना उसका कर्तव्य था, रोजगार पाना यह उसका कर्तव्य नहीं। हाँ, उसको हाथ का काम न छोड़ना चाहिये। जो भी काम सामने हो उसे पूरे मन से करना चाहिये। वह देशभक्त है, अतएव रोगी को यदि काम नहीं मिलता तो देश-सेवा का कोई भी काम उसे ले लेना चाहिये। उसके गांव में यदि स्कूल हो तो उसमें अध्यापन का काम उसे प्रारंभ कर देना चाहिये।

इस सलाह को देने के पूर्व लेखक ने रोगी को अपने मन की सभी बातें खोलने को कहा। उसकी भावात्मक घटनाओं को सुना। उसे प्रत्येक बार अपने घर पर अपने साथ भोजन कराया। इस भोजन के समय वह अपने परहेजों को भूल जाता था और जिस पर भी उसका स्वास्थ नहीं बिगड़ता था। जिस दिन रोगी लेखक के पास आता कई घंटों तक उससे बातचीत होती रहती थी। इस बातचीत में रोगी अपनी कामवासना सम्बन्धी अनुभवों को कह जाता था। इस रोगी को 'आधुनिक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पढ़ने को दी गई और उससे उसमें दिये गये उदाहरणों से अपने जीवन को मिलाने को कहा गया। फिर उससे हर भावात्मक घटना को लिखवाया गया। इस प्रकार उसने अपनी जीवनी को लिखा। (परिशिष्ट 'अ' देखिये) उसके स्वप्नों का अध्ययन किया गया और उसपर बातचीत की गई।

इन सब कार्यों का फल यह हुआ कि रोगी का मन आशावादी हो गया। वह सोचने लगा कि मैं निकम्मा व्यक्ति नहीं हूँ। मुझे में भी बड़ी शक्ति और योग्यता है। मुझे चाहिये कि उसका अभी से सदुपयोग करूं। लेखक ने रोगी को कुछ लड़कों को पढ़ाने, उन्हें कुछ मिठाई बाँटने की सलाह दी। यह रोगी करने लगा। फिर उसने अपने गाँव के स्कूल में अवैतनिक कार्य करना प्रारंभ कर दिया। उसके पिता इस स्कूल के प्रबंध कारणी समिति के सदस्य हैं, अतएव उनके पुत्र की अवैतनिक सेवा से कमेटी के लोग प्रसन्न हुए। अब तो पुत्र की गांव में प्रशंसा होने लगी। वह पूरे मन से स्कूल में पढ़ाता, इससे विद्यार्थी उसकी .प्रशंसा करते और अवैतनिक

कार्य करने के लिये गांव के लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। उसका खोया हुआ आत्म विश्वास फिर उसमें आ गया। धीरे धीरे उसका स्वास्थ बिलकुल सुधर गया और उसका क्षय रोग का भय न जाने कहां चला गया। उसका शारीरिक दौर्बल्य भी दूर हो गया।

लेखक ने इस रोगी के साथ एक ही थाली में कई बार भोजन किया। यह जानबूझ कर किया गया था, ताकि रोगी का क्षय रोग का भ्रम दूर हो जाय। क्षय रोग के रोगी के साथ बाहर का कोई मनुष्य खाने की हिम्मत नहीं करता, क्योंकि क्षयरोग संक्रामक माना जाता है। जब रोगी ने देखा कि उसके चिकित्सक को उसके साथ एक ही थाली में भोजन करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है तो उसका यह निश्चय पक्का हो गया कि उसका क्षयरोग का विचार केवल कल्पना मात्र है। इस प्रकार यदि रोगी के प्रति प्रेम व्यवहार किया जाय तो उसका खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर आ जाता है और उसका भय नष्ट हो जाता है। इस रोगी के उपचार में रेचन और निर्देश दोनों विधियों से काम लिया गया। यहां यह स्पष्ट हो जाता है चिकित्सा के सन्निर्देश रोगी को स्थायी लाभ तभी पहुँचाते हैं जब रोगी अपने आपको चिकित्सक के प्रति पूरी तरह खोल देता है तथा वह उसके प्रति अपना आत्म-समर्पण कर देता है, और जब चिकित्सक कभी उसके प्रति अपना पूरा प्रेम रखता है।

न्यूरेस्थेनियाँ (मानसिक थकावट)

लेखक को हाल ही में एक मानसिक थकावट और अशान्ति के रोगी का उपचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। रोगी की अवस्था तीस वर्ष की है। उसके चार बच्चे हैं। पारिवारिक जीवन सामान्य है। वह चिन्तनशील व्यक्ति है और आदर्शवादी है। वह उपवास, साधना और देवी-देवताओं की पूजा में विश्वास करता है। उसका नैतिक जीवन उच्च कोटि का है।

रोग के बाह्य लक्षणों में शारीरिक कमजोरी और थकावट विशेष है। रोगी को नींद खूब आती है, पर सो कर उठने पर वह थकावट का अनुभव करता है। उसकी इच्छा घर से बाहर निकलने की नहीं होती। वह

कर्तव्यपरायण व्यक्ति है, अतएव अपने दफ्तर में अपनी ड्यूटी करने जाता है, पर उसका मन किसी भी काम करने में नहीं लगता। सभी काम भार-रूप दिखाई देते हैं। किसी भी बात में उत्साह नहीं होता। किसी से बातचीत करने तक की इच्छा नहीं होती।

रोगी अपनी इस प्रकार की स्थिति के प्रारंभ का समय पहले नहीं बता सका। पर पीछे अधिक पूछताछ करने पर उसे ज्ञात हुआ कि कोई बीस दिन से उसकी अवस्था बुरी हुई है। अब रोगी से अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चर्चा की गई और उनके रोग के निवारण में आत्म-स्वीकृति की महत्ता दर्शायी गई। उसे कई प्रकार से समझाया गया कि संत लोगों की पाशविक भावनायें दबी हुई रहती हैं, इसलिये उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको समझना और स्वीकार नहीं करना चाहता वह मानसिक रोग से मुक्त नहीं हो सकता। उन्हें कामवासना के दमन के कारण मानसिक रोग की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण सुनाये गये और बताया गया कि प्रतिभावान लोगों में कामवासना प्रबल होती है। इस पर रोगी ने अपने रोग की वृद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली निम्नलिखित घटना को कह सुनाया—

रोगी के घर पर एक अविवाहित युवती आती रहती थी। इस महिला के प्रति उसका सदा सद्भाव रहा है। जैसा उच्च आदर्श के व्यक्ति का ऐसी महिला के प्रति आचरण होना चाहिये वैसा ही उसका उस महिला के प्रति आचरण था। वह महिला पढ़ी-लिखी है। एक दिन उसने रोगी को अपना एक सुन्दर रूमाल दिया। रोगी ने उसके रूमाल देने का कारण पूछा। उसने कहा कि रोगी के पास रूमाल नहीं है इसलिये वह उसको रूमाल दे रही है। रोगी ने कहा कि मुझे रूमाल की आवश्यकता नहीं है, पर उक्त महिला ने कहा कि तब भी उसे वह रख ले। रोगी ने रूमाल को महिला का प्रेम-उपहार समझकर उसे न लेने की जिद की और उस महिला ने उसे देने की जिद की। रोगी ने अपने जेब से एक रूमाल उस महिला को दिखाया और कहा "मेरे पास रूमाल है, तुम्हारे रूमाल की मुझे आवश्यकता नहीं है।" ऐसा कहकर उसने उस रूमाल को उस महिला को बरबस वापस कर दिया।

इस घटना के पश्चात् उस महिला के जीवन में एक विचित्रसा परिवर्तन हो गया। उसने रोगी के घर आना-जाना और उसकी किसी प्रकार की चर्चा करना छोड़ दिया। पर वह अब उन्मादग्रस्त हो गई। वह अनेक प्रकार की बातें बड़बड़ाने लगी। कभी वह रोती, तो कभी हँसती ही रहती थी और कभी अन्यमनस्क होकर एक कोने में बैठ जाती थी। इन सब बातों का पता रोगी को अपने घर के लोगों से चलता रहा। इसी समय रोगी का रोग भी प्रबल हो गया। चिन्ता और थकावट की प्रवृत्ति तो पहले से ही थी पर वह अब बढ़ गई।

महिला कुछ दिन तक विक्षिप्त-सी रहने के पश्चात् एक भारी शारीरिक रोग से ग्रसित हो गई। उसे विषम ज्वर (टाइफाइड) हो गया। जिस समय लेखक को रोगी ने यह कथा सुनाई उस समय वह १५ दिन से बीमार पड़ी हुई थी। रोगी कभी-कभी उसकी खबर पूछने उसके घर पर जाता और उसे देखता भी था, पर वह महिला उसके प्रति उदासीनता का व्यवहार करती थी।

रोगी से इसी बीच स्वप्न पूछे गए। उसने अपने अनेक स्वप्न सुनाये। वह अपने स्वप्नों में अपने-आपको किसी अन्धकारमय कन्दरा में घुसते हुए पाता था। कभी-कभी वह ऐसे मन्दिर का स्वप्न देखता जिसका ऊपरी भाग तो स्पष्टतः दिखाई देता है पर भीतरी भाग नहीं दिखाई देता। उसने एक स्वप्न में देखा कि कोई व्यक्ति उसे अन्धकार के रास्ते से एक मकान के भीतर ले जा रहा है। वह साथी कहता है कि जो कुछ तुमने मकान के बाहर देखा, वह जो तुम भीतर देखोगे, उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। वह मकान के आन्तरिक भाग तक पहुँचने के पहले जाग जाता है।

रोगी को बताया गया कि उसके स्वप्न उसके आध्यात्मिक-विकास को लक्षित करते हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग तथा उसकी अड़चनों को दर्शाते हैं। वे आत्म-शिक्षा के रूप में ही आते हैं। स्वप्न का यह अर्थ रोगी को स्वीकार हुआ। रोगी को बताया गया कि वे उसे दर्शाते है कि जिस आदर्शवादिता से वह बँधा हुआ है और जिसे उसने जीवन का सार भाग समझ लिया है वह उसका बाह्य आडंबर मात्र है। सच्चा प्रकाश और सौन्दर्य भीतर है। उसने अपने एक स्वप्न में यह भी देखा था कि अन्धकारमय मार्ग के अन्त में बहुत

दूर शिवजी की मूर्ति रखी है। वास्तव में यह शिवजी की मूर्ति शान्ति की प्रतीक थी।

रोग के उपचार के लिए रोगी को उक्त महिला के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करने को कहा गया। उसे शैथिली करण की प्रक्रिया बताई गई और आनापानसति का अभ्यास करने का भी आदेश दिया गया। इसके तीन दिन के बाद जब रोगी फिर आया तो उसका मानसिक रोग बहुत कुछ हल्का हो गया था। उसने कहा कि पहले दिन तो उसे ऐसा ज्ञात हुआ कि मानो मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया हूँ, पर पीछे उसकी वैसी शान्ति की अवस्था न रही। वह फिर बेचैनी का अनुभव करने लगा।

इसके बाद रोगी से आत्म-रेचन का प्रयोग करने को कहा गया। अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक आने-जाने को छुट्टी देकर अपने-आपको साक्षी भाव में रखने का अभ्यास करने का आदेश दिया गया। रोगी को फिर उस महिला के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तन करने को कहा गया। रोगी इस महिला को घृणा की दृष्टि से देखने लगा था। ऐसा भाव अपने-आपमें प्रेम के विकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। उसे वासवदत्ता के उपगुप्त के प्रति प्रेम की चर्चा सुनाई गई। उसे बताया गया कि रोगी व्यक्ति की सेवा करके हम अपने प्रेम को परिष्कृत कर सकते हैं और दूसरे व्यक्ति को भी ऊँचा उठा सकते हैं। हमसे प्रेम करनेवाले व्यक्ति के प्रति हमारा घृणा का भाव नहीं होना चाहिए, वरन् सेवा का भाव होना चाहिये। किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव होना अपने ही विचारों की मलिनता दर्शाता है। रोगी को आदेश दिया गया कि वह उस महिला को रोग से मुक्त होने के लिये कुछ प्रयत्न करे। उसके लिये डाक्टर-वैद्य आदि बुलाये और उस महिला को यह दर्शाये कि वह उसका कल्याण चाहता है। अन्त में उससे कह दिया गया कि जब वह महिला पूर्ण स्वस्थ हो जावेगी तो उसका मानसिक रोग भी नष्ट हो जावेगा। अतएव उसे उस महिला के आरोग्य होने के लिये शुभकामना भेजनी चाहिये।

वास्तव में महिला के विचार ही उक्त रोगी को प्रभावित कर रहे थे। रोगी नहीं जानता था कि उसकी नैतिक बुद्धि उसे यह स्वीकार नहीं करने देती थी कि उसका हृदय उस महिला के प्रति आकर्षित हो गया है। उसके मस्तिष्क

और हृदय में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती थी और उसे रुकावट का अनुभव होता था। यह अन्तर्द्वन्द्व कभी भी ज्ञात मन के स्तर पर नहीं आता था, अतएव रोगी उसे जानता भी नहीं था। अन्तर्द्वन्द्व का आरम्भ रूमाल की घटना के पहले से ही हो चुका था। रूमाल की घटना ने उसे एक विशेष रूप दे दिया था और उसे भीषण बना दिया था।

आत्म-स्वीकृति करने से इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व बहुत कुछ नष्ट हो जाते हैं। पर साथ ही साथ अपने दृष्टिकोण का परिवर्तन करना भी आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि अपने आचरण में भी परिवर्तन किया जाय। मानसिक भावों का रेचन, उनके प्रति अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन और आत्म-स्वीकृति मात्र से हो जाता है। आचरण में अनैतिकता लाने से फिर नई मानसिक व्याधियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

उक्त रोगी ने लेखक के आदेशानुसार अपना दृष्टिकोण बदला और आत्मरेचन की प्रक्रिया का करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसके स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। उसकी थकावट और मनहूसियत जाती रही और उसके चेहरे पर प्रसन्नता आ गई।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी भी मानसिक रोग का निवारण एकाएक नहीं होता। स्थायी लाभ धीरे धीरे होता है।

नपुंसकता और शक्ति ह्रास का भय

कितने ही किशोर बालकों को अपने नपुंसक हो जाने का तथा मानसिक शक्ति के नष्ट हो जाने की कल्पना अथवा भय त्रास देते हैं। जिस व्यक्ति को यह भय होता है वह अपने आपको छोटी छोटी सी बातों के लिये कोसा करता है। किसी काम को लेते ही उसके मन में विचार आता है कि वह उसे न कर पावेगा, नये काम को हाथ में लेते ही अनेक कल्पित नैतिक बाधायें भी उसके मन में आने लगती हैं। इसके कारण वह सदा मानसिक डावांडोल की स्थिति में बना रहता है। वह कभी कभी सोचने लगता है कि वह निकम्मा हो गया है। इस प्रकार का मनोभाव 'मानसिक नपुंसकता' कहा जा सकता

है। यह शारीरिक नपुंसकता से भिन्न वस्तु है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का भय हो जाता है वह दूसरों से अपने आपको छिपाने की चेष्टा करता है। अतएव उसकी मानसिक ग्रन्थि जटिल होती जाती है। यदि वह अपने आपको अपने किसी व्यक्ति के समक्ष का खोल दे तो उसका सारा भ्रम और भय नष्ट हो जाय।

नपुंसकता के भय की मानसिक अवस्था में मनुष्य आत्म-भर्त्सना का अनुभव करता है, उसके मन में अपने से बड़े लोगों के प्रति झिझक रहती, वह युवतियों से सहज भाव से नहीं मिल सकता, वह अपनेआप में अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना किया करता है, उसे अपनी जननेन्द्रिय छोटी दिखाई देने लगती है। ऐसे व्यक्ति अपनेआप में स्मृति का ह्रास, सभा में बोलने में कठिनाई, सभा में बोलते समय हृदय का कम्पन का अनुभव करता है। इस प्रकार का रोग प्रायः किशोर बालकों को हो जाता है। यह युवाकाल में भी जारी रहता है। इसके कारण व्यक्ति लड़कियों से मिलने अथवा विवाह करने से विरत रहता है।

नपुंसकता और शक्तिह्रास के भय के कारण मनुष्य का मानसिक विकास रुक जाता है। वह अपने आप में अनेक प्रकार की कमियों की कल्पना करने लगता है। वह सोचता है कि उस में कोई सुधार हो जाना असम्भव है अतएव कभी कभी वह आत्म-हत्या की भावना भी अपने मन में लाता है। ऐसे व्यक्ति अपने रोग की चर्चा किसी से नहीं करते। वे अपनी आत्म-यंत्रणा को अपने आप सब के अनजाने भोगते रहते हैं। उन का धीरे धीरे समाज से सम्पर्क छूटते जाता है। उनका स्वभाव घूना हो जाता है। यदि ऐसे व्यक्तियों की समय पर चिकित्सा न हुई तो वे अपने आपको वास्तव में निकम्मा बना लेते हैं और कभी कभी आत्म-यंत्रणा से बचने के लिये आत्म-हत्या भी कर लेते हैं।

नपुंसकता तथा शक्ति ह्रास भय का कारण प्रायः हस्तमैथुन की आदत और समलिंगी काम कृत्य होते हैं। इन के कारण स्वप्नदोष की वृद्धि हो जाती है। फिर रोगी सोचने लगता है कि उसका सभी तत्व चला गया है और वह अब शक्तिहीन हो चुका है। वह हस्तमैथुन को न करने का संकल्प प्रतिदिन

करता है, पर फिर भी उसे करते ही रहता है। इस प्रकार वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की अभद्र कल्पना उसके मन में उठ आती है और फिर वह उसके मन से नहीं जाती। ऐसा व्यक्ति अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रहपाता। अतएव उसका मानसिक विकास सभी प्रकार से रुक जाता है। यदि ऐसे व्यक्ति को उसकी भ्रमात्मक कल्पनाओं से मुक्त कर दिया तो उसका खोया हुआ बल फिर आ जाता है। मनुष्य जैसी कल्पना अपनी मानसिक शक्तियों के विषय में करता है, उसकी शक्तियाँ उसी प्रकार बन जाती है। आत्म-विश्वास के अभाव में शेर भी मेमना बन जाता है और आत्मविश्वास के होनेपर मेमना शेर का काम कर जाता है।

यहाँ उक्त भ्रम से पीड़ित कुछ विद्यार्थियों के रोग का वर्णन दिया जाता है। इसके कारण वे अपने आप में अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोगों का अनुभव करने लगे थे। इन व्यक्तियों के रोग का उपचार उनके प्रति प्रेम और सहानुभूति दर्शाकर, उनसे अपने अतीत की आत्म-स्वीकृत कराकर तथा उन्हें सन्निर्देश देकर किया गया। इन सभी रोगियों ने अपने रोग और उससे मुक्ति की गाथा अपने आप भी लिखी है।

पहला रोगी एक प्रतिभावान, शरीर में सुन्दर, सुडौल और हट्टा कट्टा स्थानीय कालेज की बी० ए० कक्षा का विद्यार्थी है। यह उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी ज़िले का निवासी है। यह सदा प्रथम श्रेणी में अपनी परीक्षायें पास करते रहा है। पिछली परीक्षा में उसे दो विषयों में विशेषता (डिस्टिंगशन) भी मिली थी। इसकी अवस्था १८ वर्ष की है। यह सम्पन्न घर का बालक है। उसके माता पिता और छै भाई तथा बहिने हैं। घर में सबसे अधिक सम्मान का स्थान इसी व्यक्ति का है, जो भी यह घर का पांचवा लड़का है।

इस विद्यार्थी को सन्देह हो गया था कि उसकी सब शक्ति नष्ट हो गई है, उसकी स्मृति जाती रही और वह अब पढ़ लिख नहीं सकता। वह कभी कभी हृदय के कंपन का अनुभव करता था। अपने से बड़ों से बोलने में, प्रोफेसरों के प्रश्नों के उत्तर देने में वह कठिनाई का अनुभव करता, अतएव वह कक्षा में चुपचाप बैठा रहता था। किसी प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी वह उसे

कक्षा में प्रोफेसर से कह नहीं पाता था। अपनी किसी कठिनाई को भी वह किसी से पूछ नहीं पाता था। सुन्दर लड़कों को देखने में उसे लज्जा का अनुभव होता था और वह ऐसे लड़कों से बातचीत करने के अवसरों को सदा टालते रहता था। उसकी समझ में उसे बहुत स्वप्नदोष होते थे। वह सोचने लगा था कि उसका लिंग छोटा हो गया है। एक बार उसके लिंग पर कुछ फुंगलियाँ हो गई। उसने समझा कि उसे गर्मी अथवा सुजाक हो गया है। वह इस कल्पना से कई दिनों तक पीड़ित रहा।

रोगी के पिछले जीवन के अध्ययन करने से पता चला कि वह बारह वर्ष की अवस्था से ही हस्तमैथुन करने लगा था, उसे समलिंगी व्यभिचार का भी कई बार अवसर पड़ा। वह दो बार वेश्याओं के पास गया और दोनों बार काम-कृत्य में असफल ही रहा। इस रोग में विवाह के प्रति आकर्षण का अभाव था। रोगी ने कुछ दिन पूर्व एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा था कि हस्तमैथुन करनेवाले व्यक्ति की सारी शक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी स्मृति का ह्रास हो जाता है उसे स्वप्नदोष होने लगते है, उसका चेहरा पीला पड़ जाता है, शरीर रोगग्रस्त और दुर्बल हो जाता है और वह समाज में बुद्धू जैसा व्यवहार करने लगता। यह रोगी धीरे धीरे इन सभी बातों को अपने आप में घटित होते हुए देखने लगा।

रोगी में एक बार अपना चरित्र बनाने का भाव आया। वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सदस्य हो गया। उसने बड़े जोरशोर से अपना काम आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही संघ का एक शिक्षक बन गया। संघ के काम के लिये उसे बार बार घर के बाहर जाना पड़ता है। उसके पिता संघ के विरोधी थे, अतएव उसे अपने पिता से छिपाकर ही संघ के सभी काम करने पड़ते थे। वह पिता को धोखा देता रहा। उसके पिता सबेरे ही दूकानपर चले जाते थे और नौ बजे रात को वापस आते थे। पिता उससे अपने काम के विषय में पूछते तो उसे अनेक झूठी बातें कहनी पड़ती थी। अतएव उसने पिता के दूकान से आने के पहले सो जाने और उनके घर से चले जाने के बाद उठने का अभ्यास डाल लिया। कुछ समय के बाद उसे अपने पिता से

बातचीत करने में झिझक होने लगी। वह अपने मन में अज्ञात भय का अनुभव करने लगा। फिर उसे यह भय सभी अपने से बड़े लोगों के प्रति होने लगा।

बनारस आने पर उसकी मानसिक व्यथा और भी बढ़ गई। वह अब प्रोफेसरों से बातचीत करने में भय और झिझक का अनुभव करने लगा। पीछे उसे अपने साथियों के साथ खुलकर बातचीत करने में कठिनाई का अनुभव होने लगा। उसे लज्जा का भाव आने लगा। अतएव वह अब एकान्त की खोज करने लगा। इसका कारण रोगी ने स्वयं अपने शब्दों में ही लिखा है। उसके मन में उस के कमरे में आनेवाले कुछ लड़कों के प्रत कामवासना की उत्तेजना हो गई थी, तभी से उसे यह लज्जा की भावना आने लगी। जब कभी सुन्दर लड़के उसके कमरे में आते तो वह कमरा छोड़कर किसी बहाने बाहर चला जाता था। पीछे उसके मन में प्रबल भावना उत्पन्न हुई कि उसे उसके साथी बुद्धू सोचने लगे हैं और वह वास्तव में बुद्धू हो गया है। इस विचार ने उसके स्वास्थ्य को बहुत धक्का दिया। अब उसे कई प्रकार का पेट का रोग हो जाता था।

अपने विचारों से पीड़ित होनेपर वह जीवन से निराश हो गया। निकम्मा, बुद्धू और रोगी बनकर जीने से मरना ही भला है—यह सोचकर वह अपनी आत्म-हत्या की योजनायें बनाने लगा। परन्तु आत्महत्या कर लेने की हिम्मत उसे नहीं होती थी। वह तीन बार गंगाजी के रेल के पुलपर से कूदकर मरने भी गया, पर कुछ सोच विचार कर वापस आ गया। इसी बीच इस विद्यार्थी ने लेखक की 'आधुनिक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पढ़ी। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् उसने लेखक को पत्र लिखा। उसे पत्र लिखने में बड़े संकोच का अनुभव होता था। लेखक ने उसे अपने पास बुलाया और सहानुभूति पूर्वक एवं उत्साह वर्धक बातचीत की। इसके परिणामस्वरूप धीरे धीरे रोगी के विचारों में और शारीरिक स्वास्थ में सुधार होने लगा और कुछ दिन के बाद वह पूर्ण स्वस्थ हो गया।

रोगी बार बार यह बात कहता था कि वह बारह वर्ष की अवस्था से ही हस्तमैथुन के कुकृत्य में लग गया है, अतएव उसकी सब शक्ति का नष्ट हो जाना स्वभाविक है, अतएव उसके सुधर जाने की कोई आशा नहीं। लेखक

का उसे अनेक उदाहरण देकर समझाना पड़ा कि इस आदत के कारण न किसी व्यक्ति का शरीर बिगड़ता है और न मस्तिष्क बिगड़ता है, अपनी कल्पना ही मनुष्य के शरीर और मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। यदि वह अपनी कल्पना को सुधार सके तो उसकी गई शक्ति फिर उसे प्राप्त हो जावेगी।

एक विचार जिसने रोगी को अध्यात्मिक प्रभावित किया था वह आध्यात्मिक अणु का विचार है। मनुष्य का शरीर करोड़ों जड़ अणुओं का तो बना ही है फिर उसकी चेतना की शक्ति इन जड़ अणुओं से भी अधिक बल रखती है। एक जड़ अणु के विस्फोट से एक पूरा शहर ध्वस्त हो गया; फिर चैतन्य अणु की शक्ति का अनुमान ही क्या किया जा सकता है। मनुष्य अपनी अभद्र कल्पना से ही अपने मन की शक्ति को सीमित कर लेता है। यदि वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर प्रतिदिन विचार करे तो वह संसार का महान् पुरुष बन जाय। ऐसी अवस्था में कोई रोग कैसे ठहर सकता है। परन्तु चैतन्य अणु की शक्ति का साक्षात्कार उसी को होता है जो विश्वकल्याण के निमित्त उसे खर्च करना चाहता है, अर्थात् जिसके जीवन के आदर्श ऊँचे होते हैं। अपने आपको भले काम में मनुष्य लगावे तो उसके सभी प्रकार के रोग और दुर्बलताएं अपने आप ही चली जयँ।

इसी बीच एक ज्योतिषी ने रोगी से कहा कि वह बीस वर्ष की अवस्था में बहुत धन प्राप्त करेगा और आगे चलकर एक समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति बन जावेगा। इस विचार ने भी रोगी के नकारात्मक तथा ध्वंसात्मक विचारों को बदलने में काम किया। उसके विचार रचनात्मक हो जाने पर वह पहले जैसा विद्या अध्ययन में परिश्रम करने लगा और वह अपनी सभी प्रकार की कल्पित तथा वास्तविक कमजोरियों से मुक्त हो जाने का अनुभव करने लगा। यहां उक्त विद्यार्थी का अपने रोग का तथा स्वास्थ्य लाभ करने का पूरा वर्णन उसी के शब्दों में दिया जाता है। इस वर्णन से उसकी पुरानी निराशापूर्ण मानसिक स्थिति और वर्तमान आशायुक्त मानसिक स्थिति का पूरा परिचय मिलता है। जब कोई व्यक्ति एक बार मनोयोग से रचनात्मक काम में लग जाता है तो उससे सभी प्रकार के मानसिक रोग कोसों दूर भागते हैं। जबतक कोई व्यक्ति रचनात्मक कार्य में नहीं लगता तभी तक उसके रोग से

आक्रान्त हो जाने की सम्भावना रहती है। विद्यार्थी ने हाल ही में अपने रोग का इतिहास और आरोग्य प्राप्ति का वर्णन नीचे लिखी पंक्तियों में दिया है—

"जब मैं पढ़ने के लिये आया तो मुझे होस्टल में एक अपरिचित साथी के साथ रहने का आदेश हुआ। मैं किसी को भी जानता न था। इस कारण मैंने इस आदेश को मान लिया। साथी अच्छा था भला था, परन्तु उसके पास बहुत से उसके साथी आया करते थे उनमें से एक बहुत ही सुन्दर था। मन ही मन मैं उस लड़के को बहुत प्यार करने लगा और उसके साथ दुष्कर्म की भी इच्छा आने लगी। परन्तु मेरी कुछ ऐसी मनोवृत्ति रही है कि मैं जिसे इस प्रकार का प्रेम करता हूँ और बहुत अधिक पसन्द करता हूँ उससे इच्छा रखते हुए भी न बात ही करता हूँ और न उसकी ओर देखता ही हूँ।

मेरे कमरे के साथी के पास, जब तक वह कमरे में रहता था, कोई न कोई साथी आता ही रहता था। उसका वह सुन्दर साथी भी अक्सर आता ही रहता था और अक्सर मेरे से भी बातें करने की कोशिश करता था। परन्तु मैं अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उससे बातें करते हुए झेंपता था और उसकी बातों का भी ठीक प्रकार से उत्तर नहीं दे पाता था। उसके सामने मेरी जबान लड़खड़ा जाया करती थी।

कभी-कभी वह सुन्दर लड़का मेरे कमरे में अपने सब साथियों के सामने भी बातें करता। मैं उसकी बातों का ठीक प्रकार से उत्तर नहीं दे पाता था, क्यों कि ऐसे लड़कों के सम्मुख मेरी झेंपने की मनोवृत्ति थी। आपस में मित्र हँसी-मजाक तो करते ही हैं और एक दूसरे की बातों पर हँसते भी हैं। इसी प्रकार मेरे पार्टनर के साथी लोग कभी २ मेरी बात पर भी हस दिया करते थे। परन्तु मैं समझने लगा कि ये लोग मुझे बेवकूफ समझने लगे हैं, क्योंकि मैं अच्छी प्रकार किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता हूँ और मेरी जबान लड़खड़ा जाती है और चेहरा पीला पड़ जाता है।

मैं पहले अपने पार्टनर (साथी) के सुन्दर साथी के अतिरिक्त सभी साथियों से अच्छी प्रकार से बातें कर लिया करता था, परन्तु वह लोग जब उस

सुन्दर साथी के साथ हुआ करते थे तो मैं उनकी बातों का भी उत्तर ठीक प्रकार से देने में असमर्थ होता था। जब कभी कभी ये लोग मेरी बातों पर हँस दिया करते थे तो मैं समझने लगा कि ये सब लोग मुझे बेवकूफ समझते हैं और इसलिये मैं उनमें से प्रत्येक से घृणा करने लगा। अब मैं उनसे व्यक्तिगत बातें करना भी पसन्द न करता था। और यदि वे मेरे से कभी-कभी अकेले २ बातें भी करते थे तो मैं यह समझ कर कि यह मुझे बेवकूफ समझते हैं बहुत सोच समझ कर ठीक प्रकार से उत्तर देता था। परन्तु मैं चाहे जितना भी सोच समझ कर उत्तर दूँ बात करने के पश्चात् मुझे कोई न कोई ऐसी बात जरूर मिल जाया करती थी जिसके कारण मैं समझा करता था कि तुमने यह उत्तर ठीक नहीं दिया और वह इस कारण तुम्हें और भी अधिक बेवकूफ समझने लगे होंगे।

अब आगे ऐसी अवस्था आई कि मैं जिससे भी बातें करता था, बातों के पश्चात मुझे ऐसा कारण मिल जाता, जिससे मैं समझता कि तुमने यह उत्तर ठीक नहीं दिया और इस कारण वह तुम्हें बेवकूफ समझने लगा होगा। इस प्रकार यह अवस्था आई कि मैं जिससे भी बातें करता, बातों के बाद मैं समझता कि वह मुझे बेवकूफ समझता है। इस प्रकार मैं समझने लगा कि जितने भी आदमी मेरे सम्पर्क में रहते हैं वह सब तो मुझे बेवकूफ समझते ही हैं, इसके अतिरिक्त जो पार्टनर के साथी है वह तो बेवकूफ समझते ही हैं। इस समय तक यद्यपि मैं यह समझता था कि दूसरे मुझे बेवकूफ समझते हैं परन्तु हृदय से मैं अपने को बेवकूफ नहीं समझता था। अब मैं न तो किसी से बात ही करना पसन्द करता था और न कमरे में ही रहना पसन्द करता था, क्योंकि पार्टनर के साथी अक्सर कमरे में आते रहते थे, इस कारण मैं हर समय घूमता रहता था।

हमारे होस्टल में भारी २ तख्ते सोने के लिये मिले हुए हैं। रात को सोने के लिये बाहर तो निकाले नहीं जा सकते हैं, इस कारण अन्दर ही सोना पड़ता था, जहाँ कि गर्मी के कारण शांत नींद नहीं आती थी और

इस कारण शरीर थका २ सा रहता था। कालेज में बीच २ में एक दो घंटा खाली रहा करता था, जिससे कि धूप में चलकर हम होस्टल आ जाया करते थे। इन सब कारणों से मेरे माथे में कभी २ दर्द हो जाया करता था और पढ़ने में मन नहीं लगता था। मैं पढ़ने में जितना चतुर अपने दसवें दर्जे में था उसका शतांश भी अपने ग्यारवें और बारहवें दर्जे में नहीं रह गया था और तेरहवें, चौदहवें में उससे भी कम महसूस करने लगा। मैं अशांत नींद के कारण थका रहता था और मैं समझने लगा कि मस्तिष्क के कमी के कारण मैं थकावट का अनुभव करता हूँ। मैंने किताबों में पढ़ रखा था कि जो लड़के खराब काम करते हैं उनका मस्तिष्क और शरीर खराब हो जाता है, और मैंने अपने जीवन में हस्त-मैथुन बहुत अधिक किया था, इस कारण मैं समझने लगा कि मेरा मस्तिष्क बहुत खराब हो गया है और दूसरे लोग जो मुझे बेवकूफ समझते हैं वह ठीक ही समझते हैं। इस समय से पहले मुझे अपने मस्तिष्क पर बहुत विश्वास था।

कुछ समय पश्चात् मुझे ऐसा लगा कि मेरे पेशाब में कोई लाल या पीली चीज जा रही है। मैंने उसे खून समझा। मैंने अपने को नपुंसक और छोटे लिंगवाला भी समझना शुरू कर दिया। वह मुझे कभी तो कम दिखाई देने लगती थी कभी अधिक। अब मुझे बड़ी चिन्ता हुई। मैं समझने लगा कि खराब कामों के कारण ही यह मुझे हुआ है, और मेरी ऐसे रोगों के विषय में कुछ ऐसी धारणा थी कि ये रोग असाध्य है और ठीक नहीं हो सकते।

इसके पश्चात् मेरे मस्तिष्क में यह बात बैठ गई कि दिमाग भी जो खराब हो गया वह कम ठीक होता है चाहे कितनी दवाई करावें। वह अपनी पहले की अवस्था में नहीं आ सकता। मेरा मस्तिष्क पहले तो बहुत अच्छा था और मैं अपने जीवन को सदा उच्च बनाने के स्वप्न देखा करता था। अब तो मुझे बड़ा धक्का लगा और मैं समझने लगा कि मेरा दिमाग बेकार हो चुका है और शारीरिक रोग ऐसा लगा है, जो ठीक ही नहीं हो सकता। इसी कारण मैं अब बड़ा भी नहीं हो

सकता और इसी कारण अब जीना भी बेकार है। अब तो मैं इस पृथ्वी के लिए भार स्वरूप हूँ। अपने जीवन को बेकार समझ कर मैंने कई बार (तीन बार) आत्महत्या का भी प्रयत्न किया परन्तु साहस न होने के कारण निश्चित स्थान से जाकर भी लौट आया। परन्तु फिर भी मस्तिष्क में एक द्वन्द्व उठता रहता था कि क्या किया जाय क्या न किया जाय। पढ़ने लिखने में तो बिल्कुल मन ही न लगता था।

ठीक इसी समय मुझे श्रीलालजीराम शुक्लजी की एक पुस्तक 'आधुनिक मनोविज्ञान' पढ़ने को मिली। उससे मुझे मालूम हुआ कि ऐसा भाग्यहीन मैं ही नहीं परन्तु बहुत से नवयुवक इस अवस्था में होते हैं और लेखक महोदय ने उनमें बहुतों का इलाज भी किया है और करते हैं। मुझे उस पुस्तक को पढ़कर बड़ी शांति मिली। शीघ्र ही लेखक को एक पत्र लिखा जिसका कि फौरन ही उत्तर आया, जिसमें कि उन्होंने मुझे अपने घर आने के लिये आमंत्रित किया था।

इसी बीच में मुझे एक ज्योतिषी मिले। मैंने उन्हें अपना हाथ दिखाया तो उन्होंने मुझे भूत की बातें सही बता कर कहा कि तुम भविष्य में बहुत बड़े आदमी होने वाले हो। उसकी बातों से मुझे बहुत शांति मिली और हृदय से कुछ पुराने विचार निकल गये।

अब मैं लेखक महोदय से मिला। उन्होंने मुझे बहुत से पत्र और अपनी पुस्तकें दिखाई और कहा कि यह सब मानसिक रोग है और सब दूर हो सकते हैं। लेखक महोदय की बातें बहुत प्रेमपूर्ण थीं। उनका मुझ पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उनके पहले ही दिन के कहे हुए एक वाक्य का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा, "जब कि निर्जीव परमाणुओं का एक समूह पृथ्वी के इतने बड़े हिस्से को नष्ट कर सकता है, तो क्या कारण है कि मनुष्य का वह शरीर जो कि निर्जीव अणुओं के अतिरिक्त एक शक्ति अर्थात् ज्ञान-शक्ति अधिक ही रखता है कोई बड़ा कार्य इस संसार में न कर सके?"

मैंने सोचा कि भले ही मैं दूसरे मनुष्यों से कम हूँ परन्तु फिर भी उन

निर्जीव अणुओं से तो कम नहीं। मैं भी बहुत कुछ कर सकता हूँ; मुझे निराशा नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त मेरे प्रति लेखक का व्यवहार बहुत सुन्दर रहा उन्होंने मुझे सैकड़ों पत्र सुनाये अपनी किताबें पढ़ीं और बताया कि मेरा रोग मानसिक है और बिल्कुल ठीक हो सकता है और इसके अतिरिक्त बचपन में सभी ऐसी गल्तियां करते हैं और उन्होंने भी की है और फिर भी मस्तिष्क किसी से कम नहीं है। उन्होंने कहा, यह मामूली बातें हैं और थोड़ा ठीक रहने से दिमाग फिर पहले जैसा ही हो जाता है। यह बात मैंने एक दो डाक्टरों से पूछी; उन्होंने भी ऐसा ही बताया। शरीर का रोग भी उन्होंने बताया कि ठीक हो सकता है। अब तो मेरे दिमाग के पुराने सारे विचार दूर हो गये और मैं सोचने लगा कि मैं अब भी इस संसार में बहुत कुछ कर सकता हूँ। निराशा दूर हुई और आशा का सितारा चमका। न मैंने किसी का इलाज कराया और न कुछ और ही किया, परन्तु सबको मानसिक रोग की कसौटी पर कसकर भूलने लगा और अपने को फिर पहले जैसे ही शरीर और मस्तिष्क वाला समझने लगा और इस कारण पूर्ण स्वस्थ हूँ। न पेशाब का रोग ही दिखलाई देता है और न मस्तिष्क की कमी। पढ़ाई में खूब तबीयत लगती है। अब कोई मानसिक रोग खड़ा ही नहीं होता और यदि खड़ा भी होता है तो उसे मानसिक रोग समझ कर भूल जाता हूँ। इस कारण मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। इस बीच में लेखक महोदय का व्यवहार मेरे प्रति बड़ा सुन्दर रहा। वह स्वयं आकर मुझ से मिलते रहते और उन्होंने बताया कि मैं भी ऐसा ही रह चुका हूँ और तुम भी फिर बड़े हो सकते हो। उन्होंने मुझे कुछ योग इत्यादि करने के लिये कहा परन्तु मैंने कुछ नहीं किया। अपने रोग को मानसिक रोग ही समझ कर भूल गया और अब पूर्ण स्वस्थ हूँ।"

उक्त वृत्तांत से स्पष्ट है कि इस विद्यार्थी का कल्पित रोग अब उसे स्वप्नवत् हो गया है। केवल एक ही विचार के अभ्यास से विद्यार्थी को पर्याप्त लाभ हो गया। परन्तु यहां यह बताना आवश्यक है कि रोगी ने जिस सत्यवादिता को दिखाया और आत्म-स्वीकृति करने में जितना वह

स्पष्ट रहा वह विरले लोगों में पाई जाती है। अपनी आत्मकथा के कहने से उसके दबे भावों का रेचन हुआ फिर उसका मन सन्निर्देश ग्रहण करने योग्य बन गया।

नपुंसकता के भयका दूसरा उदाहरण

नपुंसकता के भय का दूसरा उदाहरण बिहार प्रान्त निवासी एक दूसरे विद्यार्थी का है। इसकी उमर भी १७ साल की थी जबकि उसका लेखक से पत्र व्यवहार प्रारंभ हुआ। उस समय यह विद्यार्थी कालेज की एफ० ए० परीक्षा में पढ़ रहा था। इसे भी उसी प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियां थी जिस प्रकार की व्याधियां पहले रोगी को थीं। यह व्यक्ति बचपन से ही कष्ट के वातावरण में रहा। उसकी मां दुःख में रही और अन्त में उसकी मृत्यु कष्ट में ही हुई। उसके बाद घर में सौतेली मां आई। उसने इस व्यक्ति पर और उसकी बहिनों पर अत्याचार करना प्रारंभ किया। अतएव उसे घर का जीवन भाररूप बन गया। इसी बीच रोगी को हस्त-मैथुन तथा अन्य प्रकार के काम सम्बन्धी व्यभिचार की आदत लग गई। फिर उसके मन में भय होने लगा कि वह नपुंसक हो गया है। यह भय उसके विवाह हो जाने के पश्चात् प्रबल हो गया। इस भय के कारण और आत्म-ग्लानि के कारण वह आत्म-हत्या तक करने पर उतारू हो गया था। यदि ऐसे लोगों को समय पर सलाह न मिले तो उन्हें मेलेन्कोलिया (विषम विषाद) का रोग घेर लेता है।

रोगी के मन में अपने पिता, विमाता तथा दूसरे सम्बन्धियों के प्रति दुर्भावनायें थीं। ये उसके मन में कुछ प्रकाशित और कुछ दबी हुई अवस्था में थीं। इन भावनाओं के कारण ही रोगी निराशामय और दुखी हो गया था। इनके कारण ही उसमें काम कृत्यों की आदत पड़ी। जब बालक के जीवन में रचनात्मक आनंद की की कमी होती है तो वह इन्द्रियों की उत्तेजना में आनंद की खोज करता है। मानसिक सुख की कमी शारीरिक सुखों की पिपासा बढ़ाती है। इस रोगी से लेखक का कई दिनों तक पत्र व्यवहार हुआ। उसे अनेक प्रकार से उत्साहित किया गया, उसकी

मानसिक शक्ति को रचनात्मक काय में लगाया गया। पुराने भावों के रेचन के लिये अपने बचपन से आज दिन तक के जीवन के संस्मरण लिखाये गये, आत्म-ज्ञान बढ़ाने के लिये मनोविज्ञान की पुस्तकों का अध्ययन करने की सलाह दी गई, अपने सम्बन्धियों के प्रति तथा दूसरे लोगों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया। जब रोगी बहुत कुछ अपने रोग से मुक्त हो गया था, वह बनारस आया। यहां पर भी उसके पुराने संस्कारों को मिटाने की चेष्टा की गई और जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण रखने की सलाह दी गई। इस विद्यार्थी ने लेखक पर बड़ा विश्वास किया उसने अपने आपको पूरी तरह से खोला और जो आदेश उसे मिले उसने उन्हें किया। इसके परिणाम स्वरूप उसका मानसिक रोग जाता रहा। उसे परीक्षा में फैल हो जाने का डर था, परन्तु उसने अपनी सभी परीक्षायें भली प्रकार से पास कीं। इस समय वह बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा है।

विद्यार्थी के पत्र व्यवहार से ऐसा जान पड़ता था कि वह बड़ा दुर्बल और कुरूप होगा। परन्तु जब वह बनारस आया था तो लेखक ने उसे सुन्दर और हट्टा-कट्टा देखा। उसका शरीर गठीला और सुडौल है। उसके बोलने का ढंग भी प्रभावजनक है। जो व्यक्ति इस विद्यार्थी से मिलेगा उसे यह विश्वास न होगा कि उसमें प्रबल आत्महीनता की भावना है और वह किसी प्रकार दूसरे विद्यार्थियों से कम है। यह विद्यार्थी अपने अकल्याण-कारी विचारों से ही अपने आपको दुःखी बनाये हुए था। भले आत्म-निर्देश के परिणामस्वरूप उसे अपनी शक्ति का ज्ञान हो गया और अब वह अपने आप पर निर्भर है। इस रोगी की प्रारंभिक मानसिक दशा, उसके रोग के लक्षण तथा उसकी मानसिक दशा में धीरे धीरे सुधार आदि बातों का पूरा वृतांत लेखक से होने वाले उसके निम्नलिखित पत्र व्यवहार से स्पष्ट होता है। परिशिष्ट में विद्यार्थी के बचपन की भावात्मक घटनाओं के संस्मरण दिये हैं। इन संस्मरणों को लिखाना भी मानसिक चिकित्सा का आवश्यक अंग है। इन से रोगी के रोग के दूरस्थ कारण का भी पता चलता है—

पहिला पत्र

दिनांक—दिसम्बर १९४८

पूज्यवर शुक्लजी ! सतत अभिवादन ।

अन्तराल उद्भूत कामना की परिष्कृति के अभिप्राय से यह सुमन, आपके पाद पद्मों के समर्पण हेतु जा रहा है। आशा है स्वीकार करेंगे।

मैं इस समय बिहार के "× × × कालेज" नामक विद्यालय का विद्यार्थी हूँ। अभी तो मेरा प्रथम वर्ष ही है। "मनोविज्ञान" भी मेरा विषय है।

असंख्य बार मेरी उत्कट अभिलाषा हुई, आप से मनोविज्ञान के विषय में कुछ अनुमति लूँ। पर अवसर तो अभी ही अनुकूल है। क्योंकि "कल्याण", "पारिजात" एवं अन्यान्य पत्रिकाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया था कि आप सफल मनोविज्ञ ही मेरी कुतूहल का परिहार करेंगे, क्योंकि अब तो पूर्ण विश्वास है कि इस नवगति स्वातन्त्र्य के नवप्रभात में व्यष्टि की भी भावनाओं की उपेक्षा न की जायगी।

मुझे मनोविज्ञान सम्बन्धी दिशारम्भ और विशद ज्ञान की बड़ी आत्यन्तिक मनोकामना है। अतः अभी यदि मैं बी० ए० भी होता हूँ, तो चार वर्ष लगेंगे। अतः आप से मनोविज्ञान के श्रृङ्खलाबद्ध ज्ञान के लिये उचित पुस्तकों की क्रमबद्ध सूचि की याञ्चा है। क्रमशः वे पुस्तकें एक एक कर पढ़ी जायेंगी। भेजकर अन्तरात्मा की विकलता का शमन करें।

द्वितीयतः मेरे एक मित्र—अभिन्न मित्र—के दुर्व्यसन, उसकी दुर्बलता का कारण एवं उसका नाश का भी विवेचना लिखेंगे। वह बुद्धिवाद का पुजारी होते हुए भी कामवासना से सतत् सन्तप्त रहता है। फलतः उसने बड़े क्रूर कर्म किये हैं। उसके माता पिता तो शुद्ध चरित्र के हैं। हाँ पाँच वर्ष की आयु तक उसका पालन-पोषण गर्भ से ही बड़े विकट एवं बुरी विधि से हुआ था। मेरी शंका का परिहार, आशा क्या विश्वास भी है, यथाशीघ्र निम्नांकित पते से आयगी।

आपका आज्ञाकारी

× × ×

[इस पत्र में रोगी ने अपनेआपको छिपाने की चेष्टा की है। उसका "एक मित्र" स्वयं रोगी ही है। इस पत्र के उत्तर में "बाल-शिक्षण" और "मानसिक चिकित्सा" को पढ़ने की सलाह दी गई। इन दोनों पुस्तकों में काम-वासनासम्बन्धी बातों की चर्चा है।]

दूसरा पत्र

दिनांक १० जनवरी १९ ९

श्रद्धेय शुक्लजी ! अनन्त अभिवादन।

आपके निर्देशानुसार मैंने काम-विषयक दोनों "बाल शिक्षण" और "मानसिक चिकित्सा" नाम्नी पुस्तकद्वय पटना से मंगाई है। अध्ययन भी चल रहा है। बहुत सी बातें उलझ गई हैं और बहुत से उलझनों का उपशामन भी हो गया है। क्षमा किया जाय, मैंने विगत पत्र में अपने मित्र की काम-वासना सम्बन्धी चर्चा की थी, पर यह बात मैंने अपने ही विषय में लिखी थी।

मेरी कुछ वैचित्र्य पूर्ण उलझन, जो कि बड़ी लम्बी अवधि से मन में विद्यमान थी, और कुछ जो निकट अतीत से सम्बन्ध रखती है, मेरी मानसिक शान्ति में बड़ी बाधा उपस्थित किया करती है। अतः आप उसका सुलझन एवं सुझाव का मेरे पास आदेश देंगे। बहुत सी अपनी वैयक्तिक मानसिक लक्षणों की भी निवृति दी जा रही है। उलझन विशेषतः अतीत से सम्बन्ध रखती है।

पहली उलझन यह है कि मैं अपने किशोरावस्था के कुकृत्यों के फलस्वरूप [जिनका कि स्पष्टीकरण नीचे होगा] अपने को पूर्णतः निर्वीर्य समझता हूँ। वास्तव में शारीरिक स्थिति भी मेरी कुछ क्या, बहुत कुछ ऐसी ही है। स्वप्नदोष सर्वदा हुआ करता है, धातुतारल्य सर्वांशतः उपस्थित है। बहुत पहले से इसकी चिन्ता लगी रहती थी। स्वास्थ्य के विषय में बहुत पहले से आत्यन्तिक चिन्तन किया करता था। यहाँ तक कि बहुत दिन तक मेरी मानसिक स्थिति ऐसी विषम हो गई थी कि मैं सभी अन्य लोगों के स्वास्थ्य का ही निरीक्षण किया करता था और अपनी दुर्बलता पर सिर पीटा करता था। विगत वर्ष इसके लिये कुछ प्रयत्न भी किया गया था, पर विशेष लाभ न हुआ।

इधर मेरा विवाह होने के उपरान्त से मैं अत्यधिक इस विषय में चिन्तित रहता हूँ। यद्यपि मेरी पत्नी काली है, पर सुन्दर है, एवं अपना कर्त्तव्य समझकर मैं उसे आशातीत प्यार करता हूँ। अभी उसका द्विरागमन नहीं हुआ है। पर निकट भविष्य में सम्पर्क होगा ही · जिसे मैं संसार में सर्वाधिक प्यार करता हूँ उसके साथ ऐसा जघन्य अत्याचार होगा। ओह! अन्तरात्मा विकल हो उठती है। [स्त्री के लिये उसकी कामवासना की पूर्ति न हो सकने से अधिक अत्याचार हो ही क्या सकता है।] दूसरी मेरी बड़ी उलझन यह है कि मैं पहले कुछ दिन पूर्व तक बड़ा झेंपू था। स्कूल में भी कुछ बोलना-चालना किसी से नहीं होता था, चुपचाप भोंदू की भाँति रहना होता था। (इसका भी स्पष्टीकरण निम्नांकित लक्षणों से होगा।) पर इधर पूर्ण परिवर्तन हुआ है। पर तो भी मैं कालेज में अन्य स्थानों में भी बहुत प्रचण्ड दैन्यभाव (आत्महीनता) की अनुभूति करता हूँ। मैं इससे त्राण पाना चाहता हूँ। एक सफल जीवन की अपेक्षा करता हूँ। यद्यपि इसके लिये मेरे एक परम मित्र सदुपदेश दिया करते हैं। ये बड़े योग्य व्यक्ति हैं, तो भी मानसिक ग्रन्थियाँ बड़ी उलझी हुई हैं। अतः इन सर्वाधिक प्रमुख उलझनों के सुलझाने के लिये आदेश करेंगे। यही आशा है।

लक्षण—

(१) मेरी अवस्था १७ वर्ष की है। मैं फर्स्ट ईयर का विद्यार्थी हूँ।

५ वर्ष तक मेरा लालन-पालन बड़ी कठोर व्यवस्था एवं उपेक्षित भाव से हुआ था, पर बाद में माँ का लाड़ बड़ा ही घातक हुआ। माँ से मैं तनिक भी न डरता था। सदा ही उसे डाटा करता था। मेरी बड़ी खुशामद होती थी। दो वर्ष, पूर्व माँ की मृत्यु के उपरान्त पिताजी ने विधवा विवाह किया है, जो बड़ी कर्कशा स्त्री है। अपनी छोटी तीन बहनों के प्रति और मेरे प्रति विशेष प्रकार की दुष्टता प्रदर्शित करती है। ऐसे तो उसका स्वभाव ही अत्यन्त दुष्टता से भरा है, वह अशिक्षिता भी है। इधर का समय घर में बड़ी विषाद मुद्रा में होता है।

(२) मैं अच्छा गा भी लेता हूँ और, यदि अत्युक्ति न हो तो, अच्छी कविता भी कर लेता हूँ।

(३) स्कूल का जीवन, १५ वर्ष तक का जीवन, बड़ा झेंपू का जीवन रहा। घर पर तो बड़ी योग्यता छाँटता था, पर अन्य अपरिचित जनों, एवं विशेषतः स्कूल में, बड़े भोंदू की तरह रहता था। [स्थानाभाव के कारण व्याख्या इस का नहीं की गई, पर इस की सम्पूर्ण वास्तविकता की कल्पना आप से अपेक्षित है]। पर इधर कुछ दिन पूर्व R. S. S. (राष्ट्रीय-स्वयंसेवक संघ) का मेम्बर होने के कारण व्यक्तित्व में विकास हुआ और झेंपूपना कुछ अंश में जाता रहा। बचपन में रचनात्मक कार्यक्रम का सर्वथा अभाव रहा, पर मैं चुपचाप बैठा रहता था। अध्ययन कुछ बाहरी अवश्य करता था। आजकल मेरी इच्छा एक सफल जीवन को व्यतीत करना चाहता है।

(४) १२ वर्ष की ही अवस्था से कामवासना के फेर में पड़ा। स्वप्न-दोष का मैं बड़ी बुरी तरह से शिकार रहा हूँ, अतिमैथुन भी मेरी विशेषता रही है। अतः मैं बड़ा भारी कामुक रहा। अतः वीर्यहीन क्या, कुछ अंश तक वास्तव में मैं नपुंसक भी हूँ।

(५) आजकल शारीरिक एवं मानसिक ज्ञान मेरा बड़ा विषय है।

(६) मैं भी श्याम हूँ, पर सुन्दर होने के लिये बड़ा सचेष्ट रहता हूँ।

(७) मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मेरा मस्तिष्क उर्वर है अवश्य। क्योंकि कल्पनायें इसकी साक्षी है।

(८) पिताजी भी वीर्य-रोग से संतप्त रहते थे, पर बहुत थोड़े अंश में। वे भी कविता करते थे। एक सच्चे व्यक्ति हैं, पर अधिक पढ़े लिखे नहीं।

इस प्रकार प्रमुख ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इन बातों से आशा है कि मेरी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण निश्चय से हो जायगा। और अन्य बातों की भी सूचना के विषय में मुझ से पूछा जा सकता है। पत्र द्वारा मैं अवश्य उत्तर दूंगा।

सारी बातों पर विचार कर मेरी उलझनों का सुलझाव कृपया यथा शीघ्र भेजेंगे। आशा है अवश्य। क्योंकि आप के मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क से कोई भी यही आशा कर सकता है। बड़ी कौतूहल पूर्ण स्थिति में मेरा मन रहेगा। अतः शान्ति शीघ्रमेव चाहिये।

आप का

× × ×

[इस पत्र में विद्यार्थी ने अपने आप को स्पष्टतः खोला है। जो व्यक्ति अपने मानसिक चिकित्सक पर इतना अधिक विश्वास करता है और अपने आप को इतना खोल देता है, जितना कि इस विद्यार्थी ने किया, वह अवश्य ही आरोग्य लाभ करता है। छिपा पाप ही लगता है खुला पाप नहीं लगता।]

पत्र का उत्तर

बंगाली बगीचा कमच्छा
१३-१-४९

प्रिय × × ×

सप्रेम आशीष !

तुम्हारा १० -- १ -- ४९ का पत्र मिला। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम ने मुझे इतने जल्दी अपना ही समझ कर सब बातें एकाएक कह दीं। जो व्यक्ति इतना निष्पाप हो वह देर तक रोगी नहीं रहता।

तुम्हारी उमर तो बहुत छोटी है, मेरे पास २५ वर्ष की आयु के रोगी भी आते हैं, जिन्हें काम वासना सम्बन्धी बातों के कारण नपुंसकता का संदेह हो जाता है और इस कारण अपनी स्त्री के पास जाने से डर लगता है। पर मानसिक उपचार के पश्चात् उन्हीं लोगों का जीवन सुखद और सामर्थ्यमय हो गया है। वे आज अपनी स्त्री के साथ अच्छी तरह रह रहे हैं।

जिन चेष्टाओं के बारे में तुम ने लिखा है वे साधारण सी हैं और वे उच्च से उच्च लोगों में भी पाई जाती जाती हैं। इसके कारण मन को झटका अवश्य लगता है, पर इस से कोई पुरुषत्त्व हीन नहीं हो जाता। इस के लिये निम्नलिखित अभ्यास करना चाहिये—

(१) अपनी सौतेली मां के प्रति कोई दुर्भावना नहीं लाना। उसकी कुछ सेवा करते रहना चाहिये। उसे एक संसार का सामान्य प्राणी मान कर मैत्री भावना का अभ्यास करते रहना। प्रेम में पुरुषत्त्व है और घृणाभाव में नपुंसकत्त्व। अतएव घृणा तो किसी से भी न करना चाहिये और जितने अधिक लोगों से हो सके प्रेम करना चाहिये। प्रेम-प्रकाशन का सर्वोत्तम रूप सेवाभाव है। सौतेली मां के प्रति सहज प्रेम नहीं होता, पर तुम्हें

तो दवाई के रूप में इसे करना है। इसे अपना कर्त्तव्य जानकर करो। इस से उन का हृदय-परिवर्त्तन होगा अथवा नहीं, इस की परवाह मत करो। इस से तुम्हें अवश्य लाभ होगा। तुम्हारा खोया हुआ आत्म विश्वास अवश्य चला आयेगा।

(२) अपनी स्त्री को पत्र लिखते रहो। उसे खूब प्यार करो। तुम प्यार तो करते ही हो, नहीं तो उस के लिये क्यों चिन्तित होते। यह तो तुम में गुण है। अब अपने पास बचे पैसे से कुछ चीजें उसे खरीद कर रखते जाना चाहिये और यदि संभव हो तो उन्हें उसे भेज देना चाहिये। जब स्त्री नव पति को प्यार करती है तो वही स्वयं पति के नपुंसकत्त्व को दूर कर देती है। जब उस से मिलो तो यह विश्वास रखो कि वह स्वयं तुम को पुरुषतत्व प्रदान कर देगी। मिलने में उतावलापन न करना चाहिये। न तो भय और न अत्यधिक उद्विग्नता लाभदायक होती है। यदि तुम सोचने लगो कि तुम उस को काम क्रीड़ा से संतुष्ट नहीं कर सकोगे तब भी मिलो। यदि तुम अपना सच्चा प्यार उसे दिखाओगे तो उस से ही उस की काम-वासना की संतुष्टि होगी। कामवासना केवल शारीरिक मिलन की वस्तु नहीं है, उस का अधिक भाग मानसिक है। प्रेम के बिना काम क्रीड़ा वेश्यागिरी है। अतएव प्रेम दिखाओ, फिर सभी बातें ठीक हो जायेंगी।

(३) किशोर बालकों को अधिक स्वप्न-दोष होना तो बहुत ही अधिक पाया जाता है। मुझे भी उस अवस्था में बहुत स्वप्न दोष होते थे। मैं भी अपने आप को अत्यन्त पतित और नपुंसक ही समझता था और इस के कारण विवाह करने से भी डरता था। पर मनोविज्ञान के अध्ययन से तथा समझ के बदल जाने पर मेरी धारणा बदल गई।

तुम तो स्त्री को प्यार करते हो। यह भाग्य की बात है। इससे आज नहीं तो थोड़े दिन बाद अपने आप खोया सामर्थ्य चला आयेगा। यदि आज तुम्हें शक्तिहीनता की अनुभूति होती है तो यह केवल भ्रम मात्र है। कुछ काल बाद यह ठीक हो जायगा। जैसे परीक्षा के पहले कोई व्यक्ति घबड़ाता है, इसी प्रकार तुम भी घबरा रहे हो। जब एक बार मनुष्य परीक्षा में बैठ जाता है घबराहट मिट जाती है।

स्त्री के मिलन से अपने आप ही स्वप्न दोष और हस्तमैथुन की आदत छूट जाती है । मानसिक मिलन ही पर्याप्त है । जिन लोगों का घर का वातावरण अच्छा नहीं होता उन्हें स्वभावतः हस्तमैथुन की आदत लग जाती है । कठोरता और घृणा के वातावरण का यह परिणाम होता है। पर इसका प्रतिकार कठोरता और घृणा को अपने अन्दर न आने देना है ।

(४) मैं भी झेपू हूँ, और इसके कारण मैं सभा सोसाइटी में जाने से डरता हूँ । जबतक व्याख्यान देना अनिवार्य न हो, तबतक व्याख्यान देने से जान बचाता हूँ । अतएव झेपू होना तो उतना बुरा नहीं है । सभी लोगों को सभी गुण प्रकृति ने नहीं दिये । मेरी लज्जाशीलता मुझे जन-सम्पर्क से अलग करती है; अतएव मैं विद्या अध्ययन में लगा रहता हूँ । फिर यदि किसी मनुष्य में सेवा भाव है तो उसकी सेवा का क्षेत्र कम नहीं रहता । अपने प्रियजनों के सामने कोई नहीं झेंपता । जिनसे तुम प्रेम करोगे और जिनकी सेवा करना चाहोगे उनके प्रति झेंप मिट जायगी । स्त्री के प्रसन्न रहने पर भी पुरुष की झेंप मिट जाती है । सेवा करके स्त्री को प्रसन्न करना चाहिये; और यदि मिलन नहीं चाहते हो तो कह दो कि मेरा अभी अध्ययन काल है; अतएव मैं कुछ काल संयम करूँगा । इस प्रकार जबतक पूर्ण विश्वास न हो जाय न मिलो, पर इसके लिये चिन्ता कदापि न करना । सहजभाव से सभी बातें ठीक हो जाती हैं ।

(५) प्रति दिन सबेरे उठकर घूमने जाना चाहिये और एक मील घूमना चाहिये । कम से कम दो मील सबेरे घूमने जाओ तो स्वप्नदोष कम हो जायगा । फिर पश्चमोत्तान आसन करो । कुछ बैठकी भी लगा लो । इससे शरीर में वीर्य फैल जाता है और कामोत्तेजना कम हो जाती है । फिर ८ बजे के पूर्व ही ठंडे पानी में नहा लेना चाहिये ।

(६) चाय पीना बन्द कर देना; उसके बदले दूध पीना चाहिये । भोजन करने के बाद शाम को कुछ गुनगुना दूध पी लेना । इससे यदि कुछ और भी अधिक स्वप्नदोष हो जाय तो उससे घबड़ाना नहीं । यह पीछे दो-चार दिन के बाद ही ठीक हो जाता है ।

(७) सोते समय सभी के प्रति मैत्री भावना को लेकर सोना और अपने

आपको कहना कि मेरा जीवन सबके लिये है, अतएव मैं अवश्य स्वास्थ्य लाभ करूँगा। प्रतिदिन जितनी उन्नति हो जाय, उसपर विचार करना चाहिये।

(८) पढ़ने लिखने की उन्नति पर भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिये डायरी बनाना और प्रतिदिन का कार्य लिखना उचित है। एक दिशा में जो आत्म-विश्वास आ जाता है वह दूसरी दिशा में भी फैल जाता है। यदि तुम सब बातें भूलकर केवल प्रथम श्रेणी में पास होने का प्रोग्राम बना लो, तो सभी प्रकार का पुरुषत्त्व तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ता फिरेगा।

इतिशुभ भवदीय

लाे० रा० शुक्ल

[इस पत्र में रोगी की भ्रमात्मक धारणाओं का निवारण करने की, उसके अपने आपके और दूसरों के प्रति घृणा की मनोवृत्ति को बदलने की, उसे रचनात्मक कार्य में लगाने की, तथा उसका उत्साह बढ़ाने की चेष्टा की गई है]

तीसरा पत्र

दिनांक १८

जनवरी १९४९

श्रीपूज्य शुक्लाजी ! अभिवादन !

आपका कृपा पत्र दिनांक १६ जनवरी को हस्तगत हुआ। मेरा हर्ष मानो अपनी चरम परिणिति पर पहुँच गया था। मेरी दशा अवर्णनीय हो गई है। पूज्य देव !

अस्तु, आप ने नानाविधि आदेश दिया है। मैंने बड़ी गम्भीरतापूर्वक उनका विचार किया। मेरा भविष्य मानो समुज्जवल हो रहा है। तभी तो मेरे दौर्बल्य का निराकरण स्वरूप निर्देशन मुझे दिया गया है।

स्त्री के विषय में आपने लिखा है, उसे प्यार करना चाहिये, सविधि। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। मेरा आत्यन्तिक स्नेहजनित सुभावनायें इसकी साक्षी है। भविष्य में भी निर्दिष्ट गति से सप्रयास प्रेम प्रदर्शन होगा। यदि हृदय में अपूर्व स्थान है, अभी भी उसका, मेरी जीवन ज्योति का।

मेरा अतीत काम-जन्य कुवासनाओं और कुकृत्यों का जर्जरित इतिहास

है। मैं बड़ा कामुक हूँ। अपनी कामुकता के विषय में मेरी ऐसी धारणा है—"I can challenge the whole world, so far as my misdeeds are concerned"। मैंने अपने निकटतम सम्बन्धियों पर ही अपना कुप्रयोग किया है। अन्य कितने बहुत से केवल सम्बन्धियों पर हा मेरा दुष्प्रयोग रहा। रहा मेरा बड़ा ही कामुक चरित्र रहा है। अचेतन मन के उन कुकृतियों के कुसंस्कारों का, अपने निकटतम मित्रद्वय के समक्ष वर्णन करने पर वह चेतना के प्रकाश में आ गया है। दो दिन मुझे 'आत्महत्या' की भावना ने सर्वथा आक्रान्त कर दिया था। पर इसके दूरीकरण का भी प्रयास किया गया था। अभी भी कभी कभी वे अनिच्छित रूप में बड़े उग्ररूप में हो जाया करती हैं। अब आत्महत्या की भावना की प्रतीति नहीं होती है, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि बड़ी बेचैनी अनुभव कर रहा हूँ। मेरा चित्त पूर्ण रूपेण उद्विग्न हो जाता है। जितना उन भावनाओं क हटाने का प्रयास किया जाता है, वे और भी संतप्त किया करती हैं। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी काम प्रकृति एवं विगत कुकृत्यों के प्रति मुझे सहानुभूति प्रदर्शन कर ही उपशमन करना चाहिये और इसी रीति से मैं सफल भी होऊँगा। इसके लिये कदाचित् रचनात्मक कार्यक्रम में व्यस्त रहना पड़ेगा R. S. S. के परित्याग करने पर ही मेरे कुकृत्यों ने विशेष रूप से स्थान लिया है, यद्यपि पहले भी कितने कुकृत्य हो चुके थे। इन बातों का समुचित निर्देशन आप करेंगे। किस प्रकार इन बातों में सफलता प्राप्त की जाय।

मेरा द्विरागमन होना इस वर्ष निश्चित नहीं है, क्योंकि सुव्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः २½ वर्ष के उपरान्त ही हो सकेगी। परिस्थिति कुछ ऐसी ही हैं। पर प्रयास करने पर इस वर्ष भी हो सकता है। मैं इतना कामुक हूँ क्या मैं इतनी लम्बी अवधि तक अपने को रोक सकूँगा? भरोसा नहीं है, अपने आत्मबल पर। पर उत्तम होगा २½ वर्ष तक तपश्चर्या द्वारा अपने को अपनी पत्नी के स्वर्णिम सम्पर्क से वंचित रखना ही। इस बात के लिये आप आवश्यक निर्देश करेंगे। मैं किस प्रकार शान्तिपूर्वक इस लम्बी अवधि की व्यतीति सफलतापूर्वक कर सकूंगा। क्योंकि स्त्री के विषय में मैं सदा प्रत्येक क्षण अभाव की अनुभूति करता हूँ, एवं व्याकुल रहता हूँ। मेरा रचना-

त्मक कार्यक्रम का निर्धारण उसी प्रकार का होना चाहिये, जो मेरे उपयुक्त हो। अध्ययन के विषय में परिश्रम मुझ से तनिक भी नहीं सकता है। अतः इन बातों पर पूर्णरूप से विचार विमर्श करने के उपरान्त आप मेरा आवश्यक [इस लम्बी अवधि की व्यतीति की रीति का] निर्देशन करेंगे। आवश्यक एवं सुलभ विधियों का अभ्यास Routine (नियम) के तौर पर, या जो उचित समझें। किस प्रकार के वातावरण में मैं अपने को रखूं। मेरा Routine (प्रतिदिन का कार्यक्रम) क्या हो !

इस पर विशेष ध्यान देंगे। पत्नी के यहां से पत्र मंगाया जाय ? क्या यह मेरे लिये लाभदामक सिद्ध होगा ? इस के विषय में भी अवश्यक निर्देशन अपेक्षित है।

सुन्दर होने की मेरी जो अन्तः प्रवृत्ति है, इस के लिये क्या किया जाय।

वीर्य सम्बन्धी मेरी ऐसी धारण है कि मैंने अपने को जितना बर्बाद किया है उतना कोई न कर सका होगा। इस का आमूल नाश कैसे हो। इसके लिये आदर्शित विधियों के सिवाय भी कुछ अभ्यास किया जाय या ऐसे ही यह ठीक हो जायगा, निकट भविष्य में। भोजन पर विशेष ध्यान ऐसे भी रहता है। मेरी ऐसी प्रवृत्ति रही है कि मैं अपनी दुःख गाथा औरों के सामने गाऊं। कुछ नमक मिर्च लगा कर भी मेरी ओर से ऐसा प्रयास किया गया है। क्या अपनी Inferiority complex (आत्महीनता की भावना) के विनाश के लिये superiority (उच्चत्ता) की भावनाओं का प्रचार किया जाय ? अथवा मन में भी उनकी निवृत्ति किस प्रकार हो ? आत्मविश्वास का निर्माण तो सर्वथा सहायक ही है।

इन बातों पर पूर्णरूप से विचार कर आवश्यक निर्देश करेंगे। पूर्व की भांति आशा है यथाशीघ्र मुझे पत्रोत्तर मिलेगा।

पत्नी से मैं इस २½ वर्ष की अवधि में यदा कदा मिलने की भी व्यवस्था कर सकता हूँ। पर अन्य समय में काम प्रवृत्ति का उचित दमन कैसे हो ? मेरा एक पास रहने वाला मित्र कहीं दूसरी जगह नौकरी के लिये जा

रहा है। इस दुर्दमनीय काम प्रवृत्ति का (यदि संभव हो) मार्गान्तरीकरण भी कैसे हो सकता है,

पत्रोत्तर के लिये

आकुलहिया

× × ×

तीसरे पत्र का उत्तर

बंगाली बगीचा
कमच्छा बनारस
२०।१।४९

प्रिय × × ×

आशीष

तुम्हारा १८।१।४९ का पत्र मिला। मनुष्य में चाहे जितने दोष क्यों न हों यदि वह अपने दोषों को मान लेता है और उन से मुक्त होने की चेष्टा करता है तो वह अवश्य ही उनसे मुक्त हो जाता है। धीरे धीरे चरित्र का निर्माण होता है और इच्छाशक्ति बलवती होती है।

यह अवस्था प्रबल आवेग की होती है; अतएव किसी प्रकार के काम चेष्टा में पड़ जाना स्वाभाविक है। पर इसी प्रकार के लोग देश की सेवा भी लगन के साथ करते हैं। जिन में कामुकता होती है उन्हीं में प्रेम भी प्रबल होता है।

शारीरिक परिश्रम करना कामवासना का मार्गान्तरीकरण करता है। अतएव जहां तक हो सके शारीरिक परिश्रम किया करो। सवेरे उठ कर स्नान करना नित्य प्रति व्यायाम करना, फलाहार कभी-कभी करना और रविवार के दिन ह सके तो एक शाम ही भोजन करने से (हो सके तो बिना नमक के) इच्छा शक्ति बलवती हो जाती है।

सदा अपनी कमजोरियों पर विचार मत करते रहो। कुछ दूसरों की सेवा किया करो। जब तुम्हें किसी असहाय का आशीर्वाद प्राप्त हो जाएगा तो तुम अपने आप को स्वभावतः बली बना हुआ पाओगे। कभी-कभी नदी में स्नान करने जाओ। बहते पानी में देर तक स्नान करने से कामवासना ठंडी हो जाती

है। इस से वीर्य रुकता है और दृढ़ होता है। यदि प्रतिदिन नदी में ठंडे पानी में नहाओ तो यह तुम्हारे रोग की प्राकृतिक चिकित्सा हो जायगी।

स्त्री को पत्र लिखना अच्छा ही है, पर मन को रोकने का ही प्रयत्न करना चाहिये। धीरे धीरे मन पर काबू आ जाता है। फिर सदा आत्म-भर्त्सना नहीं करना चाहिये। कुछ भूल हो जाने पर कुछ भला काम कर डालो। गरीब लोगों की सहायता करो, कमजोर बालकों को पढ़ालिखा दिया करो। इस से भी मानसिक बल आता है। जिस व्यक्ति का मानसिक बल एक ओर बढ़ता है उस का बल दूसरी ओर भी बढ़ता है।

महाभारत के वीरों का चरित्र, शिवाजी की गाथा, तथा दूसरे देशों के लोगों की वीर गाथाओं को पढ़ना उचित है। बुराइयों को दूर करने के लिये प्रयत्नशील हो और उन्हें जान भी चुके हो, अतएव इस कार्य में समर्थ हो ही जाओगे। सोते समय किसी महा पुरुष का विचार मन में ले कर सोओ। भगवान बुद्ध, दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि महात्माओं की जीवन गाथाओं को पढ़ने से लाभ होता है। सोते समय के विचार बड़े उपयोगी होते हैं। तुम तो दिन प्रतिदिन सबल हो रहे हो और आगे भी बलवान बनोगे।

आत्मा सदा पवित्र रहता है। वह सभी कुसंस्कारों को नष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। यह आत्मा सभी में है। इस के रहते पाप है कहाँ!

जब किसी को पत्र लिखो तो धीरे धीरे लिखा करो। इस प्रकार विचार भी सुसंगठित हो जाते हैं और मन में प्रसन्नता भी आती है। अपने मन को आत्म-भर्त्सना कर के निर्बल न होने देना चाहिये। कुछ चित्रकारी, संगीत अथवा लेख लिखते रहना चाहिये। इस से तुम्हें लाभ होगा। मेरी "नवीन मनोविज्ञान" नामक पुस्तक पढ़ना। उस से लाभ होगा।

इति शुभ—भवदीय

× × ×

[इस पत्र में रोगी के विचारों को नकारात्मक रुढ़ि से मुक्त करके रचनात्मक मार्ग पर ले जाने की चेष्टा की गई है। उसे सन्निर्देशों के द्वारा प्रोत्साहित भी किया गया है।]

चौथा पत्र

× × ×
२७-१-४९

पूज्य शुक्लाजी ।

अमित अभिवादन ।

इधर कुछ दिनों से दैव योग से मेरी सारी कलुषित एवं जर जर भावनाएँ नष्ट हो चुकी हैं । न जाने कहाँ वे विलीन हो गयीं । मुझे ऐसा प्रतीत होता है, वे सारी भावनाएँ, मेरे अतीत के कुकृत्यों का चेतना के प्रकाश में आने की क्षणिक प्रतिक्रिया मात्र थी ।

कुछ दिनों से शयन के पूर्व मैत्री भावना का अभ्यास करता हूँ। व्यायाम एवं प्रातः भ्रमण भी आरम्भ किया है । चित्त प्रसन्न रहता है ।

अपने दौर्बल्य के विषय में एवं न्यूनता की प्रतीति (Inferiority complex) के विषय में ऐसा लगता है कि मैं सदा अपनी दुःख गाथा औरों के सामने गाया करता था। मेरा अतीत, काम पूर्ण अतीत का भी कारण शायद मेरे बचपन के रचनात्मक कार्य-क्रम का अभाव ही है। पर, अब ईश्वर की कृपा से मैं स्वस्थ्य हो गया हूँ।

तथापि मुझे अपनी स्त्री का अभाव खटकता है । इसके विषय में, एवं अपने अढ़ाई वर्ष के मिलने के विलम्ब (को बिताना) आदि के विषय में उचित निर्देश करेंगे ।

मैंने कुछ बच्चों एवं बच्चियों का पढ़ाना भी आरम्भ किया है। उनके विषय में भी लिखेंगे। मेरे शिष्यों के विषय में मेरी कैसी नीति रहेगी, लिखेगें। क्या नारी मन पर भी नर *मस्तिष्क जैसा ही प्रभाव होता है। मेरी स्त्री अशिक्षिता के उपचार के विषय में लिखेगें ।

भवदीय
× × ×

[इस पत्र में रोगी के विचार पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उसका रोग सदा के लिये चला गया । परन्तु मानसिक व्याधियां न तो थोड़े काल में आती हैं और न वे एका एक चली ही जाती

हैं। कई दिनों तक इस विद्यार्थी से पत्र व्यवहार हुआ। आज भी होता है। उसकी मानसिक दशा क्रमशः सुधरती गई। बीच बीच में प्रति-गमन अवश्य हो जाता था, पर यह अल्प काल तक ही रहता था]

चौथे पत्र का उत्तर

बंगाली बगीचा
२८-१-४९

प्रिय × × ×

सप्रेम आशीष !

तुम्हारा २७ जनवरी का पत्र मिला। पत्र को पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम्हारा स्वास्थ्य और मन ठीक हो रहा है यह तो तुम्हारे इस पत्र के लेख से ही स्पष्ट है। इस पत्र की भाषा बड़ी ही सुन्दर और विचार पूर्ण है। पत्र में वे असावधानी भी नहीं दिखाई पड़तीं जो पहले पत्रों में दिखाई पड़ती थीं। अब तुम्हारा आत्म-विश्वसा बढ़ते जा रहा है।

बच्चों को तुम पढ़ा रहे हो, यह यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जो व्यक्ति दूसरों को उठाने की चेष्टा करता है उसे अपने आपको उठाने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह अपने आप ही उठ जाता है। अतएव यदि तुम पूरे मन से, और प्रेम के साथ बच्चों को पढ़ाओगे तो तुम शीघ्र ही देखोगे कि तुम में अपनी कामवासना के आवेग के रोकने की क्षमता अपने आप ही आ गई। बच्चों का पढ़ना और उनसे प्रेम करना एक बड़ा ही पुण्य कार्य है। इस कार्य के करने से काम शक्ति का शोध होता है। इससे एक ओर मस्तिष्क का विकास और हृदय की पवित्रता आती है और दूसरी ओर काम-वासनों का आवेश इससे कम हो जाता है। अतएव उसे रोकने में अथवा उसकी शक्ति को सन्मार्ग में लगाने में कठिनाई नहीं होती। तुम नित्यप्रति व्यायाम करते हो (घूमने जाते हो) यह जानकर भी बहुत प्रसन्नता हुई। मुझे अब विश्वास हो गया कि मैं जो समय तुम्हें दे रहा हूँ वह सफल हुआ। सबेरे ठंढे (ताजे) पानी से स्नान करना भी अपने मन को साम्य भाव में

रखने के लिये उपयोगी होता है। कुछ धर्म पुस्तकें जैसे भगवान् बुद्ध का धम्मपद, 'मिलिन्द राजा के प्रश्न' और श्री मद्‌भगवद् गीता का अनुवाद भी पढ़ना। इन पुस्तकों के पढ़ने से विवेक की वृद्धि होती है और आत्म-नियन्त्रण का सामर्थ आता है। मनोविज्ञान की पुस्तकें पढ़ा करो। जो व्यक्ति जितना ही अपने मन को जानता है वह अपने के आवेगों को रोकने में उतना ही समर्थ होता है, और बिना मनोविज्ञान के ज्ञान के मानसिक आवेगों का रोकना सम्भव नहीं। जो व्यक्ति हठ से अपने आवेगों का दमन करने की चेष्टा करता है वह अपने जीवन को उतना ही दुःखी बना लेता है। मन की क्रियाओं के नियम को समझ कर ही मानसिक शक्तियों का सदुपयोग किया जा सकता है।

तुम अभी अपनी स्त्री से नहीं मिल सकते, यह तो तुम्हारे लिये एक सौभाग्य की बात है। तुम्हारा पत्र भारी उत्साह दिखाता है। यदि तुम मनोविज्ञान का अध्ययन करने लगो तो कामवासना की समस्या सरलता से ही हल कर लोगे। जो व्यक्ति जितना ही अपने आवेगों को रोकने की चेष्टा करता है वह अपनी बुद्धि का और अध्यात्मिक शक्ति का उतना ही विकास करता है। अढ़ाई साल का समय बहुत लम्बा समय नहीं है। मनुष्य का जीवन-काल लम्बा है। हम सुख की घड़ी को जितना ही अधिक टालते रहते हैं अपने जीवनकाल को उतना ही अधिक बढ़ाते हैं और अपनी प्रतिभा को उतना ही अधिक विकसित करते हैं। मैंने स्वयं तीस साल की अवस्था में शादी क है और इस समय भी मैं संयमित जीवन रहता हूँ। मेरे पाँच बच्चे हैं। एक बच्चा मेरे पास रहता है और चार अपने माँ के साथ मध्यप्रांत में रहते हैं। यदि मैं विषयभोग की प्रवृत्ति से लड़ने का सदा प्रयत्न न करते रहता तो न तो मैं इतना पढ़ ही सकता, जितना मैं पढ़ा हूँ, और न मैं समाज की उतनी सेवा कर सकता, जितनी आज कर सकता हूँ। मैं बहुत ही गरीब घर का बालक था और एम० ए० तक मैं ट्यूसन करके तथा छात्रवृतियों से पढ़ता रहा। अपना जीवन केवल वैयक्तिक सुख के लिये नहीं हैं। इसका ध्येय अपने आपको सभी के लिये समर्पित करना है। इस विचार के दृढ़

करने से मनुष्य में वह क्षमता आती है जिसके कारण वह अपने आप पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। अभी तक तुम्हारा एक प्रकार का अभ्यास रहा, अब दूसरे प्रकार का अभ्यास प्रारम्भ हुआ है। तुमने अपने आत्मोत्सर्ग की ओर अपना पग बढ़ाया है। अब यह निश्चय है कि तुम अपने अन्दर नया उत्साह पाओगे। जैसे जैसे तुम्हारे रचनात्मक कार्यों का क्षेत्र बढ़ेगा और रचनात्मक आनन्द की वृद्धि होगी तुम निम्न कोटि के आनन्द से अपने आप ही से विरत हो जाओगे। इसके लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ेगा फिर अढ़ाई वर्ष के भीतर भी तो आपस का मिलन सम्भव है। जहाँ इच्छा रहती है वहाँ मार्ग निकल ही आता है। यदि हमारे समाज की कोई रूढ़ि इस प्रकार की है जो मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास न कर उसका ह्रास करती है तो उस रुढ़ि का अंधे बनकर पालन करना भी कोई कर्त्तव्य नहीं है ।

मैं तो इतनी ही बात के लिये उत्सुक हूँ कि तुम में उत्साह, हिम्मत और आशा की वृद्धि हो। जिस मनुष्य में ये गुण होते हैं वह अपने कल्याण का मार्ग खोज लेता है और जो उचित है उसे करने में सफल होता है। अपने अध्यात्मिक विकास पर लगे रहना और अपना अधिक से अधिक आत्मोत्सर्ग करना, यही हमारे कार्यों का अन्तिम ध्येय होना चाहिये।

सप्रेम भवदीय

ला० रा० शुक्ल

[इस पत्र में विद्यार्थी के विचार गंभीर बनाने और उसमें आत्म-नियंत्रण का भाव लाने की विशेष चेष्टा की गई है। उसे शारीरिक स्वास्थ की रक्षा के लिये भी निर्देश दिये गये हैं। इनसे भी रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ाने की चेष्टा की गई है।]

पाचवां पत्र

दिनांक २
फर्वरी १९४९

श्री दीनानहारी पूज्य शुक्ला जी ! अनन्त अभिवादन !

आप का पत्र मिला। उत्तर में कुछ देर अवश्य हुई है। मनोविज्ञान के विस्तृत ज्ञान के लिए मैं सचेष्ट हूँ। निर्देशानुसार यथाशक्य नियमों का पालन करता हूँ। आप का आशीर्वाद रहा मेरा आत्मविश्वास निश्चय वृद्धिगत को प्राप्त होगा। कुछ मनोविज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन से मानों मैं अपने जर्जर अतीत का कारण पा गया हूँ। प्रतीत होता है मेरे स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति ही मेरे ही जैसा पंक प्लवित हो गया था। मेरे वे युग समाप्त हो गये हैं। आप का स्वर्णिभि सान्निध्य प्राप्त हो गया है।

अब कारण स्पष्ट होनेपर भी मुझे ऐसा लगता है मैं बहुत Inferior (दैन्यभाव का) रहा हूँ, अब भी हूँ। इसका परिहार एवं काम आवेग का उपशमन सम्बन्धी पूर्ण प्रभावी आदेश अभी नितान्त आवश्यक है। क्योंकि यह विचार बड़ा ही संतत करता है। अत्यधिक अभी भी अपने पर भरोसा नहीं है।

आप का
× × ×

[इस पत्र में कुछ विश्वास और कुछ सन्देह भी पाया जाता है। परन्तु तो भी मानसिक स्थिति संतोषजनक है।]

पत्र का उत्तर

बंगाली बणीचा
११।१२।४९

प्रिय × × × !

आशीष

तुम्हारा २।२।४९ का पत्र यथा समय मिला। मैं अपने सुखी बालक' नामक पत्रिका में व्यस्त था, अतएव मैं तुम्हारे पत्र का उत्तर यथा

समय नहीं दे पाया। पर अब अवकाश मिला है, अतएव तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ।

तुमने Inferiority feeling (दैन्य भाव) और काम वासना की प्रबलता, इन दो बातों के विषय में पूछा है। इन दोनों के कारण एक ही हैं और दोनों के निवारण के उपाय बहुत कुछ एक से ही हैं। कामवासना की शक्ति जब विकास की ओर नहीं जाती तो वह प्रतिगामी बन जाती है, अर्थात् मनुष्य कोई ऐसा काम करने लगता है जिससे उसे आत्म-भर्त्सना होती है। वह ऐसे कामों से अपने आप को रोक भी नहीं सकता है। जैसे जैसे उसकी आत्म-भर्त्सना प्रबल होती जाती है, उसकी इच्छा शक्ति निर्बल होती जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य बुरे काम करता है उन्हें बुरे काम जानता भी है, तिस पर भी वह अपने आप को उनसे नहीं रोक पाता। बार-बार आत्म-भर्त्सना करने से अपने आप हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

कामवासना के रोकने के लिये और हीनता के भाव के निवारण के लिये इच्छा-शक्ति की दृढ़ता की आवश्यकता होती है। यह इच्छा शक्ति की दृढ़ता के लिये कुछ विशेष प्रकार के अभ्यासों की आवश्यकता है। इनको आप करें, तो आप को लाभ होगा

१. अपने किसी भी काम के लिये वर्तमान मानसिक परिस्थति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि तुम पश्चात्ताप करना अथवा आत्मभर्त्सना करना एक दम छोड़ दो। आत्म-भर्त्सना व पश्चात्ताप के भाव से मन निर्बल हुआ है। इस भाव को छोड़ देने से मन की निर्बलता हट जायगी। फिर धीरे धीरे आत्म नियन्त्रित करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और फिर पश्चात्ताप करने की आवश्यकता ही न होगी। तुम अपनी वर्तमान अवस्था में सदा सोचते रहो कि जो कुछ होता है सब मेरे कल्याण के लिये होता है; मेरा विषयी होना भी मेरे कल्याण के लिये है। यह 'शिव भावना' का अभ्यास है। इस को दृढ बनाने के लिये मेरी 'अनुभव प्रकाश' नामक पुस्तक पढ़ना। पर पुस्तक न भी हो तो अभ्यास तो करते ही रहना।

२. सोते समय सदा इस भावना को मन में लाओ कि मैं प्रति दिन प्रत्येक प्रकार से भला होते जा रहा हूँ। इस भायना के अभ्यास के पूर्व कुछ ऐसे ग्रन्थ भी पढ़ो जिससे तुम्हें सद्विचार मिलें। इस सम्बन्ध में श्री राल्फ वाल्यो ट्राइन महाशय की 'इन ट्यून विद दी इनफिनाइट' नामक पुस्तक बहुत उपयोगी होगी। इसे तुम बनारस के इन्डियन बुक शाप कमक्षा से बुला सकते हो। पुस्तक का दाम २) के लगभग होगा।

३. अपने मित्रों के साथ प्रतिदिन खेला करो, चाहे वे इनडोर गेम हों अथवा आउट्डोर। जितना ही तुम अपने मित्रों के साथ खूब हँसी मजाक करोगे और उनसे मिलकर खेलोगे, तुम्हारे कामवासना-सम्बन्धी और हीनता-सम्बन्धी विचारों का उतना हो परिष्कार होगा।

४. अपने मित्रों के चरित्र की आलोचना कभी मत किया करो। जिस को चरित्र में गिरा हुआ देखो उसके प्रति मन में भावना लाओ कि वह सुधर सकता है और वह एक दिन सुयोग्य व्यक्ति बन जायगा। यदि वह तुमसे अपनी कमजोरियों के सम्बन्ध में बातचीत करें तो उसे अपने ही ढंग से प्रोत्साहित कर दिया करो। इस प्रकार दूसरों का कल्याण करने की भावना से अपना मनोबल अपने आप बढ़ जाता है। फिर न केवल हम अपने ऊपर आत्मनियन्त्रण करने में सफल होते हैं, वरन् दूसरों को जो सुझाव देते हैं उनसे उनका भी आध्यात्मिक बल बढ़ जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अपने आप को गिरा समझने वाले व्यक्तियों को प्यार करता है वह उतना ही बड़ा महात्मा है। भले लोगों को प्यार करना सरल है परन्तु गिरे हुए लोगों के प्यार करने में ही सच्ची धार्मिकता है। मनुष्य की आत्मा महान् बली है। जब एक बार मनुष्य को आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है और जब उसमें एकबार आत्म-सुधार की भावना जागृत हो जाती है तो उसका पुराना सारा बुरा कर्म सरलता से ही नष्ट हो जाता है। फिर उस के कुकृत्य ही उस के उत्थान का कारण बन जाते हैं।

तुम ने लिखा है कि तुम में कविता बनाने का शौक है। इस शौक को और बढ़ाओ। यदि कुछ भावात्मक निबन्ध लिख सकते हो तो लिखो। इन निबन्धों और कविताओं को मेरे पास भेजो। इन की नकल अपने पास

अवश्य रख लेना। जो कवितायें अथवा निबन्ध ऊँचे स्तर के होंगे उन्हें मैं अपनी पत्रिका में छापूंगा। इन्हें श्री × × ×, जो आप के अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं, को दिखा लेना और सुधार कर भेजना। यदि इस में कुछ झिझक मालूम हो तो सीधे ही भेज देना। जब हम कोई रचनात्मक कार्य करते रहते हैं तो हमारा आत्म-विश्वास बढ़ता है और हमें रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। जब मनुष्य का आत्म विश्वास बढ़ता है तो उसकी इच्छा-शक्ति भी दृढ़ हो जाती है और जब मनुष्य रचनात्मक कार्यों में आनन्द लेने लगता है तो वह स्वभावतः ही निम्न कोटि के आनन्द से विरत हो जाता है। फिर उसे काम वासना सम्बन्धी आवेगों पर विजय प्राप्त करना कठिन नहीं रहता। अतएव किसी न किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में सदा लगे रहो। तुमने बच्चों का पढ़ाना तो प्रारम्भ कर ही दिया है। यह भी एक बड़ा ही पुण्य कार्य है, अर्थात् इससे मन पवित्र बनता है और इसके करने से जो आनन्द की अनुभूति होती है उससे काम वासना के आवेगों को रोकने में सहायता मिलती है।

६. यदि तुम संगीतज्ञ हो तो अपने मित्रों के सामने कुछ कविता पाठ किया करो सुमित्रानन्दन पन्त के 'पञ्जन' 'पल्लव,' ,वीणा'' 'ग्रन्थि' आदि कवितायें पढ़ते रहो। यदि बंगला जानना संभव हो तो शरत बाबू और श्री रवीन्द्रनाथ की कविताओं को पढ़ो। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द्र, बंकिम चन्द्र के उपन्यासों के अनुवादों को भी पढ़ो। इनसे तुम्हारा लाभ होगा। यदि बाजा बजाना आता हो तो थोड़ा समय बाजा बजाने में भी दो। संगीत कामवासना-सम्बन्धी भावनाओं को परिष्कृत करने का तथा मन को त्रास देनेवाली अनुभूतियों के संस्कारों का रेचन करने का सर्वोत्तम उपाय है।

७. सदा अपने आप के विषय में सोचो कि मेरा जीवन मेरे लिये नहीं है। यह तो सब के लिये है। इस विचार को जितना ही अधिक दृढ़ करोगे उतना ही तुम अपने आप में आत्म-विश्वास की वृद्धि होते हुए पाओगे। जो व्यक्ति जितना ही स्वार्थी होता है उस का मन उतना ही निर्बल होता है और जो अपने आप को दूसरों के हित के लिये जितना

ही भुलाने की चेष्टा करता है वह उतना ही प्रबल मन का हो जाता है। हम जब तक अपने आप को पूर्ण बनाने की चिन्ता करते रहते हैं हमें आत्म-भर्त्सना के कारण मिलते ही जाते हैं। दूसरों की किंचित सहायता करने करने से जो आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है उस से हमारा मन बली बनता है और हमारा जीवन सुखी होता है।

८. यह जो तुम्हें लिखा जा रहा है उस पर बार बार ध्यान देना; तुम्हें तुम्हारे आनजाने हो निश्चित रूप से लाभ होगा।

सप्रेम भवदीय

लां० रा० शु०

इस विद्यार्थी से कई दिन तक पत्र व्यवहार हुआ। अपनी एफ० ए० की परीक्षा के समीप वह बनारस आया। इस समय उसका मन कुछ डवां-डोल हो गया था। मानसिक रोगियों को परीक्षा के समय प्रायः ऐसा ही हो जाता है। परन्तु कुछ दिन बनारस रहने के पश्चात् उसका आत्म-विश्वास फिर जाग्रत हो गया। परीक्षा के बाद उसने लेखक को निम्नलिखित पत्र लिखा—

दिनांक पूजन
१९५०

पूज्य पाद शुक्ला जी,

दैनिक अभिवादन !

आपके आशीर्वाद से आज मैं सेकन्ड डिवीजन में आई० ए० की परीक्षा पास कर गया हूँ। आपने जो मुझे मानसिक संतुलन प्रदान कर मेरे विकास में जो योगदान दिया है आज का दिवस उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं कितना आभारी हूँ—निश्चित नहीं। आप गर्मी की छुट्टियों में में वहीं रहेंगे या नहीं, जल्दी लिखें। मैं वहां आपके दर्शन को आना चाहता हूँ। यहां का अन्य समाचार कुशल है।

स्नेहाभिलाषी
× × ×

तीसरा उदाहरण

नपुंसकता के भय का तीसरा उदाहरण एक पचीस वर्षीय नवयुवक का है। जब उसने लेखक से पत्र-व्यवहार प्रारंभ किया तब वह पचीस वर्ष की अवस्था का था। इस समय वह एक सरकारी दफ्तर का कर्मचारी है। वह शरीर में स्वस्थ और हट्टा कट्टा है। उसकी धार्मिक बातों में रुचि है। उसका विवाह हुए चार वर्ष हो गये थे परन्तु वह अपनी स्त्री से मिल नहीं पाया था। उसे भय था कि वह उसके साथ काम क्रिया न कर सकेगा। एक दो बार जब मिलने का अवसर आया तो उसके मन में भय आ गया और उसे काम उत्तेजना ही न हुई। इसके बाद उसके मन में आत्म-भर्त्सना होने लगी। वह अब अपने आपको अपनी स्त्री से छिपाने लगा। वह समझने लगा कि वह नपुंसक हो गया है और यदि यह बात उसकी स्त्री जान लेगी तो वह उससे घृणा करने लगेगी। इस विचार के कारण वह न तो अपनी स्त्री को अपने पास बुलाता और न उसके पास जाता था।

उसकी स्त्री इस समय कालेज में पढ़ती थी। वह उसे पढ़ाई में ही लगाये रहा। बहाना भी अच्छा मिल गया। परन्तु उसे मन ही मन भारी आत्मग्लानि होती थी। इस आत्मग्लानि के कारण उसका जीवन उसे भार रूप हो गया। एक दो बार उसने घर से भाग जाने अथवा आत्महत्या करने की भी चेष्टा की, परन्तु फिर कुछ सोचसमझ कर अपने स्थान पर ही बना रहा। उसने कई वैद्यों और डाक्टरों की दवा की, परन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। इस व्यक्ति को हस्थमैथुन करने की आदत थी और उसे स्वप्न-दोष भी होते थे। युवक समझता था कि इन ही के कारण वह नपुंसक हो गया है। परन्तु इनका अन्त भी किसी प्रकार नहीं होता था। उसकी इच्छा-शक्ति निर्बल हो गई थी। जितना ही वह अपने आप को हस्थ मैथुन से रोकने का प्रयत्न करता था वह उतनी ही अधिक उत्तेजना होती थी।

युवक की पुरानी जीवनी ज्ञात करने से पता चला कि उसे हस्थमैथुन की आदत तेरह वर्ष से ही लग गई थी। कुछ समय तक वह प्रति दिन इसे करते रहता था। उसका विद्यार्थी काल इसी प्रकार बीता। पीछे उससे होने

वाली हानि के बारे में उसने पढ़ा। इससे उसे भय हुआ कि कहीं वह नपुंसक तो नहीं हो गया। परन्तु हस्तमैथुन की आदत सर्वथा नहीं गई। इस आदत के कारण उसके लिंग का अगला भाग मोटा हो गया था। अतएव वह समझता था कि अब तो वह निश्चित रूप से नपुंसक हो गया है।

इस युवक को अपनी किशोरावस्था में समान अवस्था की लड़की से भी काम क्रीडा करने का अवसर मिला। परन्तु इस में उसे सफलता नहीं मिली। कोई न कोई बाधा उत्पन्न हो गई। किसी ने उन दोनों को देख लिया। इसके कारण भी रति क्रिया के प्रति उनके मन में भय का भाव आ गया।

इस युवक के भी सौतेली मां है जिससे वह घृणा का भाव रखता है। सौतेली मां का व्यवहार पहले काफी कटु था। परन्तु जब से यह कमाने लगा यह भाव बदल गया है। परन्तु इससे युवक को कोई संतोष न हुआ। वह इसे ऊपरी आवरण मात्र मानता था।

इस मनोवृत्ति का अन्त युवक से अपनी पुरानी सभी आत्मग्लानि जनक घटनायें लिखा कर, अर्थात् उसे अपने कृत्यों की आत्म-स्वीकृति करा कर किया गया। लेखक की "मानसिक आरोग्य" नामक पुस्तक के दूसरे प्रकरण में इस युवक के कुछ पत्र दिये गये हैं, जिनमें युवक ने अपने अतीत काल के आत्मग्लानिजनक अनुभवों को लिखा है। युवक से आत्म-स्वीकृति कराने के लिये उसे कुछ उत्साहवर्धक बातें भी लिखी गई। उससे कहा गया कि लेखक का अतीत काल का जीवन भी उतना ही लज्जाजनक रहा जितना कि युवक का था। इस विचार ने उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति को शान्त करने में पर्याप्त काम किया।

दूसरी बात युवक से मैत्री भावना के अभ्यास की कही गई। अपने नजदीक के सम्बन्धियों से मैत्री भावना का अभ्यास प्रारंभ करना चाहिये। पहले तो उससे अपनी स्त्री के प्रति मैत्र भाव का अभ्यास करने को कहा गया। जो लोग अपने आप में नपुंसकता की कल्पना करने लगते हैं वे अपनी स्त्री को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे उसको मारना चाहने लगते हैं। कभी ऐसे लोग ऊपर से स्त्री के प्रति बहुत प्रेम दिखाते हैं,

परन्तु भीतर से वे उससे जलते रहते हैं। स्त्री के मर जाने पर उन्हें बड़ा संतोष हो जाता है। स्त्री के प्रति स्थायी बैर भाव उन्हें वास्तव में नपुंसक बना देता है। यदि ऐसे लोगों से स्त्री के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाय तो उनका खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर चला आवे। प्रेम में ही शक्ति, पौरुष और आनंद है और प्रेम के अभाव में जीवन भाररूप हो जाता है। सब प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग और चरित्र के दोषप्रेमा भाव की मानसिक अवस्था में उत्पन्न हो जाते हैं।

स्त्री के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास के लिये उसको कुछ उपहार भेजने को सलाह दी गई। उसे सदा पत्र लिखते रहने को भी कहा गया। फिर उसे अपने पास बुलाने को और उससे बात चीत करने की भी प्रेरणा दी गई। इस प्रकार धीरे धीरे एक दूसरे का स्नेह बढ़ता गया। युवक को आश्वासन दिया गया कि उसे कोई रोग नहीं है और न कोई उसे शारीरिक क्षति हुई है। उसके स्वप्नदोष सामान्य हैं। स्वप्नदोष का होना दर्शाता है कि वह शारीरिक दृष्टि से नपुंसक नहीं है। उसकी हस्थ मैथुन की आदत भी यही दर्शाती है। ये दोनों बातें स्त्री को प्रेम करने और उसका प्रेम प्राप्त करने पर अपने आपही चली जाती हैं। ये केवल अवरुद्ध काम शक्ति के विकृत मार्ग द्वारा प्रकाशित होने के परिणाम हैं। काम शक्ति को अपना नैसर्गिक मार्ग मिल जायगा तो उसकी हस्थ मैथुन की आदत और स्वप्न दोषों का अपने आपही अन्त हो जावे गा।

युवक को लेखक की बात ठीक जची और उसमें आत्म-विश्वास आया। फिर धीरे धीरे स्त्री पुरुष से सम्पर्ण मैत्री भाव स्थापित हो गया। एक बार तो पुराने दमन की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरी सीमा तक युवक जाने लगा। परन्तु फिर धीरे धीरे आत्म-संयम की शक्ति युवक में आ गई। अब यह युवक अपना जीवन स्वस्थ रूप से बिता रहा है। उसकी स्त्री एक स्थानीय पाठशाला में अध्यापिका का कामकर रही है और वह अपनी पुरानी सरकारी नौकरी कर रहा है। दोनों का जीवन सुख मय है।

इस युवक को दूसरी सलाह अपनी सौतेली मां के प्रति मैत्री भावना अभ्यास की दी गई थी। जिस व्यक्ति का मन घर के किसी मनुष्य से जला

करता है, उसमें सदा मानसिक संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। ऐसे व्यक्ति का शारीरिक स्वास्थ भी ठीक नहीं रहता। निरन्तर अपने आपसे झगड़ा करते रहने के कारण ऐसे व्यक्ति की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है। जब मनुष्य को मानसिक क्लेश रहता है तो वह उसे भुलाने के लिये इन्द्रिय-सुख की खोज करता है; किसी प्रकार की उत्तेजना में वह अपने आपको भुलाने की चेष्टा करता है। ऐसे व्यक्ति को हस्तमैथुन, वैश्यागिरी, सिगरेट पीने तथा शराब खोरी की आदतें पड़ जाती हैं। जब कोई व्यक्ति इन आदतों के कारण उसकी आलोचना करता है तो वह उनका शत्रु बन जाता है। इस प्रकार उसकी मानसिक शक्ति का दिन प्रतिदिन और भी ह्रास होता जाता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की मानसिक नपुंसकता बढ़ती जाती है। फिर वह किसी शारीरिक रोग का आवाहन करने लगता है और इन रोगों के आने पर वह अपने जीवन को भाररूप बनाकर ढोने लगता है। अतएव अपने सम्बन्धियों के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करना मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ स्थापित करने के लिये नितांत आवश्यक है।

उक्त दो बातों के अतिरिक्त रोगी को छोटे बालकों के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करने को कहा गया। इसके लिये उन्हें प्रतिदिन मिठाई बांटने का सलाह दी गई। उसके शारीरिक रोग को नष्ट करने के लिये आनापान-सति का अभ्यास करने का, प्रतिदिन घूमने का तथा गंगा स्नान करने का आदेश दिया गया। यह शारीरिक रोग की प्राकृति चिकित्सा है। रोगी को प्राकृतिक चिकित्सा में कुछ विश्वास पहले से ही था। इस विश्वास का लाभ उठाया गया। उक्त बातों से रोगी का न केवल शारीरिक स्वास्थ्य सुधरता है वरन् उसमें मानिसक दृढ़ता भी आती है।

उक्त अभ्यास के परिणाम-स्वरूप युवक का स्वास्थ्य और सांसारिक जीवन दोनों ही ठीक से चल रहे हैं।

नपुंसकता के भय के प्रयोगों का निष्कर्ष

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मनुष्य में नपुंसकता का भय कामवासना के नैसर्गिक प्रवाह के अवरोध के कारण होता

है। यह किसी आत्मग्लानि जनक कार्य के कारण होता है। इस प्रकार के अवरोध के होने पर न केवल अनेक प्रकार की मानसिक झंझटें व्यक्ति को हो जाती हैं, वरन् उसे अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग भी हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने शारीरिक रोगों की चिकित्सा में ही अपने मन को सदा लगाये रहता है। वास्तव में ये शरीरिक रोग उसकी मानसिक दुर्बलता के आवरण मात्र होते है। ऐसे रोगियों का वास्तविक उपचार तबतक नहीं होता जब तक वे स्पष्ट शब्दों में अपने पुराने आत्म-ग्लानि जनक कृत्यों की स्वीकृति नहीं करते। पुरानी दुःखद स्मृतियों को चेतना के स्तर पर लाकर ही मनुष्य का मन स्वच्छ और बली बनाया जा सकता है। इस प्रकार का मानसिक रोगी सदा अपने आपको दूसरों से छिपाते रहता है, अतएव उसका रोग जटिल होते जाता है। उसे प्रोत्साहित करने के अनेक उपाय रचे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के अपने भी आत्मग्लानि-जनक अनुभव होते हैं। रोगी की मानसिक परिस्थिति को समझकर चिकित्सक को सावधानी से अपने अनुभव भी रोगी से कहने पड़ते हैं। जब हम स्वयं रोग के प्रति अपनी आत्म-स्वीकृति करते हैं तो रागी को भी अपनी आत्म-स्वीकृति करने में कठिनाई नहीं होती।

इस प्रकार के रोगी के साथ सम्पर्क स्थापित करने से एक लाभ यह होता है कि रोगी भीतरी मन से चिकित्सा को अपना कल्याणकर्त्ता समझने लगता है। फिर चिकित्सा के शुभ निर्देश रोगी के जीवन को प्रभावित करने लगते हैं। सन्निर्देश उसी व्यक्ति को लगते हैं जिसका मन छल कपट से मुक्त हो गया है। जबतक रोगी का मन पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं होता छल की मनोवृत्ति बनी रहती है और इसके कारण चिकित्सकके शुभ निर्देश भी रोगी को आरोग्य प्रदान करने में पूर्णतः सफल नहीं होते। किसी भी रोग के सफल उपचार के लिये एक दो दिन की बातचीत पर्याप्त नहीं होती, कई दिनों तक एक ही विचार का अभ्यास करने पर रोग जाता है। रोगी में मानसिक दृढ़ता लाने के लिए कुछ ऐसी बातों का भी अभ्यास कराना आवश्यक है जो पुराने अशुभ संस्कारों का विनाश करते हैं।

कोई भी मानसिक रोग तबतक सब समय के लिए नहीं जाता जबतक रोगी का अपने आपके और दूसरों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हो जाता। अपने

प्रति और दूसरों के प्रति मैत्री-भावना स्थापित होना स्थायी मानसिक स्वास्थ्य के प्राप्ति के लिए नितांत आवश्यक है। आत्म-मैत्री से आत्म-विश्वास बढ़ता, उससे इच्छाशक्ति दृढ़ होती है और अपने विचारों पर नियंत्रण स्थापित होता है। इस आत्म-मैत्री के प्राप्ति का अचूक उपाय दूसरों का कल्याण करने लग जाना है। जो दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टा करता है वह अनायास अपने आप सुखी बन जाता है। मानसिक रोगों की चिन्ता करने से वे बढ़ते हैं, दूसरों की सेवा में अपने आपको लगा देने से वे अपने आपही नष्ट हो जाते है।

नपुंसकता के भय का अनुभव करनेवाले व्यक्तियों का बचपन मानसिक क्लेश से बीता हुआ रहता है। उनके मन में पिता के प्रति प्रायः भय अथवा द्वेष का भाव रहता है। घर में विमाता की उपस्थिति इस भाव को और भी बढ़ा देती है। जिस बालक को विमाता होती है और जिसके मन में इस विमाता के प्रति प्रबल द्वेष भाव रहता है उसे हस्तमैथुन की आदत लगना अथवा किसी दूसरे प्रकार के काम कृत्यों में लग जाना स्वाभाविक होता है। मन में बैठी उक्त भावनाएं ही मनुष्य के मनमें अनेक प्रकार के कल्पित भय उत्पन्न कर देती हैं। नपुंसकता का भय उनमें से एक है।

अपने मनोभावों का रेचन करने से उक्त मानसिक ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं और फिर रोगी स्वस्थ होता जाता है।

अकारण भय और चिन्ता

हमारे कितने ही किशोर बालकों को अकारण भय और चिन्ता का रोग सताते रहता है। इनका का ऊपरी कारण एक होता है और भीतरी कारण दूसरा होता है। ऊपरी कारण भौतिक होता है और भीतरी कारण नैतिक होता है। अकारण भय किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के कारण उत्पन्न होते हैं। किशोर बालकों में यह भय हस्तमैथुन और समलिंगी अथवा दूसरे किसी काम कृत्य के कारण अथवा ऐसे विचार के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन के उपचार में आत्म-स्वीकृति और निर्देश विधि से काम लिया जाता है। यहाँ पर दो एक किशोर बालकों के अकारण भय के उपचार का वृतान्त दिया जाता है। पहले रोगी का अकारण भय, हृदय की धड़कन, चिन्ता और स्मृति-विभ्रम की बीमारी थी। रोगी एक प्रतिभावन १७ साल का किशोर बालक

है। रोगी होने के समय यह एक कालेज की एफ० एस सी० क्लास में पढ़ रहा था। उसकी अवस्था १७ साल का थी उसके रोग का पूर्ण विररण उसके नीचे दिये पत्रों प्राप्त होता है।

पहला पत्र

श्रीमान्,

आप एक मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिये मैं आपके पास यह पत्र लिख रहा हूँ, इस आशा में कि आप अवश्य मुझे अपनी सम्मति भेजेंगे और लिखेंगे कि मुझे क्या करना चाहिये।

इधर चार पाँच महीने से मैं मानसिक बीमारी से पीड़ित हूँ। मुझको चारों तरफ निराशा ही निराशा दिखाई देती है। अपना जीवन बहुत ज्यादा निराशामय दीखता है। मैं अपने से और अपने कार्यों से संतुष्ट नहीं रहता। लेकिन इधर दो तीन महीने से तो मेरी बहुत ही विचित्र हालत हो गई है। अकारण ही मुझे भय लगा रहता है। किसी वस्तु का दर असल भय भी लगता हो तो लिखूं, लेकिन मुझे अज्ञात सा भय लगा रहता है। मैं जानता हूँ कि यह डर बेकार है, लेकिन फिर भी मैं कुछ काम नहीं कर पाता हूँ।

यह नहीं कि अज्ञात भय सा ही रहता हो लेकिन उसके साथ-साथ दिल भी धड़कता है, और कभी-कभी तो बड़े जोरों से। दिन में तो यह थोड़ा बहुत रहता ही है लेकिन रात के समय यह बढ़ जाता है। उस समय मेरी परेशानी बहुत बढ़ जाती है। कभी मुझे अपने पर दुःख होता है तो कभी मैं अपने को कोसने लगता हूँ। इससे कभी-कभी तो मैं अपने जीवन से निराश हो जाता हूँ और इच्छा होती है......।

जहाँ तक मैं इन बातों के कारण का पता लगाता हूँ, खोज करता हूँ, तो मुझे मन में एक मानसिक ग्रन्थि पढ़ने का विश्वास होता है, जो कि मुझे नीचे लिखी घटना से सम्बन्धित मालूम पड़ती है :—

जून में मेरे बड़े भाई की शादी हुई थी। (हम सब रहनेवाले तो ... के हैं लेकिन भाई........में रहते हैं)। हमारे तीन तेल के कारखाने हैं—एक.. .....में है। एक कारखाने को देखरेख हमारे यही भाई साहब

करते हैं। अकेले होने की वजह से भाई साहब का मन यहाँ नहीं लगता था, इसलिये भाई साहब ने मुझे हाईस्कूल पास करने के बाद अपने पास बुला लिया था और मैं यहाँ के कालेज में फर्स्ट इयर में पढ़ता हूँ।

हाँ तो शादी के बाद अगस्त महीने के करीब भाई साहब ने एक दावत अपने दोस्तों को दी। गरमी के दिन थे, इसलिये ठंढाई भी पिस गई थी। कुछ दोस्त नहीं माने और उन्होंने थोड़ी सी भंग भी डाल दी। हमारे घर में कोई भी किसी प्रकार का नशा नहीं करता और नशे का बहुत बुरा मानते हैं। सबों ने जबरदस्ती मुझको और भाई साहब को थोड़ी थोड़ी ठंढाई पिला दी। ठंढाई बहुत थोड़ी थी थी और कुछ बात हो उस दिन तो कुछ भी नहीं हुआ। हफ्ते भर बाद हमारे यहाँ ताशों की बाजी लगी और सबों ने ताश खेले। गरमी का समय था ही, सबों को प्यास बहुत लग रही थी। इसलिये सबों ने कहा कि अगर ठंढाई वगैरह हो तो बहुत अच्छा है। लेकिन हमारे यहाँ तो कोई इसका शौकीन न था जो ठंढाई का सामान होता। एक दोस्त ने अपने यहाँ खबर भिजवाकर, ठंढाई पिसवाकर मँगवा ली। सबों ने थोड़ी-थोड़ी पी ली। मुझको कहा तो मैंने कहा कि मैं पीऊँगा नहीं इसमें भंग होगी, मैं नहीं पीऊँगा। सबों ने कहा भांग बहुत मामूली सी है, इससे कोई हर्ज न होगा। यदि अधिक होती तो हम तुमको पीने के लिये बाध्य न करते। मुझसे फिर मना न किया गया और इच्छा न रहते हुये भी मैं पी गया।

पीने के बाद मुझे अनुभव हुआ कि मैंने बहुत ठंढाई पी ली, इतनी मुझे पीना नहीं चाहिये था, और अब यह ख्याल आया कि मैंने भंग की ठंढाई ज्यादा पी ली है तो मेरे मन में यह ख्याल हो गया कि इसका असर मेरे ऊपर और मेरे दिमाग के ऊपर ठीक नहीं पड़ेगा, क्योंकि मैं यह बचपन से ही सुनता और पढ़ता आ रहा था कि नशा करने से आदमी के दिमाग पर बहुत बुरा असर पड़ता है और कभी-कभी पागल भी हो जाता है।

उस समय शाम के करीब छः साढ़े छः बजे थे। उसके घंटे भर बाद मैंने थोड़ा सा खाना खाया। इसके बाद मुझे नींद आने लगी, मैं सो गया। भाई साहब भी खाना खाने के बाद कोठी से मिल चले गये (कोठी और मिल एक ही कम्पाउंड में हैं, लेकिन फासला करीब एक फर्लांग का है)। हमारा नौकर

भी जो खाना वगैरह बनाता था खा पीकर चला गया। कोठी में मैं सिर्फ रह गया। हमारी कोठी ऐसी कोई खास बड़ी भी नहीं है। इसमें कोई चार पाँच कमरे हैं।

जब मैं सो रहा था तो मेरी आँख में कुछ पड़ गया। मैं उसे लेटे लेटे निकालने की कोशिश करने लगा। उसके बाद मैं नहीं कह सकता कि थोड़ी देर तक जो मैंने देखा और अनुभव किया वह स्वप्न था, तन्द्रा थी अथवा बिलकुल प्रत्यक्ष था। मैंने देखा, अनुभव किया कि मैं अपने आँख में गिरी चीज को निकालने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन जब मैंने बहुत कोशिश कर ली और लेटे-लेटे नहीं निकला तो मैं खाट पर बैठ गया और बैठकर निकालने की कोशिश करने लगा। लेकिन जब बैठकर भी वह नहीं निकला तो मैं लेट गया और लेटकर निकालने लगा। लेकिन तब भी वह नहीं निकला तो मुझे झुंझलाहट हुई। जब मैं लेटता तो यह सोचता कि वह बैठकर निकल जायगा और जब बैठता तो सोचता कि वह लेटकर निकल जायगा। इस तरह कुछ देर उठने बैठने में मैं यह भूल गया कि मेरी आँख में कुछ जा पड़ा है। पता नहीं मुझे क्या झक सवार हुई कि मैं बिना सोचे समझे उठने बैठने लगा। कभी लेट जाता और कभी बैठ जाता। पता नहीं इस तरह मैं कितनी देर तक उठता बैठता रहा। कुछ देर बाद मुझे कुछ ख्याल आया कि मैं क्या कर रहा हूँ, ऐसे तो पागल करते हैं। बस फिर मेरे मन में बहुत प्रबल भावना उठी कि मैं कहीं पागल तो नहीं हो गया हूँ। मेरा दिमाग खराब हो गया है।

फिर मुझे ऐसा पता लगा कहीं कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। फिर मैंने अपने चारों तरफ देखा तो अन्धकार ही अन्धकार पाया। इससे मुझे अजीब सा डर लगने लगा। पता नहीं इतने में ही मुझे कहीं से हिम्मत आई या क्या सूझा, मैंने जोर से अपने आपको नोच खाया। तब मुझे कुछ तकलीफ सी महसूस हुई। मुझे यकीन हो गया कि मेरा इन्द्रिय ज्ञान ठीक है। लेकिन यह गड़बड़ किधर है। इतने में मुझे हिम्मत आई और मैं जल्दी से बिजली जलाने के लिये स्विच की ओर दौड़ा। अन्धेरा तो था ही और जल्दी करने से मुझे एक आध चीज की ठोकर लगी तो मैं घबड़ा गया। वैसे कुछ पहले से ही घबड़ाया हुआ था ही। मैं जल्दी से कोशिश

करने लगा कि जैसा भी हो किसी तरह बत्ती जला लूँ । लेकिन जल्दी में बत्ती की स्विच पर मेरा हाथ नहीं पड़ा। एक दो स्विच मैंने दबाये लेकिन उससे बत्ती नहीं जली, क्योंकि एक ही लेम्प में बल्ब था, जिस पर मेरा हाथ नहीं पड़ता था। इतने में मेरा हाथ एक स्विच पर पड़ा और घरघर की आवाज आने लगी (जो बिजली के पंखे की आवाज थी)। इस आवाज से मैं एक दम बहुत जोर से डर गया क्योंकि उस समय घबड़ाहट में मुझे ख्याल न रहा कि यह पंखे की आवाज है। मैं दरवाजे की तरफ भागा। कमरे से निकलने के लिये चिक उठाकर मैं दरवाजे के बाहर गया तो वहाँ अँधेरा ही पाया, क्योंकि वहाँ का बल्ब खराब होने के कारण वहाँ भी अँधेरा था। अब तो मेरी समझ में न आया कि मैं क्या करूँ ।

मैं बहुत ही जोर से दो तीन दफा चीखा । चीखना था कि भाई साहब और नौकर चाकर दौड़ आये। मुझे खाट पर लिटाकर हवा की। सिर पर बरफ का कपड़ा रखा। नीबू का अचार वगैरह खिलाया। लेकिन मेरे अन्दर इतनी ज्यादा घबड़ाहट हो गई थी कि मैं दो ढाई घंटे तक घबड़ाता रहा। बार-बार मुझे जोर से प्यास लगती थी । मैं पानी पीता पर प्यास नहीं जाती थी। बार-बार मुझे पेशाब करने जाना पड़ा। दूसरे दिन सुबह जब मैं उठा तो मेरी तबियत काफी अच्छी थी, लेकिन रात को जो तरह-तरह के विचार मन में आये थे और जो उनके बाद अनुभव हुआ था उनके संस्कार मेरे दिमाग पर गहरे पड़े थे। मैं उनको अभी तक नहीं भूल सका। सारे विचार और घटनायें ज्यों के त्यों अब तक मन में विद्यमान हैं। यही नहीं, ये विचार और अनुभव अनुकूल वातावरण से और भी बढ़ गए हैं और अब तो और तरह के विचार मन को आकर परेशान करते हैं कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ—इत्यादि-इत्यादि—

मैं आपको इसलिये और इस आशा से पत्र लिख रहा हूँ कि आप मेरी ऐसी दर्दनाक अवस्था में मुझ पर दया करके अवश्य ही लिखेंगे कि मुझको क्या करना चाहिये, मैं इन सब विचारों से छुटकारा कैसे पा सकता हूँ, और हर समय जो मुझे एक तरह का डर लगा रहता है और जिसकी वजह से न दिन में चैन मिलता है और न रात में। मैं कोई भी काम नहीं

कर पाता। मेरा दिमाग पहले से बहुत ही कमजोर होता जा रहा है और इधर एक दो महीने से मुझ में बुद्धि भी नहीं रही है। हर दम किसी अज्ञात भय से दिल धड़कता और दम घुटा-सा रहता है। अगर कुछ दिन और इसी तरह मेरा हाल रहा तो मेरा दिमाग खराब हो जावेगा। ये सब बातें इतनी अजीब-सी हैं कि इनको कह कर भाई साहब को परेशान नहीं होने देना चाहता। यह सब बात तो है ही, लेकिन कोई अज्ञात-सी शक्ति उन लोगों से यह सब कहने से रोका करती है। इसलिये मैं यह सब उन लोगों से नहीं कह पाता, और अब तो मुझे आपका ही भरोसा है।

अब मैं आपको थोड़ी-सी और बातें अपने बारे में लिखता हूँ, जो शायद आपको मदद देगी, यह मालूम करने में कि मेरी मानसिक ग्रन्थि किस तरह सुलझ सकती है। मेरी उमर कोई १७ साल की है और मेरी तन्दुरुस्ती बचपन से ही कुछ कमजोर है। मैं कुछ कच्चे दिल का हूँ और कुछ वहमी भी हूँ। बचपन में मैं कुछ डरपोक था। यहाँ तक कि मैं ग्यारह बारह साल की उमर तक अकेला नहीं सोया हूँ। रात को किसी न किसी के पास बराबर सोया हूँ। पानी से भी मुझे डर लगता है। मैं मनोविज्ञान में कुछ रुचि रखता हूँ। और जब मैंने आपकी किताब "सरल मनोविज्ञान" पढ़ी तो मन में दृढ़ निश्चय हो गया कि आप जरूर कोई ऐसी तरकीब बता देंगे जिससे यह मानसिक ग्रन्थि सुलझ जायगी।

आखिर मैं धन्यवाद देकर यह पत्र समाप्त करता हूँ। मुझे आशा है कि आप पत्र का उत्तर देकर और इसका कोई उपाय बताकर मुझे आभारी करेंगे। मैं आपको आजन्म नहीं भूलूँगा।

आपका सच्चा आभारी।

× × ×

ऊपर उद्धृत किया गया पत्र लंबा है, पर इससे रोगी की मानसिक स्थिति पूरी तरह से परिचित होती है। पत्र की निम्नलिखित विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) पत्र एक किशोर बालक का है

(२) पत्र से पता चलता है कि यह बालक प्रतिभावान है। उसने अपने भावों को क्रम-बद्ध प्रगट किया है ।

(३) रोगी घर का छोटा लड़का है और लाड़ला है।

(४) इसका स्वास्थ्य पहले से ही अच्छा न था । उसे शारीरिक कमजोरी थी ।

(५) इसमें डर की भावना पहले से ही थी ।

(६) वह आत्म-निरीक्षण की योग्यता रखता है और आत्म-सुधार चाहता है ।

(७) बीमारी प्रारंभ होने की घटना नैतिक महत्व रखती है—अपनी नैतिक भावना के प्रतिकूल रोगी ने भांग पी थी ।

(८) रोगी अपने मन की बात दूसरों से कहने में झिझकता है। वह विशेष कर अपने भाई से अपने विचार नहीं कह सकता। उसे अज्ञात शक्ति रोकती है।

(९) पत्र को भली प्रकार देखने से पता चलता है कि रोगी कुछ बातें लेखक से भी स्पष्ट करने में हिचकता है। साधारणतः वह गुप्त बात को बताना नहीं चाहता । जिन स्थलों पर पत्र में भूल हो गई है उन्हें इस प्रकार काटा गया है जिससे भूल से लिखी गई बातों को कोई जान न ले।

(१०) रोग को पानी से भय रहता था।

(११) रोगी शिष्ट और धनी घर का है।

(१२) उसे विश्वास है कि लेखक की चिकित्सा से वह अच्छा हो सकता है।

पत्र की उपर्युक्त बातों से लेखक बालक के रोग के विषय में निम्न लिखित निष्कर्ष पर पहुँचा—

(१) बालक की बीमारी का मूल कारण काम-प्रवृत्तिसम्बन्धी कोई कुचेष्टा है। इसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता और इसे वह दूसरों से छुपाना चाहता है। यह कुचेष्टा मानसिक ग्रन्थि के रूप में बालक के मन में स्थित

है। उसकी मानसिक शक्ति मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण व्यथ खर्च हो गई है। इसके कारण वह एक विशेष घटना का सामना न कर सका।

(२) बालक का भाँग पाना अपनी नैतिक इच्छा के प्रतिकूल था। यह कोई विशेष पाप नहीं है। पर यह किसी दूसरे कृत्य का प्रतीक मात्र है। बालक को घर में नियन्त्रण में रखा गया है! इससे उसमें सच्ची आत्मनियन्त्रण की शक्ति का विकास नहीं हुआ, अतएवउसमें आत्म-भर्त्सना की प्रबल भावना है।

(३) पत्र लिखते समय बालक का आत्मविश्वास बढ़ गया है और थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिलने पर वह आरोग्य हो सकता है। उसकी मानसिक भावनाओं का पत्र के द्वारा कुछ रेचन भी हुआ है। पत्र के मिलने पर उसे कार्ड डालकर बुलाया; फिर उसे दूसरे पत्र में निम्नलिखित आदेश भेजा गया—

(१) तुम्हारा इलाज शुरू हो गया है। अपनी फोटो भेजो।

(२) सूर्योदय के पहले उठना और सूय का दर्शन १५ मिनट तक करना।

(३) स्नान के बाद सूर्य का ध्यान १५ मि० तक करना।

(४) सबेरे घूमने जाना।

(५) सर्य के ध्यान के बाद बच्चों को थोड़ा प्रसाद बाँटना।

(६) सोते समय मैत्री भावना का अभ्यास करना।

(७) अच्छे हो जाने पर अकेले आना और मिलना।

इसके इलाज के लिये आध्यात्मिक और निर्देशविधि का प्रयोग किया है। इस बालक के विषय में सबेरे उठकर ध्यान किया जाता था और उसकी शुभ कामना की जाती थो। लेखक को इस बालक से इतनी ममता हो गई थी कि उसका अच्छा हो जाना अपने आपका आरोग्य होना जैसा लगने लगा था। इसकी बीमारी के पिषय में कई दिनों तक कई प्रकार से विचार किया गया और पूर्ण निश्चय किया गया कि वह अवश्य चंगा हो जावेगा। इस प्रकार के विचारों का असर उसपर अवश्य पड़ा। पहले तो पत्र लिखने से ही उसके रोग में कमी हो गई। दूसरे सद्भावना का प्रभाव

उसके मन पर पड़ा। किसी प्रकार के निर्देश मिलेने के पूर्व उसका दूसरा पत्र इस प्रकार आया—

"श्रीमान्,

आपका कृपा कार्ड मिला। इसके लिये हार्दिक धन्यवाद। इधर मेरे अन्दर थोड़ा सा परिवर्तन हो गया है। पहले-सा हाल नहीं रहा, लेकिन कभी-कभी वैसा ही हो जाता है।

मैं आपके पास तो न आ सकूँगा। क्योंकि इधर मेरी परीक्षा बहुत करीब आ गई है। इसलिये ऐसी हालत में मैं यह ठीक नहीं समझता कि कहीं बाहर जाना मेरे लिये ठीक होगा। क्योंकि पूरे साल की मेरी पढ़ाई बहुत कम हो पाई है। इसलिये यह ज्यादा मुनासिब होगा कि कृपया आप कुछ ऐसी तरकीब अभी लिखें जिससे कि विचारशक्ति काबू में रहे। अगर हो सका तो मैं आपके पास आने की कोशिश गर्मी की छुट्टी में करूँगा।"

उपर्युक्त पत्र से स्पष्ट है कि बिना किसी प्रकार के अभ्यास के ही रोगी के स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार हो गया। रोगी ने फिर ऊपर कहा गया अभ्यास किया, उसका अगला पत्र इस प्रकार है, जो २-३-४७ को मिला।

श्रीमान्,

आपका कार्ड व पत्र मिला। इसके लिये बहुत धन्यवाद!

अब करीब-करीब मेरी मानसिक बीमारी बिलकुल ही अच्छी है।

आपने जो अभ्यास अपने पोस्टकार्ड में बताया है, जहाँ तक हो सकता है, उसे अमल में लाने की कोशिश करता हूँ। लेकिन यहाँ पर कोई बच्चा नहीं है और न हमारे घर के पास में ही है। सूर्य के ध्यान के बाद मैं मिठाई नहीं बाटने पाता हूँ। अगर इसके बदले कोई दूसरा काम बता बता सकें तो अच्छा हो।

दूसरा अभ्यास जो आपने अपने पत्र में लिखा है उसे भी एक डेढ़ साल से पहले भी करता था। लेकिन इस सबब से नहीं। रात को सोते समय में सोचा करता था कि आज दिन मैंने क्या कोई ऐसा काम आवेश में आकर तो नहीं किया, जिससे किसी को दुःख हो सकता है। यदि किया हो तो मैं उसके लिये प्रायश्चित्त किया करता था। लेकिन मुझको

याद नहीं कि यह अभ्यास कब छूट गया । जब आपने लिखा तो मुझे याद आया कि मैं इसे पहले व्यवहार में ला चुका हूँ ।

मनुष्य की भलाई करने के लिये मैं हमेशा तत्पर रहता हूँ और रहना भी चाहता हूँ । मुझे दूसरों की भलाई करना अच्छा भी लगता है । आगे चलकर मानवता के नाते कुछ करना भी चाहता हूँ । वह मेरे मन में है । क्या मैंने आपको इसके विशय में कुछ लिखा है ? मुझे तो ऐसा कुछ याद नहीं पड़ता । अगर कुछ लिखा भी हो तो उसके लिये मुझे पश्चात्ताप नहीं है, बल्कि एक तरह से प्रसन्नता ही है । परन्तु मैं उसे जानना चाहता हूँ, और अपने दिमाग में सुरक्षित रखना चाहता हूँ जिससे आगे चलकर इससे मुझे कुछ प्रेरणा मिले ।

मैं अपने अन्दर एक कमजोरी पाता हूँ पह यह कि मैं अपने विचारों को ठीक तरह से कार्यरूप में परिणत नहीं कर पाता । इस प्रकार मेरे विचार एक तरह से हवाई किले हो जाते हैं । तो क्या आप इनके कार्यरूप में परिणत करने के कोई उपाय बता सकते हैं । जिससे मेरा कोई विचार खाली न जाय और मुझको एक तरह की आदत सी पड़ जाय कि जो मैं सोचूँ उसे कार्यरूप में परिणत करने का आदी हो जाऊँ और इस प्रकार कर्मण्य विचार ही मेरे अन्दर आयें ।

आप ने अपने कार्ड में मेरे फोटो के लिये लिखा था, सो मेरे पास, और जहाँ तक मैं सोचता हूँ किसी के पास, मेरा किसी प्रकार का फोटो नहीं है और न अपनी फोटो खिचवाने का मैं शौकीन हूँ । जहाँ तक होता है मैं इन सबसे बचने की कोशिश करता हूँ । अगर आप को जरूरत हो तो लिखें, किसी प्रकार खिंचवा कर भिजवा दूँ ।

आपका आभारी

× × ×

इसके उत्तर में उस व्यक्ति से मैत्री भावना के अभ्यास की मौलिकता दिखाई गई । नकारात्मक विचारों को मन में लाने से रोका गया और गरीब लड़कों को पढ़ाने तथा दीन दुखियों की सहायता के लिये काम करने का आदेश दिया गया । इससे मानसिक शक्ति आती है और मानसिक ग्रन्थियाँ

अपने आप ही नष्ट हो जाती है। वास्तव में उक्त रोगी के विचार रचनात्मक हो गये हैं।

मानसिक रोगी के साथ पत्र व्यवहार करने से रोगी को स्वास्थ लाभ करने में बड़ी सहायता मिलती है। मानसिक रोगी मन ही मन कुढ़ता है। उसे जितना ही अधिक अपने आन्तरिक भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिले उतना ही अच्छा है। इससे उसके दलित भावों का रेचन हो जाता है और उसे आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

रोगी के प्रति सच्ची सद्भावना भेजने से रोगी को आध्यात्मिक लाभ होता है। यह सद्भावना पत्र के द्वारा भेजी जा सकती है पर इससे अधिक महत्त्व का कार्य प्रतिदिन रोगी के कल्याण के विषय में सोचना है। इस प्रकार की सद्भावना अज्ञात रूप से रोगी की सहायता करती है और बहुत से रोगियों के रोग बिना किसी प्रकार की चिकित्सा के अच्छे हो जाते हैं। फोटो की सहायता से रोगी को और भी लाभ पहुँचाया जा सकता है।

रोग की चिकित्सा सद्भावना के अतिरिक्त आत्मनिर्देश से भी होती है। पर इससे रोगी की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है। इसे बलवान बनाने के लिये कुछ बाह्य क्रियायें करवानी आवश्यक होती हैं। मैत्री भावना का अभ्यास, सोते समय के शुभ विचार तथा परोपकार के काम, मनुष्य की इच्छा शक्ति को बलवान बनाते हैं। जब इच्छा-शक्ति बलवती हो जाती है तो असद्भावनायें मन में नहीं उठती, और उठती हैं तो उन्हें मन से बाहर निकलने में मनुष्य समर्थ होता है।

स्वयं रोगी से पत्रव्यवहार करना अच्छा है। जब दूसरे लोग रोगी के विषय में लिखते हैं तो रोगी को उतना अधिक लाभ नहीं होता। जैसे-जैसे रोगी को लाभ होता है उसका आत्मविश्वास बढ़ता जाता है और वह और भी खुलकर अपने विषय में चिकित्सक को बता सकता है। इस प्रकार उसके विकृत भावों का एक ओर रेचन होता है और दूसरी ओर उसका आत्मनिर्देश उसे स्वास्थ्य लाभ करने में सहायता देता है।

निर्देशविधि के द्वारा की गई चिकित्सा को गुप्त रखना अत्यन्त आवश्यक है। कितने ही बार मानसिक रोगी को निर्देशविधि से चमत्कारिक लाभ होते हैं। पर जब अपनी करामात को चिकित्सक जाहिर करने लगता है तो वह अपनी चिकित्सा कर सकने की शक्ति को ही प्रायः खो देता है। निर्देशविधि में चिकित्सक को अपनी चिकित्सा कर सकने की योग्यता में सन्देह उत्पन्न हो जाना अत्यन्त हानिकारक होता है। इसी प्रकार रोगी के मन में किसी प्रकार चिकित्सक के विषय में सन्देह हो जाना रोगी के लिये हानिकर होता है।

रोगी का अगला पत्र निम्नलिखित है—

"मेरा मानसिक स्वास्थ्य पहले से बहुत अच्छा भी है और खराब भी—जब मैं आपको पत्र लिखने बैठता हूँ उस समय मेरे विचार बहुत शांत रहते हैं। मैं उस समय अपने को अच्छा अनुभव करता हूँ। कभी तो मैं बहुत प्रसन्न, उत्साहित हो जाता हूँ और अपने अन्दर मानसिक बीमारी नहीं देखता और मुझे अपना भाग्य बहुत ही उज्वल और अच्छा दीखता है, और कभी-कभी मुझे बहुत दुःख होता है या क्रोध आता है और मैं भयभीत हो जाता हूँ। पागल होने का विचार भी मुझे जरूरत से ज्यादा तंग करता है। इससे मैं बहुत परेशान सा हूँ। कभी-कभी तो मैं जरा से खटके से चौंक जाता हूँ। रेल की सीटी से तो मैं अकसर बहुत ज्यादा चौंक जाता हूँ, क्योंकि यह एकाएक और बहुत जोर से बजती है। कभी-कभी गिरते-गिरते बचता हूँ। इन सब बातों के अलावा जो एक खास बात है वह यह है कि मुझमें आत्म-विश्वास नहीं है। मेरा मन कुछ ऐसा हो गया है कि मैं किसी नई परिस्थिति में रहूँ या जाऊँ तो फिर तत्क्षण उलटे सीधे विचार आने लगते हैं। मैं सोचने लगता हूँ कि कहाँ की बला में आकर फँसा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि जहाँ पर भी जिस दशा में मैं हूँ, वहीं पर रहना चाहता हूँ, क्योंकि वातावरण के जरा से बदलने से मेरे विचारों में खलबली मच जाती है।

ऊपर लिखी हुई बातों का परिणाम यह है कि मुझे सफर करना अच्छा नहीं लगता खासकर रेल में, न जाने क्यों। उस पर मुझे उल्टे सीधे विचार आते हैं और उसपर से नीचे गिरने के विचार भी आते हैं। इससे मुझे कभी तो डर लगता है कि मैं नीचे सचमुच ही न कूद पड़ूँ। इन सब बातों से मुझे

अकेले सफ़र करना बहुत खराब लगता है। कभी कभी इन सब अपनी हालतों को देख कर चीख उठता हूँ और चाहता हूँ कि किसी भी प्रकार जैसे हो इनका अन्त हो जाय।

आप सोचेंगे कि मैं अपनी मानसिक हालत से संतुष्ट नहीं हूँ। बेशक यह बिल्कुल ठीक है, अथवा हो सकती है कुछ हद तक। लेकिन एक तरह से मैं अपनी हालत से खुश भी हूँ और सोचता हूँ और मेरा अनुभव है कि दुःख के बाद सुख आता है। आनन्द एक ऐसा दुर्गम स्थान है जहाँ पर पहुँचने के लिये दुःख-रूपी रास्ता तय करना पड़ता है। जब मैं ये सब बातें सोचता हूँ तो खूब रोता हूँ।"

रोगी के पत्र से स्पष्ट है कि उसकी मानसिक ग्रन्थि उसे अभी भी तंग कर रही है। पर रोगी के मन में आशातीत विचार आ रहे हैं। इससे यह निश्चित है कि उसका रोग धीरे धीरे नष्ट अवश्य हो जावेगा। साधारणतः रोगी के विचार बड़े ही निराशावादी होते हैं। आशा की झलक भी इनमें नहीं दिखाई देती। रोगी लेखक के निर्देशानुसार अभ्यास करता रहा और उसका अन्तिम पत्र उसकी आरोग्य अवस्था को दर्शाता है। निम्नलिखित आखिरी पत्र ता० ३ अगस्त १९४७ का है।

तीसरा पत्र

श्रीमानजी,

अपनी मानसिक परिस्थितियों के वजह से मैं अपनी कक्षा में गणित में उत्तीर्ण नहीं हो सका। इसलिये मुझे जुलाई में गणित की परीक्षा फिर देनी पड़ी। इस परीक्षा की तयारी मुझे गर्मियों की छुट्टियों में करनी पड़ी। ईश्वर की कृपा से अब तो सब बिल्कुल ठीक हो गया है। सचाई और विश्वास के साथ मैत्री भावना और आत्म-निर्देश का अभ्यास करने से मनुष्य रोगों से मुक्त होने में अवश्य सफल होता है।"

उपर्युक्त उदाहरण में रोग का वास्तविक कारण प्रगट नहीं हुआ। रोगी के बचपन के संस्कारों को स्मृति पटल पर लाने की भी चेष्टा नहीं की गई। यह रोगी बचपन से ही दुर्बल काय है। उसे थोड़ी सी सर्दी गर्मी से शारीरिक हो जाता है। उसके पिता अपने पुत्रों के प्रति सतर्कता की दृष्टि रखते हैं। यह रोगी उनसे डरता भी है। पत्रव्यवहार करते समय रोगी लेखक

को लिखा करता था कि उसके प। बन्द लिफाफा में ही भेजे जायँ। वह अपने आपको घर के लोगों से भी छिपाने की चेष्टा करता था। उसमें काम-कृत्यों-सम्बन्धी आदतें सम्भवतः बचपन से लगवाई थीं। वह उनकी बुराइयों को समझता था, परन्तु अपने आपको रोकने में असमर्थ था। ऐसी हो अवस्था में छोटी सी घटना मन को भारी धक्का दे देती है। इसके उपरान्त व्यक्ति को अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग सताने लगते हैं।

दैन्यभाव की चिकित्सा

दो वर्ष पूर्व लेखक के पास एक १९ वर्ष का युवक मानसिक रोग सम्बन्धी सलाह लेने आया। यह अपने से बड़े मनुष्य के साथ बातचीत करने में लज्जा का अनुभव करता था। उसकी स्मरणशक्ति कमजोर हो गई थी। वह परीक्षा के लिये तैयारी करता था, पर पास हो जाने की हिम्मत उसमें न थी। उसका विवाह हो चुका था, परन्तु वह स्त्री के प्रति आकर्षण नहीं दिखाता था। उसको एक लड़का भी था, जिसके पितृत्व में उसे सन्देह था। वह समझता था कि वह नपुंसक प्रायः है अतएव उसका पुत्र होना कठिन है। लेखक के पास आने के एक वर्ष पूर्व उसे क्षय रोग का भ्रम हो गया था। उसे सदा किसी न किसी प्रकार का पेट का रोग बना रहता था। उसके मन में कई अभद्र कल्पनायें उठ आती थी। गन्दी वस्तुओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो जाता था। कभी कभी उसे पिघले घी की धार पेशाब की धार के समान दिखाई देने लगती थी। इस कारण वह घी को खा नहीं पाता था।

इस रोगी का उपचार उसे कई दिनतक अपने पास रखकर किया। काम-वासना सम्बन्धी बातों में उसे घृणा की। इस घृणा के भाव को मिटाया गया। धीरे धीरे उसने अपनी पुराने लज्जाजनक अनुभवों को लेखक के समक्ष कहा। उससे स्वप्न भी लिखाये, इन स्वप्नों के जो अर्थ लगाये गये वे उसे स्वीकार थे। स्वयं रोगी ने अपने रोग के अनुभव का तथा उससे मुक्त होने का वृत्तांत अपने ही शब्दों में लिखा है। रोगी को किशोरावस्था में हस्तमैथुन आदि-काल कृत्यों की आदत थी, अतएव सोचता था कि उसका लिंग छोटा हो गया है और स्वयं वह अब निकम्मा हो चुका है। ये सब बातो वह अपने

मन में रखे हुआ था। अपने भ्रमों को वह किसी के समक्ष खोल भी नहीं सकता था। ऐसी अवस्था में उनका निवारण कैसे हो। जब रोगी की सभी बातों को धीरे धीरे सुना गया और उसके दबे भावों का रेचन हो गया और उसे नयी समझ आ गई तो उसके रोग का अन्त हो गया। रोगी ने अपने रोग का अनुभव निम्नलिखित शब्दों में लिखा है —

"आज की स्थिति से लगभग दो वर्ष पूर्व मेरी मानसिक अवस्था असाधारण थी, विक्षिप्तता की शुरुआत थी, निराशा के साम्राज्य में आशा लुप्त सी थी, चेतन एवं अचेतन मन का पारस्परिक अवस्था भिन्न थी अथवा मानस अकल्याणकारी भावनाओं से त्रस्त था। यह समय मेरे जीवन का स्मरणीय समय है।

मैं जब कि हाई स्कूल की ८ वीं या ९ वीं कक्षा का विद्यार्थी था उस समय मेरी उम्र लगभग १५-१६ वर्ष की रही होगी। अज्ञान एवं दुर्भाग्यवश उसी समय मैंने नैतिकता की अवहेलना कर दी। यह कार्य एक विद्यार्थी ही क्या किसी अन्य के लिये भी घातक अनुपयुक्त, घृणास्पद तथा अभद्र निसन्देह कहा जा सकता है। उस समय वह मेरी व्यक्तिगत कामसम्बन्धी अनैतिकता अप्राकृतिक रूप में थी, क्योंकि समाज के अन्य लोगों के सिवाय मैं स्वयं इस निन्द्य काम को करने और इसकी जानकारी के लिये अपने आप तक ही सहमत भी था। कुछ दिनों तक यह मुझमें कुटेव रहने के परिणामस्वरूप मेरा शारीरिक तथा मानसिक ह्रास शुरू हो गया। चिन्ता दिनों दिन बढ़ने लगी। सर्वत्र सभी परिस्थितियां प्रतिकूल दीखने लगीं। मेरी स्मरणशक्ति, कल्पना शक्ति तथा ज्ञानशक्ति धीरे धीरे लुप्त सी होने लगी। इसके साथ ही साथ आत्मभर्त्सना तथा आत्मग्लानि की भावनाओं से मैं बिल्कुल त्रस्त रहने लगा। अकारण भय, उद्विग्नता, चिढ़ और झिझक होने लगी। मन की प्रतिकूलता की अनुभूति निरन्तर होती रही, अनुकूलता के लिये कदाचित ही उस विषम स्थिति में मेरी अनुभूति में जगह हो। यदि अनुकूलता उस स्थिति में सम्भव भी रही हो तो कुछ क्षण के लिये ही। मैट्रिक क्लास का विद्यार्थी होने के समय से ही मेरी स्त्री स्थायीरूप से मेरे साथ रहने लगी, अतः कुछ दिनों की लगी कुटेव सर्वदा के लिये छूट गयी। स्त्री सहवास के पश्चात् मेरी मानसिक

विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, यद्यपि अब मैंने अपने को पहले अनैतिक विचारजन्य कुटेव से सर्वथा दूर रखा। एन्ट्रेन्स परीक्षा की सफलता प्राप्ति के बाद तक वैसी ही विषम अवस्था बनी रही, बल्कि उसमें और अत्यधिक जटिलता आने लगी। अतः इन्हीं मानसिक उद्वेगों के कारण मुझे अपनी आगे की पढ़ाई को रोकना पड़ा। इसी असाधारणता की हालत में मुझे दो अन्य शारीरिक रोगों ने आ घेरा (१) कब्जियत और (२) सांस लेने में रुकावट, जिसे भावी दमे के रोग का लक्षणमात्र कह सकते हैं। मुझे इस समय क्षय रोग का भय हो गया था। कभी मुँह से खून गिर जाता था। भय कीउत्पत्ति का एक कारण आस-पास के कुछ लोगों का क्षय रोग से पीड़ित रहना था

कुछ दिनों बाद मुझे बनारस आने का अवसर मिला। यहां आने का एक विशेष कारण था यहाँ टाइपराइटिंग सीखना। अकस्मात् एक दिन मैंने काशी के सुप्रसिद्ध पुस्तक विक्रेता नन्दकिशोर की दूकान में "मानसिक चिकित्सा' नामक पुस्तक बेंच पर पड़ी देखी। मैंने सोचा यह पुस्तक अवश्य ही मेरे लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मैंने बुकसेलर से पुस्तक का दाम पूछा हाथ में लेकर पढ़ने लगा। पुस्तक की उपयोगिता समझकर उसे खरीद लेना निश्चय कर लिया। पर चूँकि उस समय मेरे पास पर्याप्त रुपये न थे जिससे मैं पुस्तक खरीद सकता, अतः उस दिन लौट आया। फिर जब मेरे पास कुछ रुपये हुए 'मानसिक चिकित्सा' की एक प्रति मैंने खरीद ली। पुस्तक को शुरू से लेकर अन्त तक पढ़ डाला। मेरे निजी अनुभव से सम्बन्धित कुछ बातों की झलक पुस्तक में मिली। अतः पुस्तक के पढ़ने से मुझमें स्फूर्ति तथा उत्साह का समावेश हुआ। पुस्तक के लेखक पूज्य प्रोफेसर साहब के सरल स्वभाव एवं मनोवैज्ञानिक योग्यता पुस्तक की रचनाओं से ही परिलक्षित होती हैं। मैंने अपनी मानसिक व्यथा के निराकरण में भेंट करना उपयोगी समझा। अतः ऐसा ही किया भी। भेंट कर मैंने अपनी मानसिक व्यथा सम्बन्धित सभी बातों से इन्हें अवगत कराया। मैंने मनोवैज्ञानिक परीक्षा के बाद वातावरण के परिवर्त्तन को जरूरी समझा। इन्होंने अपने छोटे परिवार के (मय बाल बच्चे सहित) साथ मुझे रखना आवश्यक समझा। कुछ महीने तक मैं इनके साथ रहा।

उस अवधि में मुझे अपनी विषमता की स्थिति में कुछ परिवर्त्तन अवश्य प्रतीत हुआ। इसका कारण मेरे निजी विचार से ये थे—(१) वातावरण का परिवर्त्तन (२) मन की सर्वदा व्यवहारिक कामों में संलग्नता (३) श्रद्धेय प्रोफेसर साहब के मनोवैज्ञानिक आदेशों तथा विचारों का प्रभाव। निसन्देह अब मेरी स्थिति पहले की भाँति डाँवांडोल नहीं है। अब मेरी पहले की चिन्ता कम हो गयी हैं। इसके पूर्व मेरा मन पढ़ने में नहीं लगता था। अब वैसी बात नहीं है। अब मैं शान्त चित्त से किसी विषय में सोच सकता हूँ, कोई काम कर सकता हूँ तथा यथा-सम्भव नये विषय की कल्पना कर सकता हूँ। अकारण ईर्ष्या द्वेष की भावना में भी विशद परिवर्त्तन हो गया है। चिढ़ और झिझक अब पहले जैसे नहीं है। शारीरिक कष्ट कब्जियत और स्वांस का फूलना इन सबसे अब मैं मुक्त हूँ।"

रोगी ने अपने रोग के वृत्तांत में कुछ बातों को लिखा है और कुछ को छोड़ दिया है। यह स्वाभाविक है। अब यह रोगी अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगाये हुये हैं। वह इस समय स्थानीय कालेज की बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा है। उसका जीवन आदर्शवादी और सरल है। वह प्रति रविवार का उपवास करता है और दूसरों की सेवा के लिये तत्पर रहता है।

अनिद्रा का उपचार

अनिद्रा का रोग मनुष्य की चिन्तायुक्त मानसिक स्थिति का परिणाम है। यह रोग अनायास मनुष्य को आ जाता है। इसके आने का एक प्रधान कारण आत्म-सम्मान खोने का भय होता है। अनिद्रा स्वयं रोग नहीं है, यह केवल दूसरे प्रकार के रोगों का अग्रदूत है। जब रोगी का मन किसी कारण वश दुःखी हो जाता है और वह रोग का आवाहन करने लगता है तो उसे पहला रोग अनिन्द्रा का ही होता है। यह रोग आत्म-विश्वास की कमी की अवस्था में होता है। अनिद्रा का रोगी प्रायः अपने रोग का दूसरे लोगों में प्रचार भी करता है और उनसे सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। परीक्षा में, स्त्री के साथ मिलने में अथवा किसी महत्व के काम में असफलता का भय अनिद्रा का रोग उत्पन्न करता है। जब मनुष्य में आत्म-

विश्वास आ जाता है अथवा जब वह अपनी इच्छा को ही कम कर देता है तो अनिद्रा का रोग नष्ट हो जाता है।

लेखक की एक छात्रा को परीक्षा के पूर्व अनिद्रा का रोग हो गया था। इस रोगी के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाई गई। जैसे जैसे उसकी चिकित्सा होती गई उसका रोग बढ़ता गया। छात्रा कहती थी कि अनिद्रा के कारण उसकी स्मृति बिगड़ गई है, अतएव वह परीक्षा में नहीं बैठ सकती है। जब लेखक ने इस छात्रा को विश्वास दिलाया कि वह चाहे सभी कुछ भूल जाय तो भी वह द्वितीय श्रेणी में अवश्य पास हो जावे गी, तो उसका आत्म-विश्वास जाग्रत हो गया। इसके जाग जाने पर उसका अनिद्रा का रोग जाता रहा।

एक दूसरे विद्यार्थी का अनिद्रा का रोग बड़ी सरलता से ही 'सरल मनोविज्ञान" में लिखे सिद्धान्तों के अनुसार चलने से अपने आप समाप्त हो गया। उसने पीछे अपना अनुभव लेखक को लिखकर दिया। यह अनुभव नीचे लिखी पंक्तियों में दिया हुआ है—

"मेरा प्रारम्भ से ही यह विश्वास रहा है कि जब व्यक्ति कोई भी छोटा या बड़ा कार्य करता है, मानसिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही वह करता है। वह जो कुछ भी सोचता है, क्रिया करता है, उसका उस के विचार यंत्र पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्रत्येक बीमारी या कमजोरी का भी व्यक्ति के मन से सम्बन्ध रहता है। मुझे भी इस बात का अपने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव करने का अवसर मिला।

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में कालेज की षड्-मासिक परीक्षा थी। मेरी प्रायः यह इच्छा रही है कि मैं अपनी कक्षा में प्रथम रहूँ। फलतः मैं अन्य छात्रों और सहपाठियों की अपेक्षा अधिक श्रम करता हूँ। परीक्षा के पूर्व से ही मैंने कठिन परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि कई दिन दो घंटे ही सोया और अपना अध्ययन करता रहा। मैं यही समझता था कि इस बात का मेरे मानसिक जीवन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्त में परीक्षा हुई और मुझे अपनी इच्छा के अनुसार फल भी मिला। केवल एक विषय में मुझे निराशा हुई। परन्तु जनवरी के प्रारम्भ में

ही मुझे यह अनुभव होने लगा कि मुझे अनिद्रा का रोग हो गया है। ज्यों ज्यों मैं अनिद्रा पर विचार करता गया मुझे और भी अधिक दुःख होने लगा। आखिर किन कारणों से मुझे यह चिन्ता हुई और यह बीमारी हुई ? साथ साथ मैं सोचने लगा, यह भी होने लगा कि मैं आध घण्टे को भी सोता उस में कभी कभी स्वप्न-दोष हो जाता। मेरी शारीरिक स्थिति तो बिगड़ी ही जाती थी; साथ ही इस समय कुछ स्मरण शक्ति भी कम होने लगी। मानसिक चिन्तायें और अनिद्रा का रोग दोनों ही मुझे घेर चुके थे। पहले तो मैंने दस बारह दिन कुछ भी औषधि का उपचार नहीं किया, परन्तु जब बात बढ़ती गई मैंने अपने एक मित्र को यह बात बताई। यह मित्र छात्रावास के जीवन में मेरा घनिष्ट मित्र रहा है। उसने मुझे सान्त्वना दी और कुछ आयुर्वेदिक दवा के सेवन की सलाह दी। परन्तु कुछ भी संतोषजनक लाभ नहीं हुआ।

कालेज में मेरे साथी रमेशचन्द्र भी हैं। उन के मुँह से मैं कई बार यह सुन चुका था कि उनके चाचा मानसिक रोगियों की चिकित्सा करते हैं और उन को लाभ भी हो जाता है। मुझे इस परिस्थिति में इस बातका स्मरण आया। मैंने सोचा कि एक दिन उनके पास जाकर मैं भी अपना उपचार करा लूँ। शाम को रमेशचन्द्र के साथ मैं उनके पास आया, परन्तु उनसे भेंट न हो सकी। मैं प्रातः आने की बात कह कर निराश होकर चला गया। अपने बोर्डिंग में जाकर मैंने अपने एक और साथी से, जो मेरे कमरे में रहते थे, इस बात की चर्चा की। उन्हों ने आप के द्वारा लिखित 'सरल मनोविज्ञान' नामक पुस्तक मुझे पढ़ने को दी। उस को पढ़ कर कुछ कार्य रूप में परिणत करने की बात उसने कही। मैंने इस पुस्तक के कुछ पृष्ठ पढ़े। पुस्तक मुझे रुचिकर लगी और मेरे उद्देश्य के अनुसार उसमें मुझे कुछ सामग्री मिली। 'निद्रा और सम्मोहन' शीर्षक अध्याय में मुझे 'अनिद्रा की बीमारी' शीर्षक एक अंश मिला। उस को मैंने कई बार पढ़ा और सोचा। उसमें लिखा है—

'अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति को नींद न आने की ही सब से बड़ी चिन्ता रहती है। वह सदा नींद के बारे में ही सोचा करता है और यह नींद आने

की प्रबल चिन्ता ही नींद में बाधक हो जाती है। नींद आने के लिये नींद के विषय में सोचना बन्द करना आवश्यक है। अनिद्रा के रोग से पीड़ित व्यक्ति को नींद की चिन्ता से मुक्त करना प्रथम आवश्यक कार्य है। जहाँ पर वह अनिद्रा के कारण बहुत सी मानसिक और शारीरिक क्षति की संभावना देखता है वहां उस को यह धारणा बनानी चाहिये कि अनिद्रा का होना एक साधारण सी बात है। महीनों बिना नींद के भी मनुष्य जीवित रह सकता है। इस प्रकार के भाव का मन में आते ही अनिद्रा का प्रायः अन्त हो जाता है। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति में उत्साह और आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। इसकी वृद्धि करना भी आवश्यक है। निद्रा लाने के लिये मनुष्य को अपने शरीर को शिथिल कर के लेट जाना चाहिये। अपने विचारों को बाहरी विषय पर जाने से रोक देना चाहिये।" आदि आदि।

मैंने देखा कि प्रायः ये बातें मेरे ऊपर घटती हैं। मैं उसी रात को लेखानुसार सोया और देखा कि क़रीब करीब उस रात को पांच घण्टे सोया था। कोई भी चिन्ता मुझे नहीं हुई। मैंने सोचा कि यह पुस्तक पढ़ कर उस के अनुसार क्रिया करने से ही मुझे यह लाभ हुआ। दूसरे दिन प्रातः शुक्लजी के घर आया, उनको अपनी स्थिति बतलाई, उन के साथ साथ विद्यापीठ तक गया और वहां आप का भाषण सुना। रास्ते में मैंने उनको अपनी कल की बात भी बताई। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि तुम बहुत ही शीघ्र ठीक हो जाओगे। मैं उस दिन से आज तक उनके कहे अनुसार ही सोचता रहा और मुझे अब पूर्ण लाभ है। मैं अब यह सोचता हूँ कि यह अनिद्रा की बीमारी कोई बीमारी ही नहीं—मुझे तो इस से व्यर्थ ही डर था। इस विचार से मुझे फायदा ही होता है।

दूसरी बात मैंने रोग से यह सीखी कि दूसरे व्यक्तियों की भावना का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। मुझसे शुक्लजी ने कहा था कि तुम अपने किसी मित्र से अपनी भलाई के सम्बन्ध में सोचने को कहना और वह प्रति दिन रात्रि में १०-१५ मिनट तुम्हारी भलाई के सम्बन्ध में सोचे मैंने ऐसा किया, उस से भी मुझे पर्याप्त लाभ हुआ। उन्होंने मुझे बड़ी बड़ी

आशाओं का केन्द्र बनाया और अपने जीवन को अपना न समझ कर देश का समझने को कहा। मैं उस दिन से जब कोई भी कार्य करता हूँ देश के हित के लिये करता हूँ। मैं देखता हूँ तब से मेरा कोई भी कार्य असफल नहीं होता और मैं अब उत्साहित हो गया हूँ। निराशा भी दूर होने लगी है। अनिद्रा की बीमारी तो अब पूर्णतया दूर हो चुकी है। स्वप्न-दोष भी उस दिन से अभी तक नहीं हुआ।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि विद्यार्थी के रोग का प्रधान कारण उसकी स्वार्थमय भावनाएँ थीं। उसे इनसे मुक्त करने की चेष्टा की गई। मनुष्य की स्वार्थपरायणता उसकी चिन्ताओं और भय का कारण होती है। जहाँतक मनुष्य इन्हें छोड़ता है वह अपनी चिन्ता और भय के विचारों से मुक्त हो जाता है। फिर किसी प्रकार का सन्निर्देश उसके मनपर स्थायी प्रभाव डालता है। स्वार्थी मनुष्य का मन सन्देह युक्त रहता है। अतएव कल्याणकारी विचार का वह स्वागत नहीं करता। ऐसी अवस्था में मानसिकरोग उसे नहीं छोड़ते। यहाँ विद्यार्थी को एक ओर सन्निर्देश देकर अनिद्रा के भय से मुक्त करने की चेष्टा की गई और दूसरी ओर उसे विद्यार्थी जीवन से भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया। मानसिक रोगों का वास्तविक हेतु ही मनुष्य को ऊँचा उठाना है।

बाध्य चिन्तन की चिकित्सा

सभी प्रकार के मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। वह अपने ध्यान को किसी विशेष ओर जाने से रोकना चाहता है, परन्तु उसका ध्यान उसी बात पर जाता है जिससे वह अपने मन को रोकता है अर्थात् जिसका चिन्तन वह अपने लिये कल्याणप्रद नहीं समझता। कितने ही लोगों का ध्यान बार बार गन्दी वस्तुओं पर जाता है, कितने ही लोगों का ध्यान स्त्रियों की छाती पर अथवा गुप्त अंगों की ओर जाता है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का विचार किसी भी व्यक्ति के देखते ही उसके पैखाने जाने की क्रिया पर जाता था। लेखक के एक मित्र का ध्यान किसी भी व्यक्ति को देखते ही उसके निम्न अंगों पर जाता है। वे इस प्रकार के

चिन्तन से बहुत परेशान हैं । जैसे जैसे वे अपने ध्यान को उनके सामने के व्यक्ति से अलग करने की चेष्टा करते हैं, उनका ध्यान और भी उसी ओर जाता है। उन्हें अपनी दृष्टि का उस निम्न-स्थल से हटाना कठिन हो जाता है। स्त्रियों के देखते ही उनका ध्यान उनकी छाती पर अथवा गुप्त अंगों पर जमजाता है। इसके कारण उन की दृष्टि भी उसी ओर जाती है। वे कितना ही अपने आपसे लड़ें उनके मन से गुप्त अंगों का विचार नहीं जाता। इस प्रकार के झगड़ा करने के परिणाम स्वरूप उनका स्वास्थ बिगड़ जाता है और उनका रुधिर चाप बढ़जाता है। उन्होंने हाल ही के पत्र में अपनी कथा निम्नलिखित शब्दों में कही है—

"मैं जिधर से अपना मन हटाने का जितना ही प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही अधिक उधर खिंचता चला जाता है। सिर की नसों में खिंचाव होने के कारण दर्द होने लगता है। मैं उधर से सिर घुमा लेता हूँ, नेत्र हटा लेता हूँ, लेकिन मेरे नेत्र का कोई भाग बलात् उधर ही खिंचा रहता है, यहां तक कि मस्तिष्क दुःखने लगता है और बड़ी थकावट का अनुभव होने लगता है। उदाहरणार्थ, मैं रेल में बैठकर सफर कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि स्वभावतः लोगों के कटि प्रदेश पर पड़ रही है। मैं एक तरफ से हटाता हूँ तो दृष्टि दूसरे व्यक्ति का कटि स्थान लेलेती है। मैं घबरा कर अखबार से दृष्टि को छिपाकर पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। मैं समाचार पढ़ता ही रहता हूँ, परन्तु दृष्टि उसी तरफ खिंची रहती है। यदि अखबार के किसी कोने से दृष्टि दूसरे व्यक्ति के किसी भाग पर पड़ सकती हो तो दृष्टि उसी तरफ खिंच जाती है और बड़ी बेचैनी हो जाती है। इससे घबरा कर खिड़की से बाहर सिर निकाल कर देखने लग जाता हूँ, परन्तु दृष्टि पास के बैठे हुए व्यक्ति की तरफ खिंची रहती है। दृष्टि के पूर्णतः बन्द कर लेने पर खिंचाव वैसा ही बना रहता है; विवश होकर दृष्टि पुनः खोलनी पड़ती है। किसी क्रिया से मुक्ति नहीं मिलती।"

उक्त मानसिक द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ है कि इनका रक्त भार लगभग ४० अंश बढ़ा हुआ। अपनी स्मृति के बारे में वे लिखते हैं—"मेरी स्मृति आश्चर्यजनक रूप से व्यय हो गई है। यदि मैं किसी को उधार

या पेशगी रूप में कुछ दे देता हूँ अथवा किसी का हिसाब फैसला करता हूँ तो प्रातः काल की बात को सायंकाल तक भूल जाना साधारण सी बात है"

उक्त मित्र की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। आप बीस वर्ष से साधु हो गये हैं और पहाड़ों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। आप बड़े अध्ययनशील और परोपकारी व्यक्ति है। पर समाज में आने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती है। उनमें सदा आत्महीनता और संकोच का भाव बना रहता है। जब कोई व्यक्ति उनकी प्रशंसा करने लगता है तब संकोच का भाव और भी बढ़जाता है। इसके कारण वे समाज से सदा अलग रहने की चेष्टा करते रहते हैं। उक्त मित्र से पिछले दो वर्ष से पत्र व्यवहार हो रहा है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को जाना गया है। वे अपनी किशोरावस्था में कामुक थे। परन्तु नैतिक धारणा भी उनमें प्रबल थी। उनका विवाह अठारह वर्ष की अवस्था में हुआ। वे अपनी स्त्री से अधिक न मिल पाये। इसी बीच एक नैतिक भूल उनसे हो गई। उन्होंने किसी ऐसी स्त्री के साथ काम क्रिया की जिसे वे बहिन के रूप में मानते थे। इसका बड़ा धक्का उनके मन पर लगा। कुछ दिन तक वे अपने आपको इस अपराध के लिये कोसते रहे। फिर उक्त घटना के थोड़े ही दिन बाद वे घर द्वार छोड़ कर साधु बन गये। इस प्रकार उनकी प्रेम भावना का एका एक दमन हो गया। उसके विकास का अब कोई मार्ग नहीं रह गया। उनका ऊपरी मन तो तपस्वी है और भीतरी मन भ गी है। वह संसार के प्रेम का इच्छुक है। वह झूठी बड़ाई नहीं चाहता। इस लिये ही जन-समूह में आते ही उन्हें घबड़ाहट होती है। वे अपनी मानसिक अवस्था को भली प्रकार पहचान गये हैं। कई दिनों के विचार-विमर्श के बाद रोग का मूल कारण उन्हें बुद्धिगम्य हुआ है। उनके रोग का कारण काम-वासना का दमन बताया गया था, जो अभी भी वर्तमान है। उन्हें यह भी बताया गया था कि उनकी आवेगात्मक काम व्यवहार सम्बन्धी उक्त घटना ही इस दमन के मूल में है। इस बात को हृदय स्वीकार नहीं करता था। किन्तु अभी आये हुए पत्र में दूसरी ही दशा प्रदर्शित होती है। वे अपने हिमालय स्थित स्थान से लिखते हैं—

"××× का पर्वत लगभग ६००० फुट की ऊंचाई पर है। वहां के एक एकान्त निवास के समय अकस्मात् मुझे आप द्वारा निर्दिष्ट कारण की समीचीनता का भान होने लगा। मेरे गृह-त्याग के कुछ ही दिनों पूर्व जो काम-सम्बन्धी घटना हुई थी उस पर आद्योपान्त विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि सम्भवतः उक्त घटना ही मेरे रोग का मूल कारण है। अज्ञात दमन ही रोग का कारण होता है इसलिये उसकी कारणता पर मुझे अबतक सन्देह ही था। परन्तु जब घटनाओं की शृङ्खला एक दूसरे से जोड़ता गया, तब मुझे उसकी कारणता पर अब विश्वास होने लगा है। उस घटना का आद्योपान्त सविस्तार वर्णन मैं कभी आपके पास लिख कर भेजूँगा।"

यहां अपने रोग के मूल कारण को इस मित्र ने पहचान लिया है, परन्तु मानसिक रोगों का अन्त एकाएक नहीं होता। रोग स्वयं शिक्षक है। रोग से मनुष्य को आत्म-ज्ञान होता है। वह जिस उद्देश्य को लेकर आता है जब तक उसकी पूर्ति नहीं होती वह समूल नहीं जाता। कृत्रिम चिकित्साओं से उसका दमन अथवा रूपान्तरण मात्र होता है। उक्त मित्र की मानसिक दशा दिन प्रति दिन सुधरती गई है। उनका जीवन से निराश का भाव जाता रहा। वे अपने सिर दर्द के बारे में अब नहीं लिखते। पहले उनके विचार शृंखलाबद्ध नहीं थे, वे एक साथ बैठकर लम्बे पत्र नहीं लिख पाते थे। परन्तु पिछले कुछ महीनों में लेखक ने उनसे तीस तीस पृष्ठों तक के पत्र पाये जिनमें गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर गवेषणपूर्ण विचार किया गया है। उनकी स्मृति, तर्क शक्ति अद्वितीय है। स्मृति के ह्रास की जो शिकायत है वह प्रायः विपरीत निर्देश के कारण ही उत्पन्न हुई है।

ये मित्र यदि गृहस्थ होते या उनका फिर गृहस्थी में आना संभव होता तो उनका मानसिक रोग कभी ही चला गया होता। उनका हृदय प्रेम का भूखा है। वह प्रेमी का चुम्बन, आलिंगन और उससे प्रेम वार्तालाप चाहता है। साधु जीवन में यह संभव नहीं। जब कामवासना की आगे की ओर अर्थात् स्त्री, सन्तान आदि की ओर प्रगति रुक जाती है तो

वह प्रगतिगामी बन जाती है, अर्थात् ऐसी अवस्था में मनुष्य का ध्यान बार-बार कामवासना की तृप्ति के निम्न कोटि के साधनों पर बाध्य होकर जाता है, और जब उससे उसे हटाने की चेष्टा की जाती है तो मानसिक खिंचाव बढ़ जाता है। बुद्धिमानी इसी बात में है कि इस प्रकार के खिंचाव की अवहेलना न कर उसके अर्थ को समझने की चेष्टा की जाय और तत्सम्बन्धी योग्य उपचार किया जाय।

अवरुद्ध कामवासना का शोध संगीत, कला, कविता, बालशिक्षा आदि कार्यों से होता है। शुकदेव, नारद, व्यास आदि ऋषियों ने इसी प्रकार अपनी कामवासना का शोध किया। परन्तु पहले से यह नहीं कहा जा सकता कि किस व्यक्ति को कौन-सा उपाय ठीक बैठेगा। उक्त मित्र में कविता बनाने की प्रतिभा है। यदि वे इसी के द्वारा राष्ट्र की अथवा मानवसमाज की सेवा करने लगें तो वे अपने आप का और संसार का भारी कल्याण करने में समर्थ हों। वे धीरे धीरे जैसे जैसे अपने आप को समझ रहे हैं इस ओर प्रगतिशील भी हैं।

बाध्य चिन्तन का दूसरा उदाहरण एक बड़े सदाचारी गृहस्थ व्यक्ति का है। इन्हें अपने समवयस्क मित्र का सदा चिन्तन होते रहता है। उनकी समझमें मित्र उनकी इतनी परवाह नहीं करता, परन्तु इन्हें तो उसके चिन्तन और समीप रहे बिना चैन नहीं मिलती। वे स्वयं तीस वर्ष के विवाहित व्यक्ति हैं। व्यापार में लगे रहते हैं, पर ईश्वर ध्यान के समान उन्हें सदा एक ही व्यक्ति का ध्यान रहता है। उनका मित्र भी एक गृहस्थ व्यक्ति है। उसे अपने काम रहते हैं, अतएव उसे अपने उक्त मित्र की भावनाओं का आदर करने का समय ही नहीं मिलता। इससे पहले व्यक्ति को मानसिक धक्का अवश्य लगता है। फिर भी वे अपने मन को उस मित्र से अलग करने में असमर्थ हैं। उन्हें सन्देह होने लगा कि सम्भवतः उन्हें कोई मानसिक रोग हो गया है। अपनी मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए उक्त सज्जन ने अपने प्रथम पत्र में लेखक को निम्नलिखित बातें लिखी थीं—

"मेरे एक समवयस्क मित्र हैं; रिश्ते में भाई होते हैं। दैवयोग से हम लोग पास-पास आ गये हैं। पहले भिन्न भिन्न स्थानों में रहते थे। क्रमशः

हम लोगों की घनिष्ठता बढ़ती गयी। यह घनिष्टता क्रमानुसार हुई थी, क्योंकि वे बाहर रहते हैं और वर्ष भर में ३-४ महिने के लिये यहाँ आते हैं। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार बराबर चलता रहता है। यहाँ हम दोनों एक दूसरे से १ फरलांग की दूरी पर रहते हैं। दिन में कई बार मिलते हैं। वे शिष्ट हैं और अच्छ स्वभाव के हैं। उनसे मिलने की इच्छा मेरी सदैव अपूर्ण बनी रहती है। मैं सदैव उनके बारे में सोचा करता हूँ, सदा उनकी प्रतीक्षा किया करता हूँ। जब वह यहाँ नहीं थे तब उनके आने की सुखद कल्पना में आनन्द विभोर रहा करता था। उनके यहाँ आने पर अब रात दिन उनकी प्रतीक्षा में रहता हूँ।

यह सत्य है कि मुझमें भावुकता की मात्रा अधिक है। कभी कभी तो उनकी चाह में एक वास्तविक पीड़ा की अनुभूति होंने लगती है। यह क्या है आसक्ति, मोह या प्रेम? कभी कभी मैं अपनी तरफ से ही उन्हें याद करने लगता हूँ। इसका उन पर क्या प्रभाव पड़ता होगा? क्या यह सत्य है कि मेरा इस तरह से उनकी याद करना उनके मन को प्रभावित करता होगा? मै जब उन्हें याद करता हूँ तो क्या उन्हें भी अज्ञात रूप से ऐसा मालूम होता होगा कि मैं उन्हें याद कर रहा हूँ? क्या निसर्ग का कोई अज्ञात-चेतन तन्तु इस प्रकार यहाँ व्याप्त है जो निस्वार्थ (अहेतुकी रूप से) भाव से किसी की स्मृति को जाग्रत करके स्मरणकर्त्ता की भावना को उसके पास पहुँचा देता है?

इस प्रकार उसके प्रति आकर्षण मेरे मन में हो रहा है। उसे मैंने कभी दमन करने की इच्छा नहीं की, क्योंकि उनका चरित्र पवित्र है, स्वभाव शिष्ट है और वे मेरे प्रति सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हैं। किंतु जिस प्रकार उन्माद मेरे ऊपर छाया रहता है, वैसा इनमें नहीं रहता। वे स्वभावतः बहुत ही गम्भीर प्रकृति के है। यों तो कोई आवश्यकता नहीं थी किंतु इधर कुछ दिनों से उनकी याद मेरे लिये एक रोग के रूप में हो गयी है। मैं यहाँ से हट जाता हूँ, किंतु जहाँ कहीं भी जाता हूँ याद बराबर बढ़ती जाती है, मिलन की इच्छा तीव्रतर हो उठती है। मैं अपने आप से प्रश्न करता हूँ कि आखिर मैं उनसे चाहता क्या हूँ तो कोई उत्तर नहीं मिलता। हम दोनों समान वर्ग

के हैं। हम लोगों के बीच में कोई अर्थ का प्रभाव आदि अन्तर नहीं है, जिससे प्रभावित होकर मैं उनका स्नेहपात्र बनने का इच्छुक होऊँ। हाँ, उनका व्यवहार हँसमुख स्वभाव और कुछ गुण और हैं जो मुझे बहुत भाते हैं। किन्तु इन सब के बावजूद मुझे इस समय जो कष्ट मिल रहा है जिस प्रकार मेरे सोचने की शक्ति पराधीनता का अनुभव कर रही है, वह बड़ी दुखद है। मैं इससे छुटकारा पाना चाहता हूँ, यद्यपि कभी कभी ऐसा भी करने की इच्छा नहीं होती। यह क्या है, कुछ समझ में नहीं आता। क्या यह प्रेम है या मोह है? जो कुछ भी हो किन्तु इसका उपचार क्या है? मैंने आज तक ये बातें किसी से भी नहीं कही हैं। कहने से--पहले तो कोई ऐसा व्यक्ति है भी नहीं जो धैर्य पूर्वक मेरी सब बातें सुने—लोग हँसेंगे या अपनी मनमानी धारणा बनावेंगे। उनसे भी मैंने उतना नहीं कहा है जितना मेरे मन में कहने की इच्छा होती है। कभी कभी पत्र में कुछ लिख दिया है। मैं सोचते सोचते किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सा हो जाता हूँ। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिये? पढ़ता हूँ कि प्रेम का अर्थ अधिक से अधिक त्याग करना होता है। मैं उनके लिये क्या त्याग कर सकता हूँ जिससे मुझे शान्ति मिले?

यदि इसका कोई उपचार हो अथवा इस प्रकार के मोह को किसी प्रकार मोड़कर दूसरे रास्ते पर किया जा सके तो प्रार्थना है कि इस पत्र का उत्तर अवश्य दें। आशा है इस कष्ट के लिये क्षमा करेंगे।"

पत्र के उत्तर में उक्त सज्जन को अपने मित्र के विचार को भला मानने को लिखा गया। उनसे मित्र के बारे में और भी अधिक चिन्तन करने को कहा गया, चाहे मित्र उनके प्रेम की परवाह करें अथवा नहीं, उन्हें तो उनके प्रति सदा सद्भावना लाना ही चाहिये और उन्हें जिस प्रकार हो प्रसन्न करने की चेष्टा करना चाहिये। निस्वार्थ प्रेम में बदला पाने का भाव नहीं रहता। ऐसा ही प्रेम सच्चा प्रेम कहा जा सकता है। उन्हें कहा गया कि वे इस प्रकार के प्रेम के लिये अपनी आत्म-भर्त्सना न करें, वरन् इसके लिये अपने आप को धन्य ही मानें। साथ ही साथ अपने इसी प्रकार के प्रेम का प्रसार और अधिक लोगों तक करें।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण बताते हुए लिखा गया कि संभवतः उन्हें अपनी मां का पूरा लाड़ प्यार नहीं मिला और उनके यहां बहिन का अभाव हो तथा अपनी पत्नी के साथ भी उनका पूरा मनोयोग न होगा। इससे मनुष्य की प्रेम की भूख तृप्त नहीं हो पाती। उसका विकास नहीं होता। जहां विषम लिंगी प्रेम का अभाव रहता है, समलिंगी प्रेम प्रबल हो जाता है। यह मानसिक संतुलन को बिगड़ने नहीं देता। इसके भी अभाव में मनुष्य का मानसिक विकास रुक जाता है। इन्हें आगे कहा गया कि यदि वे जान बूझ कर अपने मित्र को खूब प्यार करें और जब उनका विचार मन से चला भी जाता हो तब भी उसे वापस लावें तो उनके बाध्य चिन्तन का अन्त हो जायगा। जिस भावना से हम लड़ते हैं वह बार बार मन में आती है और जिसे हम मनमें आने की छूट देदेते हैं, अथवा जानबूझ कर मन में ले आते हैं, वह मन से निकल जाती है। कोई भी आदत अनाभ्यास और अति अभ्यास से छूट जाती है। जब अनाभ्यास से कोई आदत न छूटे तो जान बूझकर उस आदतका अति अभ्यास करने से वह छूट जाती है। अतएव कुछ दिनों तक मित्र के विचार को ही सदा मन में लाते रहने का अभ्यास करने की सलाह उन्हें दी गई।

इसके अतिरिक्त सबके प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करना, सोते समय शून्यभाव का अभ्यास करना और शिव भावना का अभ्यास करने को कहा गया। जो कुछ होता है सब भले के लिये होता है—इस प्रकार का अभ्यास शिव भावना का अभ्यास है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य का रोग भी उसका मित्र बनजाता है। इन्हें अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को लिखने का भी आदेश दिया गया।

लेखक के आदेशानुसार उक्त सज्जन ने अपने विचारों को बनाने की चेष्टा की। उसने अपनी पुरानी भावना को अपना दोष न मानकर गुण ही मानना प्रारंभ कर दिया। उसने शिव भावना का अभ्यास भी किया। इसके परिणाम स्वरूप उसका मन शान्त अवस्था में हो गया। मनका अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने पर उसकी मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई और सभी प्रकार के खिंचाव का अन्त हो गया। उसकी बदली मानसिक स्थिति उसके अगले

पत्र से प्रदर्शित होती है। इस पत्र से उसके रोग का कारण भी स्पष्ट होता है।—

"श्रद्धेयवर, १-४-५०

सादर प्रणाम!

स्नेहपूर्ण कृपा-पत्र मिला। पढ़कर बड़ी शान्ति मिली। किन्तु आश्चर्य भी हुआ। दो-तीन बार आरम्भ में और बाद में कई बार पढ़ गया। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई की भय के जिस भूत से मैं असाधारणरूप से भयभीत हो कर भागना चाहता था वह वस्तुतः उतना भयानक और हेय नहीं है वरन् एक स्वाभाविक वस्तु है, आश्चर्य इस लिये हुआ कि मेरे मानसिक विश्लेषण के फल स्वरूप आपने जो (अचूक) उपयुक्त निष्कर्ष बतलाया है वह इतना अधिक सच है कि लिखते नहीं बनता। मेरी माता जी का स्वभाव कुछ उग्र है और हम सब भाइयों का पालन हमारी चाची ने किया है। मैं चार भाइयों में सब से छोटा हूँ। मेरे एक भी बहिन नहीं है। छोटी, बड़ी या समवयस्का कोई नहीं। जब दूसरों को मैं उनके बहिन के साथ बातें करते या बहिन के घर जाते हुये देखता हूँ तो कभी कभी ऐसा मन में आता है कि यदि मेरे भी एक बहिन होती तो कितना अच्छा रहता। मैं उसका भाई होता, उसके बच्चों को खिलाता तो वह कितनी प्रसन्न होती। मेरे इन मित्र को एक समवयस्क बहिन है। ये नवयुवक हैं और नव विवाहित भी। इनकी बहन और इनकी धर्म पत्नी में पारास्परिक स्नेह अधिक है। वह जब यहाँ आती है तो इनकी धम-पत्नी का प्रसंग लेकर बड़ा मनो विनोद होता रहता है। वह मधुर उपालम्भ एवं विनोद पूर्ण बातों को लेकर एक विचित्र उल्लास पूर्ण वातावरण बनाये रखती है। इन सब बातों को देख कर सदा तो नहीं किन्तु कभी-कभी बहिन न होने का अभाव मुझे खटकता रहता है। मेरे एक बड़े भाई थे। वे बड़े ही सच्चरित्र, बुद्धिमान और प्रतिभा सम्पन्न थे। १६ वर्ष तक मैं बड़ा उद्दंड, शरारती और अपने मन की मौज में रहा करता था। वे मुझ पर बड़ा प्रेम रखा करते थे। और सब भाई मुझसे उम्र में अधिक बड़े थे, इस लिये दूसरों की अपेक्षा मेरे अधिक निकट पड़ते थे। हम

दोनों प्रातः काल से लेकर रात तक साथ साथ सब काम करते थे। स्नान, भोजन, पठन-पाठन इत्यादि। मेरे दुर्भाग्य से उनका देहान्त हो गया। उनका देहावसान मेरे जीवन की सब से असाधारण घटना है। मेरा जीवन-पथ बदल गया। हम दोनों की जोड़ी था। अस्तु उनके देहावसान के बाद मेरे प्रति मेरा वातावरण दयालु सा हो गया। घरवाले और सभी लोग मेरे प्रति सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करने लगे। इसके पूर्व मैं पाठ्य-विषय के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें नहीं पढ़ता था किन्तु बाद में और भी पुस्तकें पढ़ने लगा। कल्याण' गीताप्रेस और कुछ प्राकृतिक जीवन पर महात्मा गांधी की पुस्तकें। अधकचरी बुद्धि होने के कारण पुस्तकों में लिखी बातों को ज्यों की त्यों करने की चेष्टा करता था। किसी भी नियम को अपनी सामर्थ्य और परिस्थिति के साथ सामंजस्य बैठाकर चलता तो शायद निभा पाता किंतु कच्ची समझ होने के कारण नियमों का पालन पढ़ने के साथ ही करने की उतावली ने किसी भी नियम को पालने में सफलता नहीं होने दी। मेरे इस रवैये पर वातावरण ने नयी दृष्टि से देखा और भिन्न २ लोगों ने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किये। मेरे कुछ पारिवारिक सदस्य मेरी असफलताओं पर हँसते। कुछ एक व्यंगरूप में बड़ाई करते और कुछ लोग व्यर्थ का जंजाल समझते। तरह तरह की बातों के बाद कुछ ऐसा हुआ कि मैं अपने आप को उन्नत विचार वाला होने का दिखाव अधिक करने लगा। वास्तविकता कुछ नहीं रहती थी। कुछ समय तक अहम्मन्यता का प्रभाव और आडम्बर बहुत अधिक हो गया था। इसके बाद मेरा विवाह हुआ। किसी सीमा तक मैं विवाह से असहमत था। केवल एक वर्ष की मुहलत और चाहता था। एन्ट्रेन्स पास करने के बाद विवाह करना चाहता था। किंतु नाइन्थ में ही करना पड़ा। मेरे मस्तिष्क में ब्रह्मचर्य संबंधी विचार (जैसा मैंने पढ़ा था) भरे थे। किन्तु उनमें स्थायित्व नहीं था। उन विचारों के अनुसार दाम्पत्य जीवन को हर बातों में निरोध की ही आवश्यकता प्रतीत होती है। किंतु वैसा हो नहीं पाता। मेरी पत्नी एक ऐसी बालिका थी जिसके बचपन को बीते ३-४ साल ही हुए थे। मुझे उसके प्रति आकृष्ट होने के हर एक भाव पापपूर्ण मालूम होते किंतु मैं उन भावों का दमन करने

की चेष्टा में बुरी तरह असफल हो जाता था और इस प्रकार बड़ी आत्मग्लानि होती थी क्योंकि मैं अब भी अपने आप को सबको उसी रूप में दिखलाना चाहता था। फलस्वरूप इस प्रकार का मानसिक उथल पुथल के साथ मेरा दाम्पत्य जीवन बड़े ही नीरस ढंग से बीतता गया। हम दोनों में अनबन बनी रहती। जब मैं और विवाहितों को देखता, उनके दाम्पत्य-जीवन की मनोरंजक बातें सुनता तो मन में विचित्र विचित्र भाव आते। कभी अपनी स्थिति पर असंतोष होता, कभी घर वालों पर क्रोध आता, कभी सोचता सब नश्वर है; इन लोगों की रंगरेलियाँ अधिक दिनों तक नहीं चलेंगी; सब शान्त हो जायेंगें। परन्तु इन सब से मेरे दाम्पत्य जीवन में कोई सुधार नहीं हुआ। वह अपेक्षाकृत नीरस ही होता रहा और आज भी मुझे दाम्पत्य जीवन को सँवारने का कोई उत्साह नहीं होता, यद्यपि काम-वासना से मुक्त नहीं हूँ।

मेरे मित्र जिनका नाम ××× है को, एक सुन्दर दाम्पत्य जीवन बिताने का सौभाग्य प्राप्त है। इनमें और इनकी पत्नी में बड़ा प्रेम है। दोनों दूर दूर रहते हैं। अतएव मिलने की प्रतीक्षा करते रहते हैं और दोनों मिलकर बहुत प्रसन्न होते हैं। मैं ऐसा कुछ भी नहीं पाता। मित्र के प्रति मेरा प्रेम कुछ विचित्र ढंग का है। मैं कोई भी बात उनके अभाव में नहीं चाहता। सिनेमा, घूमना, मेला-नाव-चाँदनी या कोई भी मनोविनोद उनकी अनुपस्थिति में विशेष सुखदायी नहीं मालूम होते। परन्तु उन्हें ऐसा कुछ नहीं होता। आप क्षमा कीजियेगा मुझे शर्म लगती है लिखते हुये। उनके साथ किसी निर्जन स्थान में भी जाता हूँ तो वहाँ जितना सुख मालूम पड़ता है उतना दूसरों की सुआयोजित पिकनिक में भी नहीं। वह सब जानते हैं, किंतु पता नहीं उनके मन में मेरे अभाव में कोई ऐसी बात आती है या नहीं। कभी कभी तो ऐसा भ्रम होता है कि मेरी प्रत्येक इच्छा को ठुकराना उनका स्वभाव सा हो गया है। अभी कल की ही बात है मैंने उन्हें जब वे बाहर थे कुछ पत्र लिखे थे। मैं उन्हें वापस माँगता था कुछ देखने के लिये लगभग बीसों बार माँग चुका हूँ, परंतु हमेशा वे टालमटोल किया करते हैं। बार बार माँगने पर भी न पाने पर ऐसा लगता

है कि वे जान बूझ कर मेरे आत्मसम्मान को ठेस पहुँचा रहे हैं। परन्तु फिर भी हृदय की दुर्बलता कहूँ या क्या कहूँ उनके अप्रसन्न होने की कल्पना दुखदायी मालूम होती है। मैंने अभ्यास की जो बात लिखी थी वह इस प्रकार थी कि उनकी याद से (जब वे बम्बई में रहते थे) मैं बड़ा परेशान हो गया था। कभी कभी मुझे अपने आप को यह सोच कर शर्म लगती कि मैं तो यहाँ उनकी याद से इतना व्याकुल हो रहा हूँ क्या वे भी मुझे कभी याद करते होंगे। और जब फिर कभी उनकी स्मृति अपनी इच्छा के विपरीततम रूप से आने लगती थी तो जिस तरह ईश्वरोपासना में ध्यान किया जाता है उसी तरह अपनी तरफ से जान बूझ कर मैं ध्यान करने लगता। मैं इस आशा से ध्यान करता था कि यदि मैं एकाग्रचित्त होकर उनका ध्यान करूँगा तो उनके मन का भी शायद उच्चाटन हो अथवा वहाँ भी मेरी स्मृति का प्रादुर्भाव हो जाय। परन्तु ऐसा करते समय मेरे शंकाकुल हृदय में यह भय बराबर बना रहता था कि यदि मेरी पारस्परिक-उच्चाटन की धारणा केवल अपनी कल्पना मात्र हुई तो आगे चल कर उन्हें अधिक याद करने में मेरा मन इतना अधिक मोह ग्रस्त हो जायगा कि मैं स्वयं अपने लिये एक रोग उपजा लूँगा। "मोह सकल व्याधिन का मूला" के अनुसार यह स्वयं मेरे गलत प्रयोग का फल होगा। परन्तु आप का पत्र पढ़ कर बड़ा ढाढ़स हुआ। जानबूझकर याद करना long run अन्त में स्वयं निरोधात्मक हो जायगा, यह बहुत बड़ी आशा है। दूसरी बात जो आपने लिखी कि 'जो होता है अच्छा ही होता है' इसे मैंने पढ़ा तो कई जगह था किन्तु आज तक इसे हृदय में जमाने को सचेष्ट नहीं था। आज आपके द्वारा लिखे गये ये शब्द जितने अधिक प्रभावकारी हुये हैं उतने कभी नहीं हुए थे।

और क्या लिखूँ। आपने मेरे ऊपर स्नेह करके जो उत्तर दिया है उसके लिये सोचने पर मेरा हृदय अत्यधिक आभारी हो जाता है। मेरे पास कोई शब्द नहीं है जिसे लिख कर मैं आप के इस स्नेह पूर्ण व्यवहार से हुई—अपनी मनोभावना प्रकट कर सकूँ। कुछ भी कहना या लिखाना आडम्बर है। आप ही समझिये कि मेरी जैसी स्थिति में आपके जैसा व्यवहार आपके साथ यदि कोई करता तो आप के मन में क्या भाव

आते। हो सकता है मेरे मन के इन भावों का कारण आप की महानता के प्रति मेरा अज्ञान है। जो कुछ भी हो मैं इसके सिवा और क्या कहूँ कि आपका पत्र मेरे लिये बहुत बड़ी प्रसन्नता का विषय है। किस बल से कहूँ कि मेरे पत्र का उत्तर दीजिये। आपका समय तो नष्ट ही होगा साथ ही साथ एक बला सी पड़ जायगी। मेरी धृष्टताओं को क्षमा कीजियेगा। यदि आप इधर कहीं आवें तो इस अकिंचन को न भूलियेगा। शेष कुशल है। पत्र की प्रतीक्षा में।

स्नेहाकांक्षी

× × ×

उक्त सज्जन के पत्र से ज्ञात होता है कि उनके मन में समलिंगी प्रेम की वासना प्रबल है, परन्तु उनकी नैतिक बुद्धि इसका विरोध करता है। इसके कारण प्रेम का विकास न होकर वह पिछड़ी हुई अवस्था में पड़ा हुआ है। किशोर बालकों में समलिंगी प्रेम की वृद्धि होना स्वाभाविक है। प्रौढ़ावस्था में यह प्रेम स्वभावतः विषमलिंगी व्यक्ति के ऊपर चला जाता है। परन्तु यदि किसी प्रकार प्रेम की पहली अवस्था में ही उसका अवरोध हो गया, तो उसका स्वाभाविक विकास रुक जाता है। फिर समलिंगी प्रेम विषमलिंगी प्रेम की वृद्धि में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपनी विवाहित स्त्री के प्रति कोई स्वाभाविक अथवा ऐसी कल्पित अड़चन डाल लेता है जिससे वह अपना पूरा प्रेम उसे न दे सके। स्त्री से बात बात में झगड़ा होने लगता है। यदि पहले प्रेम की पूर्ति हो जाती है तो फिर उसका गृहस्थ जीवन भी रसमय हो जाता है। उसे अपनी स्त्री में वे दोष नहीं दिखाई देते जो अन्यथा दिखाई देते हैं। फिर स्त्री से प्रेम प्रदर्शन में कोई कल्पित नैतिक अड़चन भी नहीं आती।

पेट के रोग की चिकित्सा

कुछ दिन पूर्व एक धनी व्यक्ति लेखक के पास आये इनकी उमर लगभग पचास वर्ष की थी। उन्होंने लेखक की "मानसिक चिकित्सा" का पहला संस्करण पढ़ लिया था। उन्हें सभी कामों के प्रति अरुचि, संसार से नैराश्य का भाव था। इसके अतिरिक्त उन्हें स्थायी पेट का रोग था। उनसे

दुर्भावना को रखने का प्रतीक है । जब यह दुर्भावना बाहर निकाल दी जाती है तो पेटका रोग भी चला जाता है । द्वेष के दमन की अवस्था में पेट में फोड़ा होता है, काम वासना के दमन की अवस्था में अर्थात् उसकी भूख की अवहेलना से पेटकी पाचन शक्ति में सन्देह उत्पन्न हो जाता है और रोगी को बार बार भूख लगती है । जब देखो तब कुछ खा लेने की इच्छा उत्पन्न होती रहती है । पेट से आँव गिरने का भी कभी कभी भ्रम होता रहता है—

सद्भावना और आरोग्य

लेखक के एक मित्र ने, जो एक बड़ी संस्था के अधिकारी हैं, अपने एक सम्बन्धी की नियुक्ति उस संस्था में हो एक ऐसे स्थानपर करा दी जिस स्थान पर संस्था के किसी पुराने कर्मचारी को ही नियुक्त होना चाहिये था । उन्होंने यह काम बड़ी सावधानी से अपने साथियों की आंख बचा कर किया । संस्था का एक व्यक्ति बड़े सेवा भाव से उसमें कार्य करता था । एक दिन यह अधिकारी उस व्यक्ति की कक्षा में निरीक्षण के लिये चले गये । उसी दिन उस व्यक्ति को उक्त अधिकारी के कपट का भेद खुल गया । निरीक्षण करते समय कार्यकर्त्ता ने क्रोधसे उसे कह दिया "आप सदा छल से काम लेते हैं, जब आप ऊँचे स्थानों पर अपने सम्बन्धियों की नियुक्ति कराते हैं तो उन्हीं से ऊँचा काम कराने की आशा कीजिये ?" इस बात को उक्त कर्मचारी ने बड़ी निर्भीकता से कहा । उसने मन में इच्छा की कि अधिकारी महोदय को अपने कपट के लिये दंड अवश्य मिलना चाहिये ।

इस घटना के दूसरे दिन से ही उक्त मित्र बीमार पड़ गये । कई दिनों तक वे बीमार रहे । डाक्टरों ने उनके रोग को टाइफाइड बताया । वे अपनी बेहोशी की अवस्था में चिल्लाया करते थे "मेरी संस्था बरबाद हो रही है । इसे बचाओ" । इस प्रकार उन्हें डेढ़ महीना बीत गया । इस बीच उक्त कर्मचारी उनके पास नहीं गया । कुछ दिन बाद उसके मन में बीमार व्यक्ति के प्रति दयाभाव आ गया । वह उसके पास पहली बार दस बजे रात को गया । रोगी उसे देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ । मित्र की स्त्री ने भी कहा कि अब दोनों में दोस्ती हो गई । यह मित्र उक्त कर्मचारी से अपने कामों की सफाई देने लगा । कर्मचारी का इस प्रकार मित्र के प्रति द्वेष भाव निकल गया ।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि जो पहली बात उक्त मित्र ने कर्मचारी से कही वह यह थी "नई नियुक्ति वाला व्यक्ति अपनी जगह पर नहीं आ रहा है।" इस प्रकार उसने अपने मनको हलका करने की चेष्टा की। कर्मचारी ने रोगी को आश्वासन दिया कि संस्था के किसी काम में कोई गड़बड़ न होगी। इस घटना के बाद ही मित्र चार दिन में स्वस्थ हो गया।

इस प्रयोग में देखा गया कि मनुष्य जब कभी अपनी नैतिक भावना के प्रतिकूल आचरण करता है तो वह अपने मनको कमजोर बना लेता है। इसके कारण वह अपनी क्षति के विचार को मन से बाहर निकालने में असमर्थ रहता है। स्वार्थी मनुष्य का मन कमजोर होता है। इसलिये ही उसे अभद्र विचार सरलता से पकड़ लेते हैं। और जब वे एक बार मन में घुस आते हैं तो प्रयत्न करने पर भी बाहर नहीं निकलते।

दूसरी बात आत्म-समन्वय से रोग के दूर हो जाने की है। इस प्रकार का आत्म-समन्वय अपने आप को धोखा देने से नहीं होता। जिस व्यक्ति के प्रति अन्याय किया हो उसके प्रति न्याय करना आवश्यक है। उससे माफी मांगी जानी चाहिये। यह माफी का माँगना अपने आदर्श स्वत्व से ही माफी माँगना है। यदि वह क्षमा कर देता है तो अपराधी का आदर्श स्वत्व भी उसे क्षमा कर देता है। परन्तु अपने अपराध के अनुसार मनुष्य को कष्ट भोगना ही पड़ता है; तभी उसकी बुद्धि इस योग्य बनती है कि वह दूसरे से अपने अन्याय के लिये क्षमा माँगे।

तीसरी बात मानसिक उद्विग्नता की है। जिस वस्तु के लिये अपने आपको अथवा दूसरे को धोखा दिया गया है यदि उसका त्याग कर दिया जाय तो मानसिक विषमता और तज्जनित रोग जल्दी से हो नष्ट हो जाते हैं। यदि ऐसी वस्तु अपने आप ही खो जाय तो यह भी मनुष्य के लिये कल्याणकारी होता है। यदि उक्त मित्र के सम्बन्धी अपनी नियुक्ति को स्वीकार कर लेते तो मित्र का रोग और भी विषम हो जाता। फिर उनमें अपने अधीन कर्मचारी से क्षमा माँगने का भाव ही न आता और न वह कर्मचारी उन्हें हृदय से क्षमा करता।

दसवाँ प्रकरण

मानसिक रोगियों की चिकित्सा में सावधानी

चिकित्सा कार्य की प्राथमिक आवश्यकतायें

किसी भी प्रकार के काम के करने के लिये मनुष्य में तीन बातों की आवश्यकता होती है—कार्य में लगन, विधि का ज्ञान और कार्य करने में सावधानी। बिना कार्य में लगन के कोई मनुष्य देर तक किसी काम को नहीं कर सकता। किसी काम को थोड़ी देर तक करने से उससे उसका जी ऊब जाता है। मानसिक चिकित्सा के कार्य में सफलता बहुत धीमे धीमे मिलती है। जिस प्रकार मानसिक रोग के आने में और उस के बढ़ने में वर्षों लग जाते हैं, इसी प्रकार उसके नष्ट होने में भी बड़ा समय लगता है। जिस चिकित्सा का फल एकाएक दिखाई देने लगता है उसका लाभ देर तक नहीं ठहरता। मानसिक चिकित्सा के समय रोगी के मन में अनेक प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। यदि इन से परेशान होकर कोई मानसिक चिकित्सक रोगी के उपचार को छोड़ दे तो उसे कोई सफलता प्राप्त न होगी। कभी कभी इससे रोगी का रोग और भी बढ़ जाता है। भौतिक चिकित्सा में यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है कि रोगी अब अच्छा हो रहा है। मानसिक चिकित्सा में यह बात उतनी साफ-साफ नहीं दिखाई देती। भौतिक रोग का रोगी अपने स्वास्थ्य की उन्नति को स्वयं देख सकता है, परन्तु मानसिक रोग का रोगी प्रायः यह देखने में असमर्थ होता है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उसका रोग उसे कब छोड़-कर चला गया। अतएव उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं होता कि चिकित्सक के उपचार ने कब उसका कितना फायदा किया। जब उसका रोग अच्छा होने की अवस्था में होता है तब वह प्रायः मानसिक चिकित्सक के प्रति उदासीन हो जाता है। मानसिक चिकित्सक के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करने का भी उसे स्मरण नहीं रहता। अपने

रोग के भूल जाने के साथ साथ वह चिकित्सक को भी प्रायः भूल जाता है। अतएव चिकित्सक में जब तक अपने काम करने की लगन धार्मिक रूप में नहीं रहती तब तक वह देर तक किसी व्यक्ति की मानसिक चिकित्सा नहीं कर सकता। एक रोगी से निराश होने पर दूसरे रोगी की भी चिकित्सा करते रहना तीव्र कर्तव्य-बुद्धि की उपस्थिति दर्शाता है। मानसिक चिकित्सा के कार्य करने का पुरस्कार आत्म-संतोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यही चिकित्सक की अपने काम में लगन को दृढ़ करता है।

मानसिक चिकित्सा की लगन चिकित्सा का कार्य करने के लिये पर्याप्त नहीं है। उसकी विधि को भी भली प्रकार से जानना अत्यन्त आवश्यक है। मानसिक चिकित्सा विधि पर्याप्त जटिल है। मानसिक चिकित्सा एक विशेष प्रकार का विज्ञान है। इसमें नित्य नई खोजें होती रहती हैं। इनकी जानकारी रखना मानसिक चिकित्सा का कार्य करने वाले के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार भौतिक चिकित्सा के पर्याप्त ज्ञान के बिना चिकित्सा का कार्य करना संभव नहीं, इसी प्रकार बिना मानसिक चिकित्सा की विधि के पर्याप्त ज्ञान के मानसिक चिकित्सा का कार्य करना संभव नहीं। यह ज्ञान दो प्रकार से आता है—एक पुस्तकों के अध्ययन और उनके मनन से और दूसरे अपने अनुभव से। मानसिक चिकित्सक को अपने विषय सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ते रहना आवश्यक है। इसी तरह उसे किसी भी रोगी की चिकित्सा के ऊपर बार बार विचार करते रहना आवश्यक है। कभी कभी रोगी की सफल चिकित्सा तो हो जाती है, परन्तु चिकित्सक को न तो रोगी के रोग की उत्पत्ति के कारण का ज्ञान हो पाता है और न उसके विनाश का। इनका ज्ञान तभी होता है जब चिकित्सक का दृष्टिकोण अन्वेषणात्मक होता है। सदा नई खोज से संलग्न रहने वाला मानसिक चिकित्सक अपने अनुभवों को अनेक प्रकार से देखता है और उनमें चिकित्सा सम्बन्धी नये सिद्धान्तों की खोज कर लेता है।

सफल मानसिक चिकित्सा की तीसरी आवश्यकता मानसिक रोगियों के साथ व्यवहार में सावधानी है। यहाँ पर हम इसी बात पर विशेष कर विचार करेंगे। मानसिक रोगी के साथ व्यवहार में सावधानी के संबन्ध से निम्नलिखित पाँच बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

१. रोगी से प्राथमिक मिलन में सावधानी
२. रोगी से बातचीत में सावधानी
३. रोगी की बातों को गुप्त रखने में सावधानी
४. रोगी पर भरोसा रखने में सावधानी
५. भावारोपण से बचने में सावधानी

अब हम एक एक करके इन पांच प्रकार की सावधानियों पर विचार करेंगे

रोगी से प्राथमिक मिलन

किसी रोगी का हम कहाँ तक लाभ कर सकेंगे यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि रोगी हमारे प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है। यह दृष्टिकोण उसके साथ प्रारम्भिक मिलन में ही प्रायः निश्चित हो जाता है। साधारणतः स्वयं रोगी चिकित्सक के पास नहीं आता, उसे कोई दूसरा व्यक्ति लाता है। जो व्यक्ति रोगी को चिकित्सक के पास लाता है उसके प्रति रोगी का विशेष प्रकार का दृष्टिकोण होता है। यदि यह दृष्टिकोण भला हुआ तो चिकित्सक के प्रति भी रोगी का दृष्टिकोण भला हो जाता है और यदि यह दृष्टिकोण दूषित हुआ तो रोगी का चिकित्सक के प्रति दृष्टिकोण भी दूषित हो जाता है। साधारणतः मानसिक रोगी के रोग का कारण उसी व्यक्ति के साथ किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध में होता है जो उसके विषय में सबसे अधिक चिन्ता करता है और जो रोगी को चिकित्सक के पास लाता है अथवा चिकित्सक को रोगी के पास बुला ले जाता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रायः दबी हुई द्वेष भावना रोगी के मन में रहती है। यही भावना रोगी की उस व्यक्ति द्वारा बुलाये गये चिकित्सक के प्रति भी आरोपित हो जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी के मन और चिकित्सक के बीच लुका-छिपी का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। जैसे जैसे चिकित्सक रोग के कारण के खोजने में कुशलता दिखाता है रोगी का मन वैसे वैसे उस कारण को छिपाने में कुशलता दिखाने लगता है। इस प्रकार की लुका छिपी के परिणाम स्वरूप रोगी का रोग और भी बढ़ जाता है। रोग जो उसे प्रारम्भिक अवस्था में नहीं होते कुछ ऐसे और उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी रोगी का चिकित्सक के प्रति द्वेषभाव

इतना अधिक बढ़ जाता है कि उसका चिकित्सक के पास आना और उससे बात चीत करना कठिन हो जाता है।

लेखक कुछ दिन पूर्व एक कालेज के प्रतिष्ठित प्रोफेसर से मिला। प्रोफेसर महोदय की स्त्री को वमन की बीमारी थी। उसे अकारण ही वमन हो जाया करता था। यह रोग उसे दो साल से था, उसकी अनेक प्रकार की भौतिक चिकित्सा की गई थी परन्तु रोग कम न हो कर और बढ़ता ही गया। प्रोफेसर महोदय के एक मित्र मनोवैज्ञानिक थे। अपने मित्र से इन्होंने अपनी स्त्री के रोग की चर्चा सुनाई। मित्र ने इन्हें मनोवैज्ञानिक उपचार की सलाह दी और स्वयं उन्होंने ही उपचार करना प्रारम्भ कर दिया। प्रोफेसर महोदय अपनी स्त्री को मनोवैज्ञानिक महोदय के घर पर ले जाते और उसका मनोवैज्ञानिक उपचार कराते। इस उपचार के लिये मनोवैज्ञानिक ने उक्त महिला से अनेक बातें पूछी। महिला ने, उनका जो उचित उत्तर समझा, दिया। फिर यह पूछताछ का काम प्रतिदिन होने लगा। इधर महिला का रोग भी बढ़ा और उसकी मानसिक परेशानी भी बढ़ती गई। थोड़े ही दिन के उपचार के बाद उक्त महिला ने अपने रोग से परेशान हो कर अपने पति से कहा "मैं अपने नैहर को जाऊँगीं, मेरा उपचार वहीं होगा"। स्त्री के बार-बार आग्रह करने पर उसे नैहर पहुँचा दिया गया। वहाँ वह अपना उपचार कराने लगी। यहाँ प्रोफेसर महाशय जिस जगह पर थे अपनी स्त्री के बिना रहने लगे। इस प्रकार कई महीने बीत गये। जब उन्होंने अपनी स्त्री को वापस आने को कहा तो उसने उस स्थान पर आना अस्वीकार कर दिया। उसने अपने पति को कहा कि वह कभी भी उस जगह नहीं जायगी जहाँ उनके मित्र रहते हैं। अन्त में पति को वहाँ से नौकरी छोड़कर दूसरी जगह नौकरी करनीं पड़ी। स्त्री के दुराग्रह के कारण उनको भारी हानि उठानी पड़ी।

जिस समय इस महिला का वृत्तान्त लेखक को सुनाया गया था उस समय तक उसका वमन का रोग ठीक नहीं हुआ था। इस रोग को रूपान्तरित उन्माद (कन्वर्सन हिस्टीरिया) कहते हैं। जब स्त्री अपने पति से भीतर से सन्तुष्ट नहीं रहती तो उसे प्रायः इस प्रकार की बीमारी हो जाती

है। ऐसी बीमारी का एक उदाहरण हालिंगवर्थ महाशय ने अपनी 'एन-इन्ट्रोडक्शन टू एबनार्मल सायकोलाजी' नामक पुस्तक में दिया है।

जो स्त्री पति से असन्तुष्ट है अर्थात् उससे मिलना नहीं चाहती और अपने हृदय की बातें कहना नहीं चाहती वह पति के मित्र के प्रति भी वैसे ही भाव रखने लगती है जैसा कि उसका अपने पति के प्रति भाव रहता है। जिस डाक्टर को पति बुलाता है और जिस में वह अपना अधिक विश्वास दिखाता है उसमें स्त्री का उतना ही अधिक अविश्वास रहता है और उसके समक्ष अपने आप को खोलने में वह उतनी ही अधिक हिचकती है। ऐसा चिकित्सक उस रोगी की सफल चिकित्सा नहीं कर सकता।

लेखक के एक छात्र को मानसिक विषाद (मेलेनकोलिया) का रोग हुआ। इस रोग के उपचार के लिये उसके ससुर ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये, परन्तु वह रोग और भी जटिल होता गया। मानसिक विषाद के साथ अनिद्रा का रोग भी रहता है। इस रोगी को अनिद्रा का रोग भी था। जब वह छात्र ट्रेनिंग कालेज में आया तो लेखक से उसका अनायास मिलन हुआ। उसने लेखक से कई जटिल प्रश्न पूछे। इस समय तक लेखक को उक्त छात्र की मानसिक व्याधि का पता न था। इन प्रश्नों को हल करते समय उस छात्र की मानसिक व्याधि का पता चल गया। लेखक ने उसे पूरी सहायता देने की चेष्टा की और इसके परिणाम-स्वरूप उस छात्र ने लेखक के प्रति बहुत कुछ विश्वास दिखाया। पीछे जब इस रोगी को पता चल गया कि लेखक की मित्रता उसके ससुर से भी है तो उसका लेखक के प्रति रुख बदल गया। अब वह लेखक से मिलता भी न था। लेखक के प्रति सन्देह की मनोवृत्ति हो जाने से उसका रोग और भी जटिल हो गया।

लेखक के एक दूसरे छात्र को एक बार हृदय का रोग हुआ। इस रोग के साथ-साथ अनेक प्रकार की झकें भी उसमें थीं। उसके पिता और बड़े लोग भी जिन लोगों को उसकी चिकित्सा के लिये बुलाते थे उनके उपचार से उसका रोग और बढ़ता ही जाता था। एक बार उसके पिता ने बड़े आदर के साथ एक झाड़फूँक करने वाले पंडित को बुलाया। उसने रोगी के पास आकर

उससे कई बातों की पूछताछ करनी आरम्भ की। रोगी उसे मूर्ख समझता था और उससे बोलना न चाहता था। जब पंडित जीने रोगी को बार-बार छेड़ा तो उसने गुस्से में आकर पंडित जीको एक तमाचा जड़ दिया। यह जानकर उसके पिता और भाई उसपर बहुत क्रुद्ध हुए और उनके क्रोध के कारण रोगी का रोग और भी जटिल हो गया। इस रोगी को ऐसे किसी डाक्टर अथवा वैद्य से कोई लाभ न हुआ जिसके पास वह बिना श्रद्धा अथवा भाई के साथ भेजा गया। उसे ऐसे ही व्यक्तियों से लाभ हुआ जो या तो उसकी माँ के बुलाने से उसके पास आये थे अथवा वह उनके पास माँ के द्वारा भेजा गया था। सब से अधिक लाभ ऐसे ही व्यक्ति से हुआ जो स्वयं उसके प्रेम के कारण उसके पास पहुँचा और जिसे उसने अपना विश्वसनीय पात्र समझ कर बार-बार बुलाया।

मानसिक रोगियों की चिकित्सा में एक अद्भुत बात यह देखी जाती है कि जो रोगी अपने आप लिख कर लेखक से अपने रोगों के बारे में सलाह लेते हैं उन्हें बड़ी ही शीघ्रता से लाभ होता है। कितने ही मानसिक रोग के रोगी बिना लेखक के पास आये हुए पत्र व्यवहार द्वारा ही कुछ जटिल मानसिक रोगों से मुक्त हो गये। ऐसे रोगी बड़ी श्रद्धा के साथ उन सभी बातों को करते हैं जो लेखक उन्हें सुझा देता है। इसी तरह जो मानसिक रोगी अपने आप ही लेखक के पास आते हैं उन्हें अपना स्वास्थ्य लाभ करने में पर्याप्त सरलता होती है, परन्तु जिन मानसिक रोगियों के पास लेखक दूसरे लोगों के द्वारा बुलाया जाता है उन्हें उतना लाभ नहीं होता और कभी कभी तो वे जहाँ के तहाँ रहजाते हैं। अतएव किसी रोगी से लेखक प्रायः तब तक नहीं मिलता जब तक कि स्वयं रोगी अपनी इच्छा से उसके पास न आये अथवा वह उससे मिलने की इच्छा प्रकट न करे। मानसिक उपचार में हमें सदा यह ध्यान में रखना है कि रोगी स्वयं के प्रयत्न से आरोग्य लाभ करता है। उसका रोग उसके मनका बनाया हुआ है। जब तक वह स्वयं अपने रोग से मुक्त होना नहीं चाहता तबतक वह कैसे आरोग्य लाभ कर सकता है? बहुत से रोगियों के रोग उनको कमीके आवरण मात्र रहते हैं। जब स्वयं रोगी इन आवरणों को हटाना चाहता है तभी वह

आरोग्य लाभकर सकता है। जो रोगी अपने रोग से परेशान होकर उसे छोड़ना चाहता है वह स्वयं चिकित्सक की खोज करता है और जब उसे ऐसा चिकित्सक मिल जाता है तो वह उसके आदेशानुसार चलकर अपने स्वभाव में परिवर्त्तन कर लेता है। इसके प्रतिकूल जब चिकित्सक अपने आप ही उसके पास जाता है- अथवा दूसरों के द्वारा वह उसके ऊपर थोपा जाता है तो रोगी का पहले से ही उसके प्रति दूषित दृष्टिकोण हो जाता है। अतएव ऐसे चिकित्सक से कोई भी मौलिक लाभ नहीं होता।

बात चीत में सावधानी

मानसिक चिकित्सक को जो दूसरी बात अपने कार्य में ध्यान में रखनी है वह रोगी से बात चीत में सावधानी है। रोगी से बात चीत करते समय निम्न-लिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

१. मानसिक रोगी से बात करते समय उसे अपनी बातों को कहने का अधिक अवसर देना और अपने आप जहाँतक हो कम बोलना।

२. मानसिक रोगियों को अन्य मानसिक रोगियों की चर्चा निरर्थक न सुनाना।

३. मानसिक रोगी को उसके रोग की भयानकता को न बताना।

४. प्रतिदिन रोगी को स्वास्थ्य लाभ कीउन्नति बताते रहना।

५. किसी मानसिक रोगी के जिन लक्षणों को हम रोगी में प्रत्यक्ष नहीं देख रहे हैं उनकी चर्चा रोगी से नहीं करना।

६. रोगी की मान्यता का विरोध न करना

अब हम इन पांचों बातों पर एक एक करके विचार करेंगेः—

रोगी को बोलने का अधिक अवसर देना

कोई भी मानसिक चिकित्सक यदि किसी मानसिक रोग के बारे में अधिक नहीं जानता पर प्रतिदिन रोगी को अपनी मानसिक व्याधि कहने का अवसर देता है और उसकी सारी वार्त्ता को सहानुभूति पूर्वक सुनता है तो वह रोगी को स्वास्थ्य लाभ कराने में अवश्य ही सहायक होता है। मान-सिक रोगियों में प्रायः गुप चुप रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वे अपने

आप को किसी के सामने खोलना ही नहीं चाहते। उनका किसी के ऊपर विश्वास नहीं रहता। वे मन ही मन कहा करते हैं—

रहिमन निजमन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुन इठलैहैं लोग सब, बाँट न लैहैं कोय॥

वे देखते हैं कि जिन लोगों से उन्हें सबसे अधिक प्रेम की आशा थी उन्होंने उन्हें धोखा दिया। फिर अब और विश्वास किसका करना है। मानसिक रोग प्रायः मानसिक आघातों का परिणाम होता है और वह मानसिक घाव का प्रतीक होता है। यदि रोगी अपने मनकी बात किसी के सामने खोल दे तो उसका रोग दूर हो जाय। पर उसका विश्वास किसी पर रहता ही नहीं। उसका आन्तरिक मन कहता है कि दूसरे लोग उसके हृदय की बात को जानकर उसके प्रति सहानुभूति न दर्शा कर, उसकी खिल्ली उड़ायेंगे। फिर बहुत से मानसिक रोग ऐसे होते हैं जो रोगी की नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण करने से पैदा होते हैं। ऐसी बातों को रोगी का दूसरे लोगों से छिपाना स्वाभाविक है। उसका आन्तरिक मन उसे अपने रोग के कारण को दूसरों के समक्ष खोलने के लिये प्रेरणा अवश्य देता है, परन्तु उसका नैतिक मन उसको ऐसा करने से रोकता भी रहता है। यदि कोई मानसिक चिकित्सक रोगी के प्रति इतनी सहानुभूति दर्शाये कि वह रोगी का पूरा विश्वास पात्र बन जावे और रोगी उसके समक्ष इस प्रकार बात करने लगे, मानों वह अपने आपके ही समक्ष बात कर रहा है, तो उसका रोग यदि पूर्णतः नष्ट न हो तो हल्का अवश्य हो जाय। अतएव मानसिक चिकित्सक को उतना ही बोलना चाहिये जितना कि रोगीका विश्वासपात्र बनने के लिये आवश्यक है और उससे अपनी आत्म-कथा कहलाने को आवश्यक दिखाई पड़ता हो। मानसिक चिकित्सा की रेचन विधि का मूल आधार रोगी का अपने हृदय को किसी विश्वसनीय व्यक्ति के सामने खोलना मात्र है।

रोगियों की चर्चा न सुनना

बहुत से डाक्टरों में रोगी के सामने अनेक प्रकार की चर्चा सुनाने की आदत रहती है इससे वे रोगियों के ऊपर अपनी धाक जमाना चाहते हैं। वे कभी कभी अपने चमत्कार को रोगी के सामने बताते हैं। रोगी जितने

किस्सों को सुनता है, उससे वह आत्मसात् कर लेता है। यदि उन किस्सों में वर्णित किए गये रोगियों का रोग और भी भयंकर हुआ तो इससे मानसिक रोग की कल्पना ऐसे भयंकर रोग का चित्रण करने लगती है। रोगी के मन के दुर्बल होने के कारण उसमें भय आदि के बिचार बड़ी शीघ्रता के साथ चले जाते हैं। मानसिक रोगी को मानसिक रोगों की पुस्तक कभी भी पढ़ने को नहीं दी जानी चाहिए। पुस्तक में ऐसे ही रोगियों का वर्णन रहे जो अच्छे हो गये हों। मानसिक रोगी का विश्वास साधारणतया गिरा हुआ रहता हैं। अतएव वह मानसिक रोग की तीव्र कल्पना तो कर लेता है परन्तु उतना ही तीव्र कल्पना उस रोग से मुक्त होने की नहीं होती। इसके कारण जिन जिन रोगों को रोगी अपनी कल्पना में लाता है उन रोगों के स्वयं रोगी के जीवन में उपस्थित होने की संभावना रहती है। मानसिक रोगी के समक्ष यदि कोई चर्चा चिकित्सक करे तो वह स्वास्थ्य की चर्चा होनी चाहिये। मानसिक रोगी से जितनी कम बातचीत उसके रोग के बारे में की जाय उतना ही अच्छा है। जिस प्रकार भूत के विषय में चर्चा करने से घर में भूत आ जाता है अथवा यदि वह पहले से वर्त्तमान हो तो वह घर छोड़ कर नहीं जाता, इसी प्रकार स्वस्थ व्यक्ति से भी मानसिक रोग की चर्चा करने से वह अपने आपमें मानसिक रोग की कल्पना कर लेता है और यदि पहले से ही कोई मानसिक रोग हो तो वह रोग और भी जटिल हो जाता है। मानसिक रोगी से बातचीत करते समय सदा रोगी को सुझाते रहना चाहिये कि वही एक अकेला व्यक्ति नहीं है जिसे उक्त मानसिक रोग हुआ है। उसके समान हजारों व्यक्ति ऐसे ही मानसिक रोग से पीड़ित होते हैं और यदि वे उन रोगों से मुक्त हो गये तो उस का भी अपने विशेष रोग से मुक्त हो जाना कोई अद्भुत बात नहीं है। जब कोई मनुष्य अपने आप को सब से अधिक अभागा सोचना बन्द कर देता है तो वह शीघ्र ही मानसिक स्वास्थ्य का लाभ कर लेता है।

रोग की भयानकता को न बताना

किसी भी प्रकार के रोगी को उसके रोग की भयानकता को न बताना चाहिये। रोग के प्रति भय के बिचार मन में लाने से वह बढ़ता है।

मानसिक रोग का पूरा कारण मन की कमजोरी में ही होता है, अतएव यदि मानसिक रोगी को उसके रोग की भयानकता को बताया जाय तो वह रोग से मुक्त होने में अपने आपको असमर्थ पावेगा। जो रोगी मन ही मन सोचा करता है कि वह विशेष प्रकार के चिन्तन के कारण पागल हो जावेगा, वह वास्तव में पागल हो जाता है। जब पागल हो जाने का भय किसी रोगी के मन में बैठ जाता है तो वह और भी जल्दी से पागल हो जाता है। जिन शारीरिक रोगों की जड़ मानसिक ग्रन्थियों में रहती है वे रोग रोगी की भावना के अनुसार बढ़ते घटते रहते हैं। कितने ही हस्तमैथुन की कुटेव के शिकार अपने रोग के विषय में साहित्य पढ़ने के कारण कुचिन्तन करने लगते हैं। वे सोचने लगते हैं कि उन्हें नपुसंकता आ गई है, वे अपनी स्त्री के साथ मिलने के लिए अयोग्य हो गये हैं। कभी कभी वे सोचने लगते हैं कि उनका हृदय कमजोर हो गया है, उन्हें खाया हुआ भोजन भी नहीं पचता। इस प्रकार के विचार रोगी के मन में दूसरे लोगों के निर्देशों के कारण आ जाते हैं। इससे रोगी का मन और भी निर्बल हो जाता है और वह वास्तव में निकम्मा और पूर्ण असहाय व्यक्ति बन जाता है। "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" जैसी पुस्तकों ने हस्तमैथुन की आदत के शिकार व्यक्तियों को जितना लाभ किया उससे कहीं अधिक हानि की है। ऐसी पुस्तकों को पढ़ने के परिणामस्वरूप कितने ही लोग पागल खाने के निवासी बन जाते हैं।

प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोगी अपने आपको कोसते रहता है। वह अपने आपको बुरा व्यक्ति मानता है। उसमें अपने नैतिक स्वत्व का सामना करने को हिम्मत नहीं रहती। अतएव उससे बातचीत करते समय उसे भला व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा करना चाहिए। मानसिक रोगी जीवन से निराश सा रहता है। उसकी आशाओं को बढ़ाना उचित है। मानसिक रोगी जानता है कि कोई व्यक्ति उससे सहानुभूति नहीं रखता। उसके प्रति सहानुभति दर्शाना आवश्यक है।

मानसिक रोगी से बातचीत करते समय उसके रोग को सामान्यसा रोग बताना उसके रोग को भयानक बताने से अच्छा है। प्रत्येक प्रकार का रोग उसके प्रति रोगी के रुख से घटता अथवा बढ़ जाता है। जो रोगी अपने रोग को साधारण

सा मानता है उसका रोग साधारण रहता है और जो उसे भयानक मानता है वह अपने रोग को भयानक बना लेता है। रोग के विषय में रोगी को चिन्तित करना उसके रोग को बढ़ाता है। मानसिक रोग के विषय में चिन्ता को कम करना रोग के उपचार का सर्वोत्तम उपाय है।

स्वास्थ्य लाभ में उन्नति को बताना

मानसिक रोगी के आचार-व्यवहार में थोड़े ही परिवर्त्तन को रोगी को बताते रहना आवश्यक है। यह उन्नति जान बूझकर न बताकर अनायास ही बता देनी चाहिए। इससे रोगी को अपने रोग से मुक्त होने में आत्म-विश्वास होता जाता है। जिस तरह रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है उसका रोग भी उसी तरह घटता जाता है।

स्वास्थ्य-लाभ सूचक निर्देशों को देने के लिये यह आवश्यक है कि रोगी को बात बात में कहा जाय कि उसने अमुक काम बहुत ही अच्छी तरह से किया। जिस तरह बालकों की पढ़ाई में उन्नति उन्हें प्रति दिन सहज भाव से बताते रहने से वे और भी पढ़ाई में उन्नति करते हैं, इसी प्रकार रोगी भी अपनी उन्नति को जानकर और भी उन्नति करता है। उत्साह वर्धक शब्दों से अधिक कल्याणकारी कोई दूसरी बात मानसिक चिकित्सा में नहीं होगी।

रोगी की उन्नति के वास्तविक लक्षणों को जानने के लिए रोगी के आन्तिरिक जीवन का, उसकी चेष्टाओं का और उसके काम करने के ढंग का भली प्रकार से अध्ययन करना पड़ता है। वह जो कुछ कहता सुनता अथवा करता है उसे बड़ी रुचि के साथ सुनना और देखना चाहिए।

रोगी को रोग के नये लक्षणों को न बताना

रोगी से बातचीत करते समय इस बात के लिये सावधान रहना आवश्यक है कि जो रोग रोगी को नहीं है वह उसे न लग जाय। कभी कभी मानसिक चिकित्सक असावधानी से बातचीत करते समय रोगी को कुछ ऐसे रोग के लक्षण बता देता है जो रोगी में वर्त्तमान समय में उपस्थित नहीं है, पर उनके बता देने से वे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रसंग में एक मानसिक रोगी का अपने

रोग का बढ़ने का वृतांत उल्लेखनीय है। इस रोगी को मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति के कारण मानसिक उद्विग्नता रहती थी। वह स्त्रियों के साथ ठीक से बातचीत नहीं कर सकता था। पुरुषों से भी बातचीत करते समय उसे झेंप होती थी। चिकित्सक की असावधानी के कारण अथवा नासमझी के कारण इस रोगी को सिर का दर्द कैसे उत्पन्न हो गया उसका वृतांत उसी के शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"इसी बीच एक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ प्राप्त हुए। उन्होंने विश्लेषण करके इसका नाम नर्वस टेन्सन (स्नायुओं का खिंचाव) बताया और इसका कारण आत्म-प्रशंसा और काम-वासना की प्रेरणा बताया। उन्होंने कई सप्ताह तक स्वप्न भी नोट कराये। कई कापियों में पिछला जीवन लिखवाया, परन्तु सबलीमेशन (शोध) का कोई उपाय न बता सके। उन्होंने मुझ से पूछा था कि "तुम्हारे मस्तिष्क के अग्रभाग में कुछ बोझसा प्रतीत होता है?" उस समय मुझे वैसा प्रतीत नहीं होता था, इस लिये "नहीं" कह दिया। परन्तु अब उनके जाने के पश्चात् दो तीन मास बाद सचमुच मस्तिष्क का अग्रभाग इतना बोझिल होने लग गया कि अब मुझको सिर को हाथ से दबा कर विश्राम करना पड़ता है। इस समय अवस्था यह है कि जन-समाज को देखते ही सिर में बोझ आरम्भ हो जाता है।"

रोगी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक चिकित्सक की असावधानी के कारण जो रोग रोगी को नहीं था वह उसे उत्पन्न हो गया। वास्तव में मानसिक चिकित्सक ने ही उसे रोगी को सुझा कर उत्पन्न कर दिया। रोगी की मानसिक स्थिति एक विशेष प्रकार की होती है। उसमें सन्निर्देश ग्रहण करने की शक्ति उतनी अधिक नहीं होती जितनी अधिक दुर्निर्देश ग्रहण करने की शक्ति होती है। मन की दुर्बल अवस्था में कल्याणकारी कल्पनायें उतनी अधिक मन में नहीं आतीं जितनी अकल्याणकारी कल्पनायें मन में आती हैं। यदि इन अकल्याणकारी कल्पनाओं का स्रोत चिकित्सक के मस्तिष्क में हुआ तो उनका रोगी के मन में एक बार आ जाने पर वहाँ से हटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। रोगी की चाहे चिकित्सक पर श्रद्धा हो अथवा नहीं, उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही उसकी मनोवृत्ति दुःखदायी विचारों

पर आरोपित हो जाती है। फिर वह इन बुरे विचारों को छोड़ नहीं सकता। इसके परिणाम स्वरूप उसे बड़े घातक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

रोगी की हठ का विरोध न करना

मानसिक रोगी का मन एक विशेष प्रकार की परिस्थिति में होता है। उसे जितना ही एक ओर खींचा जाता है वह स्वभावतः दूसरी ओर उतना ही अधिक जाता है। जिस प्रकार पतंग को अपनी ओर खींचने से वह ऊपर को चढ़ती है इसी प्रकार मानसिक रोगी की इच्छाओं का विरोध करने पर उसका मानसिक खिंचाव बढ़ता है और उसका रोग जटिल हो जाता है। बात-चीत करते समय जब हम उसकी बातों को बिना विरोध किये धैर्य से सुनते हैं तो उसका मानसिक खिंचाव कम हो जाता है। जिस प्रकार पतंग को अत्यधिक ढील देने पर वह जमीन की ओर गिरने लगती है, इसी प्रकार मानसिक रोगी की बातों को चुपचाप सहानुभूति पूर्वक सुनने से उसकी हठ कम हो जाती है और धीरे धीरे उसके विचारों में अपने आप परिवर्त्तन हो जाता है।

प्रत्येक मानसिक रोगी को किसी न किसी प्रकार की झक होती है। वह जिस सिद्धान्त को सही मानता है उसके प्रतिकूल उसमें विचार करने का सामर्थ्य नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति उसको सत्य मानी हुई धारणा का विरोध करे तो वह उसे मूर्ख अथवा द्वेषी मान लेता है। ऐसी अवस्था में उसके विचारों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। किसी भी मानसिक रोगी से उसके माने हुए सिद्धान्तों के बारे में बहस करना मनोवैज्ञानिक सूझ की कमी को दर्शाता है। मानसिक रोगी के सिद्धान्त ऊपर से बड़े युक्ति संगत होते है। वह उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन अच्छे प्रमाणों द्वारा करता है। उसकी युक्तियों की असंगतता उसे दिखाई नहीं देती और न उसे इस असंगतता को दिखाना संभव है। अपनी विभिन्न प्रकार की युक्तियों में परिस्परिक विरोध समझना उसी व्यक्ति के लिये संभव है जिसकी बात भावों से रञ्जित नहीं रहती, अर्थात् जो शुद्ध तर्क करने की योग्यता रखता है और अपनी विचारों की त्रुटियों को पहचानने की जिसमें क्षमता रहती है। मानसिक रोगी के विचार, विशेष प्रकार की मानसिक

ग्रन्थि से उदय होने के कारण, प्रबल राग-द्वेष के भावों से अनुरञ्जित रहते हैं। रोगी इन विचारों को तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक उसकी मानसिक ग्रन्थि का निराकरण नहीं होता। जिन बातों को रोगी विशेष रूप से सत्य मानता है प्रायः उन्हीं में उसके रोग का कारण होता है। जब तक रोगी का रोग नष्ट होने की अवस्था में न हो तब तक उसमें अपने विचारों की भूल समझने की क्षमता नहीं होती। बहस के द्वारा रोगी को किसी सिद्धान्त की भूल समझाना असंभव है। इससे रोगी की हानि ही होती है।

रोगी की मनोवृत्ति बदलने के लिये रोगी की बात पहले शान्त भाव से सुनते जाना चाहिये। उसे पहले तो ऐसा ज्ञात होता रहे कि हम उसके सिद्धान्त से ही पूर्णतः सहमत हैं; पीछे उसके हृदय पर अधिकार कर के उसे धीरे धीरे सत्पथ पर लाने की चेष्टा करना उचित है। इसके लिये पहले उसे उन बातों से अपने से सहमत कराना होता है जिनके विषय में उसका विशेष विरोध नहीं है। जब मानसिक रोगी का किसी व्यक्ति के ऊपर विश्वास हो जाता है और विचार में वह उसका अनुकरण करने लगता है तो वह अपनी हठ को अपने आप छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। स्वयं रोगी के मनमें उसकी पहले की धारणाओं के विषय में संदेह उत्पन्न होते हैं। जब रोगी को अपनी पुरानी धारणाओं में संदेह उत्पन्न होने लगे तब उसे नये देना विचार उचित है।

प्रत्येक मानसिक रोगी बाहर से चाहे कितना ही विनीत क्यों न हो भीतर से वह अपने आप को महान् व्यक्ति समझता है। वह यदि पढ़ा लिखा है तो अपने पाण्डित्य के सामने वह किसी की धाक मानने को तैयार नहीं रहता। उसके विरोधियों को वह मूर्ख समझता है। ऐसी अवस्था में मानसिक रोगी के विचारों का विरोध करके हम उसकी मानसिक जटिलता को बढ़ाते हैं।

लेखक के पास एक बार एक ऐसा मानसिक रोगी आया जो अपने आप को एक अच्छा साधक और विद्वान् समझता था। उसका विश्वास था कि भारतवर्ष की विभिन्न राजनैतिक और धार्मिक संस्थाओं में भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अनेक प्रकार के आश्रम और साधनगृह मनुष्यों को पुरुषत्व-विहीन करते हैं। वे उन्हें ऐसी दवाइयाँ खिलाते हैं जिससे उनका वीर्य नष्ट

हो जाता है। इन आश्रमों में साधना करने वाले व्यक्ति एक विशेष प्रकार के नशा में सदा रहा करते हैं। इन साधनाओं के अध्यक्ष साधकों के ऊपर अपना रोब जमाने के लिये और जगत् में ख्याति प्राप्त करने के लिये विशेष प्रकार का आडम्बर फैलाते हैं। इससे मनुष्यों का लाभ न होकर उनकी भारी क्षति होती है। उसका विश्वास था कि उसे ऐसे ही आश्रमों में जहर दिया गया है जिसके परिणाम-स्वरूप उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया है और वह अपने मस्तिष्क में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाओं को आते हुए पाता है।

लेखक ने इस रोगी की सभी बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुना। उसके विचार धर्म-संस्थाओं के विषय में वैसे ही थे जैसे साम्यवादियों के रहते हैं। लेखक ने इस व्यक्ति के प्रति अपना विशेष प्रेम दर्शाया। इसे सदा संदेह रहता था कि कोई व्यक्ति उसे जहर न खिला दे। इसके कारण वह दो चार मित्रों को छोड़ किसी के यहाँ भोजन नहीं करता था। चार छः दिन तक लगातार उसकी बातें सुनने पर उसका धार्मिक संस्थाओं के प्रति द्वेष का भाव शिथिल हो गया। उसे कभी अपनी बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुनने वाला व्यक्ति मिला ही न था। जैसे जैसे उसकी बातों का विरोध किया जाता था उसकी यह धारणा बढ़ती जाती थी कि समाज में धार्मिक संस्थाओं के संचालक धूर्तों का जाल सब दूर फैल गया है, इसलिये ही उसकी सत्य बातों को भी दूसरे लोग सुनने को तैयार नहीं हैं। यह व्यक्ति सभी वादों का और सभी धर्मपंथों का विरोधी था। बड़े बड़े आश्रमों के संचालकों के विषय में तो उसका इतना द्वेष था कि वह उन्हें जीवित भी नहीं रहने देना चाहता था। रोगी की बातें सहानुभूति पूर्वक सुनने के परिणामस्वरूप वह लेखक का मित्र बन गया। फिर लेखक ने उसे सुझाया कि वह जो कुछ कहता है है सब सही है, परन्तु द्वेष-पूर्ण विचार चाहे वे किसी के प्रति क्यों न हों मन में बार बार लाने से अपने आप को अशान्ति होती है, अपनी बुद्धि का ह्रास होता है और अपने स्वास्थ्य का विनाश होता है। यदि हम संसार में सुखी और स्वस्थ होकर जीना चाहते है तो हमें अपने ध्वंसात्मक विचारों की संख्या कम करनी होगी और रचनात्मक विचारों की संख्या बढ़ानी होगी। जब हम जीवित ही न रहेंगे अथवा पागल हो जायेंगे तो समाज का कल्याण

करना कैसे संभव होगा। अतएव अपने आप को जीवित रखने के लिये, सुखी और स्वस्थ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने मन को दूसरों के दोषों के मनन में न लगा कर उन बातों के चिन्तन में लगायें जिनसे हमारा और समाज का कल्याण हो। यह बात उक्त रोगी को ठीक जँची और फिर उसने अपना समय रचनात्मक चिन्तन में व्यतीत करने का निश्चय किया। जब वह लेखक के पास से गया तब उसका स्वास्थ्य पर्याप्त सुधर गया था। इस रोगी से प्रति दिन सोते समय मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया। इससे उस के स्वप्न अच्छे होने लगे और उसे नींद अधिक आने लगी। अपने आप में प्रत्यक्ष सुधार देखते हुऐ यह रोगी लेखक के विचारों का धीरे धीरे अनुकरण करने लगा। यदि प्रारम्भ से ही उसके विचारों का विरोध किया जाता तो उसके स्वास्थ्य में किसी प्रकार का सुधार होना असंभव था।

रोगी की गुप्त बातें

प्रत्येक रोगी अपनी बातों को गुप्त रखना चाहता है। वह पहले तो खुल-कर किसी से बात ही नहीं करना चाहता। यदि वह किसी को अपना विश्वास पात्र बनाता है तो वह उससे आशा करता है कि उसकी बातों को वह गुप्त रखेगा। यदि उसे थोड़ा भी संदेह हो जावे कि उसकी कही बातें दूसरे लोगों को प्रगट हो जावेगी तो वह कदापि मानसिक चिकित्सक को अपनी कोई बात न बतावे। गुप्त बात को गुप्त रख सकने की मानसिक चिकित्सक की योग्यता में रोगी के मन में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर भी भारी अनर्थ होता है। अतएव मानसिक चिकित्सक को रोगी की कही किसी बात क दूसरे के समक्ष प्रगट नहीं करना चाहिये।

रोगी जिन बातों को चिकित्सक के समक्ष कहता है वे आत्म-स्वीकृति के रूप में होती हैं। अतएव रोगी का परिचय देते हुए उसकी बातों को जनता के समक्ष कह देना एक भारी नैतिक भूल है। जिस प्रकार अपनी स्त्री की कही गई बातों को गुप्त रखना पति का धर्म है इसी प्रकार मानसिक रोगी द्वारा कही गई बातों को गुप्त रखना भी चिकित्सक का धर्म होता है। रोगी को गुप्त बातों को प्रकाशित करने से उसकी कीर्ति कम होने की संभावना होती है। अपनेआश्रित की अथवा अपने रोगी की कीर्ति को घटाना अनर्थ मूलक है।

जब रोगी अपने रोग से पूर्णतः मुक्त हो जाता है तब उतनी सावधानी रखने की आवश्यकता नहीं रहती जितनी रोग की अवस्था में रहती है।—सम्पूर्ण स्वस्थ रोगी अपनी ही आत्मकथा दूसरों के कल्याण हेतु कह देते हैं। इससे दूसरों का लाभ होता है।

रोगी पर भरोसा रखना

जब तक कोई व्यक्ति मानसिक रोग की अवस्था में है उसकी बातों पर एक एक भरोसा करना ठीक नहीं है। जैसे जैसे रोगी के स्वास्थ्य में परिवर्तन होता है उसके विचारों में भी परिवर्तन होता है। सम्पूर्ण स्वस्थ मनुष्य के विचार ही पूर्णतः स्वस्थ और स्थिर रहते हैं। मानसिक रोगी कभी एक सिद्धान्त का बड़े ही जोर से प्रतिपादन करता है फिर वह उसी सिद्धान्त का बहुत जोर से विरोध करने लगता है। अतएव उसकी बातों पर भरोसा करके किसी प्रकार की योजना बनाना उचित नहीं है।

कभी कभी मानसिक रोगी अपने विचारों में परिवर्तन का युक्तिसंगत कारण देता है, परन्तु कभी कभी उसके विचारों में परिवर्तन अकारण ही हो जाता है। उसे किसी प्रकार की घटना से मानसिक बेचैनी हो जाती है। फिर अपने पुराने विचारों को उसे बदलना ही पड़ता है। मानसिक रोगी को स्वयं ज्ञान नहीं रहता कि उसके विचारों में क्यों परिवर्तन हो गया। जिन घटनाओं के कारण रोगी के विचारों में परिवर्तन होता है, वे उसकी मानसिक रागद्वेषात्मक ग्रन्थियों को उत्तेजित करती हैं और उसके पुराने अनुभवों की प्रतीक होती हैं।

रोगी की बातों पर धीरे धीरे भरोसा करते जाना उचित है। उसकी यह धारणा न बने कि उसकी बातों पर भरोसा नहीं किया जाता। यदि उसे यह ज्ञात हो जाये तो उसका चिकित्सक के प्रति सम्मान ही नष्ट हो जावेगा। फिर रोगी में चिकित्सक को आत्म-विश्वास लाना आवश्यक है। आत्म-विश्वास की वृद्धि के साथ साथ ही रोग का विनाश होता है। बात बात में रोगी पर अविश्वास दिखाने से रोगी का अपने आप में विश्वास चला जाता है। इससे उसका स्वास्थ्य ठक न होकर वह और भी अधिक जटिल रोगी बन जाता है।

रोगी को सदा रचनात्मक काम देते रहना चाहिये। इस प्रकार के काम

उसकी योग्यता के अनुसार हों, यह अच्छा है। जिस काम को करने की रोगी में योग्यता नहीं है, ऐसे काम को रोगी को न देना चाहिये। मनुष्य जहाँ तक अपने बाहरी काम में सफल होता है, वहाँ तक उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है और जहाँ तक वह अपने हाथ में लिये काम में विफल होता है वह अपना आत्म-विश्वास खोता है। मनुष्य का चरित्र उसके कामों का बना हुआ है। मनुष्य जो कुछ करता है एक ओर उससे वह कुछ बाहरी परिणाम प्राप्त करता है और दूसरी ओर उससे उसके चरित्र का गठन होता हैं। प्रत्येक कार्य से मनुष्य के भीतरी और बाहरी मन में एकता स्थापित होती है। सफल कार्यों से मनुष्य अपने आप के ऊपर विजय प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति के बाहरी और भीतरी मन में जितनी अधिक एकता रहती है वह उतना अधिक अपने कामों में एकता का प्रदर्शन करता है। मानसिक रोगी के भीतरी और बाहरी मन में एकता न रहने के कारण वह देर तक किसी एक ही काम को नहीं कर सकता। पर धीरे धीरे उसमें इस प्रकार के काम करने की क्षमता बढ़ाना चाहिये।

मानसिक रोगी से समय समय पर मिलते रहना और उसे प्रोत्साहित करते रहना आवश्यक है। मानसिक रोग एकाएक न तो उत्पन्न होता है और न एकाएक जाता है। वह जैसे धीरे धीरे उत्पन्न होता है धीरे धीरे जाता भी है। मानसिक रोगी की खबर लेते रहना उसकी स्वास्थ्य वृद्धि के लिये आवश्यक है। कभी कभी रोगी को एकाएक मानसिक रोग का दौरान हो जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी को सम्हालने की आवश्यकता होती है। विषाद-ग्रस्त रोगी के विषय में यह सावधानी विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है। विषाद ग्रस्त रोगी को आरोग्यवान समझकर कभी कभी अकेला छोड़ दिया जाता है। ऐसी अवस्था में वह कभी कभी अपनी अथवा दूसरों की क्षति कर डालता है।

भावारोपण से बचने में सावधानी

मानसिक रोगी के उपचार के विषय में सबसे अधिक सावधानी रखने की बात भावों के आरोपण की है जिस प्रकार के भाव रोगी के मन में दबे रहते हैं, उसी प्रकार के भाव चिकित्सक पर आरोपित हो जाते हैं। यदि रोगी के भाव प्रेम के हैं तो रोगी चिकित्सक से हो प्रेम करने लगता है और यदि ये भाव द्वेष के

हैं तो वह चिकित्सक को मारने पीटने के लिये तैयार हो जाता है। कभी कभी चिकित्सक के प्रति प्रेम और द्वेष दोनों के ही भाव एक के बाद एक आते रहते हैं। इन भावों का धीरे धीरे निराकरण करना पड़ता है।

भावों के आरोपण की समस्या हिस्टीरिया में विशेष रूप से जटिल होती है। रोगी की बातें जो व्यक्ति सहानुभूति पूर्वक सुनता है उसके प्रति रोगी का प्रेम हो जाता है। इस प्रेम के उत्पन्न हो जाने पर रोगी उस प्रेम सम्बन्ध को निबाहने की चिकित्सक से आशा करता है। यदि हिस्टीरिया रोग से पीड़ित कोई महिला हुई तो वह चिकित्सक को पूरे मन से प्यार करने लगती है। ऐसी स्थिति में एक बड़ी नैतिक समस्या उत्पन्न हो जाती है। नैतिक प्रतिबंध ऐसी अवस्था में शिथिल हो जाने के कारण रोगी चिकित्सक से उसकी प्रेम इच्छा को पूरी करने की आशा रखता है। अब यदि चिकित्सक का चरित्र दृढ़ न हुआ तो स्वयं चिकित्सक रोगी के भावों के वेगों में बह जाता है। कितने ही मानसिक रोगों के चिकित्सक इस प्रकार के प्रेम-पाश में पड़ जाते हैं।

यहाँ कुशलता रोगी के प्रेम को मानसिक ग्रन्थि से मुक्त करके उसे जहां जाना चाहिये वहां पहुँचाने में है। हिस्टीरिया के रोग में रोगिणी का प्रेम कहीं दूरस्थ व्यक्ति में फँसा होता है। उसको वहाँ से मुक्त करके उसे उचित पात्र के ऊपर लाना होता है। चिकित्सक यहाँ मध्यस्थ का काम करता है। जब चिकित्सक मध्यस्थता के कार्य में सफल होता है तो रोगी चिकित्सक के प्रेम में पड़ जाता है और जब वह इस कार्य में सफल नहीं होता तो उसका स्थायी द्वेष उसके प्रति हो जाता है। इस प्रकार महिलायें या तो मानसिक चिकित्सक को प्रेम ही करने लगती हैं अथवा उनसे द्वेष करने लगती हैं। इन दोनों प्रकार के भावारोपण के प्रभाव से बचने में मानसिक चिकित्सक की कुशलता है।

मानसिक चिकित्सक के मन में कभी कभी उसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियां रहती हैं जिस प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों के निराकरण की चेष्टा वह रोगी के मन से करता है। जिस प्रकार समान स्वभाव वाले गुरु-शिष्य के बीच सच्चा आत्मीयता का भाव स्थापित होता है और इसके कारण

ही अध्ययन-अध्यापन का कार्य योग्यता से चलता है, इसी प्रकार समधर्मी चिकित्सक और रोगी के बीच भी आत्मीयता का भाव स्थापित होता है और इस भाव के कारण ही चिकित्सक रोगी की चिकित्सा में विशेष रुचि दिखाता है यदि चिकित्सक के मन में दबी हुई प्रेम की भावना हुई, अर्थात् उसका मन उसी प्रकार प्रेम का भूखा हुआ जिस प्रकार रोगी का मन प्रेम का भूखा है तो रोगी के साथ चिकित्सक का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में मानसिक चिकित्सक को नैतिक झंझट में पड़ जाना सरल होता है। अतएव जिस प्रकार रोगी के प्रति मानसिक चिकित्सक को सावधान रहने की आवश्यकता है, उसी प्रकार उसे अपने आपके प्रति सावधान रहने की आवश्यकता है। जब मानसिक चिकित्सक स्वयं अपनी ही मानसिक झंझट में पड़जाता है तो उसका किसी भी रोगी का सफल उपचार करना कठिन होता है। मानसिक रोगी का ऐसे चिकित्सक के प्रति जो प्रेम भाव होता है, पीछे वह द्वेष भाव में परिणत हो जाता है। फिर उसकी सफल चिकित्सा करना कठिन होता है। कोई भी चिकित्सक तभी तक मानसिक रोगी की सहायता कर सकता है जब तक वह मानसिक रोगी पर अपने आपको आश्रित नहीं बना लेता, अर्थात् जब तक रोगी उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता में विश्वास करता है। जब मानसिक रोगी चिकित्सक को अपने जैसा ही निर्बल मनका व्यक्ति जानने लगता है अथवा अपने से भी उसे गिरा मानने लगता तो वह उसकी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं उठता।

मानसिक आरोग्य प्रश्नोत्तरी

प्रश्न १—मानसिक रोग का कारण मनोवेग का दमन बताया जाता है क्या मानसिक रोग से बचने के लिये किसी भी मनोवेग का दमन न करना चाहिये ?

उत्तर—जिस मनोवेग का दमन भय, लज्जा, आत्मग्लानि, अथवा शोक के कारण होता है वह मानसिक रोग का कारण बनता है। इस प्रकार का दमन मनुष्य की चेतना के ऊपर नहीं आता। जिन घटनाओं में मानसिक आवेग का दमन होता है वे मनुष्य को स्मरण नहीं रहतीं। यदि स्मरण करने की वह चेष्टा भी करे तो वे उसे याद नहीं आतीं। परन्तु उन घटनाओं के संस्कार व्यक्ति के अचेतन मन में स्थिर रहते हैं। वे इतने सजीव रहते हैं कि संमोहन के द्वारा वे पूरी तरह से घटना को चित्रित कर सकते हैं। दमन वही बुरा है जो हमारे चेतन मनके अनजाने होता है। दुःखद घटनाओं का दमन इसी प्रकार होता है। जिन घटनाओं के दुःख को हम भूलना चाहते हैं वे ही रोग का कारण बन जाती हैं। यदि हम अपने किये के, अथवा अपने आप पर बीती व्यथा के दुःख को पूरा भोग लें और किसी प्रकार उस दुःख से आत्म-संतोष करलें तो मानसिक रोग की उत्पत्ति न हो। अपने हिस्से के दुःखको हमें भोगना अवश्य है। जिस दुःख से हम जान बचाते हैं उसे हमें मानसिक रोग के रूप में भोगना पड़ता है।

जान बूझ कर अपने आवेगों का (काम क्रोध आदि) दमन करना चरित्र गठन के लिये नितांत आवश्यक है। इस प्रकार का दमन आत्म-नियंत्रण कहलाता है। आत्म-नियंत्रण से इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है और मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है। मनुष्य के जीवन की सफलता उसके आत्म-नियंत्रण पर निर्भर करती है, अर्थात् वह अपने आवेगों को वश में रखने पर निर्भर करती है। अपने आपको रोकने की शक्ति बालक में नहीं होती पर जैसे जैसे वह

प्रौढ़त्व प्राप्त करता है उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती जाती है। जिस व्यक्ति में जितनी ही आत्म-नियंत्रण की शक्ति है उसे हम उतना ही विकसित व्यक्तित्व का व्यक्ति कह सकते हैं। पशु में आत्म-नियंत्रण की शक्ति बिलकुल नहीं होती। यह शक्ति मनुष्य में ही होती है। पहले पहल मनुष्य बाहरी भयवश आत्म-नियंत्रण सीखता है; बाद में वह आगे-पीछे का विचार कर अपने आवेगों को प्रकाशित करता है। फिर वह अपनी नैतिक बुद्धि के द्वारा ही आत्म-नियंत्रण करता है। उसे बाहरी भय इतना नहीं डराता जितना अपने आपका ही भय डराता है।

जिन लोगों को अपने मानसिक आवेगों को नियंत्रण में रखने की आदत नहीं रहती, जिनमें आत्म-संयम का भाव नहीं आता, उन्हें ही मानसिक रोग होते हैं। अतएव आत्म-नियंत्रण का अभाव ही मानसिक रोगों का कारण होता है। अधिक लाड़ में पले बालक और अधिक कठोरता में रहे बालकों में आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं आती, क्योंकि दोनों ही प्रकार के बालकों में वास्तविक नैतिक विचारों का विकास नहीं होता। ऐसे ही बालकों को मानसिक रोग आगे चलकर हो जाते हैं। उनके आवेग प्रबल होते जाते हैं और फिर जब उनका एकाएक दमन किसी भयवश अथवा आत्मग्लानि वश होता है तो आवेगों की शक्ति पुरोगामी न बनकर, अर्थात् नैसर्गिक तथा ऊँचे मार्ग से प्रकाशित न होकर, नीचे मार्ग से प्रकाशित होने लगती है। यह प्रतीक रूपसे प्रकाशित होती है। यही मानसिक रोग की अवस्था है। मानसिक रोग दबी मानसिक भावना के प्रतीक होते हैं और वे दबी भावना को व्यक्त करते हैं। यदि मानसिक आवेगों को पहले से ही अधिक उत्तेजित न किया जाय और बचपन से ही व्यक्ति में अपने आप पर अधिकार रखने की आदत डाली जाय तो मानसिक रोग की स्थिति ही उत्पन्न न हो।

प्रश्न २—जो व्यर्थ विचार वर्तमान काल में हमारे मनमें आते हैं उन्हें मन से अलग करना उचित है अथवा नहीं? क्या इन विचारों का अलग करना उनका दमन नहीं है और क्या इस प्रकार के दमन से मानसिक रोग नहीं हो जावेगा?

उत्तर—मनुष्य का पुरुषार्थ अपने विचारों के ऊपर नियंत्रण प्राप्त करने में है। स्वस्थ मनुष्य वह है जो उन्हीं विचारों को अपने मनमें स्थान देता है जिनका सम्बन्ध उसके हाथ में लिये काम से है। यही ध्यान की एकाग्रता है। ध्यान में सदा विचारों का चुनाव होता रहता है; जो विचार हाथ के काम की सफलता से सम्बन्ध रखते हैं उन्हें मनमें आने दिया जाता है, और जो इससे सम्बन्ध नहीं रखते उन्हें मनमें नहीं आने दिया जाता है। हमारी इस प्रकार की अवस्था मानसिक स्वास्थ्य और इच्छाशक्ति की दृढ़ता को दर्शाती है। इस प्रकार के ध्यान से इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है और विचार सुगठित होता है। जब मनुष्य का आरोग्य चला जाता है और उसकी इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है तो अपने विचारों पर उसका नियंत्रण नहीं रहता। वह एक काम हाथ में लिये रहता है और विचार दूसरे काम के विषय में आते हैं। ऐसे व्यक्ति के मनमें अनेक प्रकार के संशय, भय आदि उसकी इच्छा के विरुद्ध आते रहते हैं। अब यदि वह इस प्रकार के अकारण संशय, भय और निरर्थक विचारों को अपने मन से अलग कर सके तो अच्छा है। हम सभी को समय समय पर ऐसे विचार आते रहते हैं। जहाँ तक हम इनके हटाने में समर्थ होते हैं वहाँतक हम अपने जीवन में भी सफल होते हैं।

जब कोई विचार हमारे मन में बार बार आता है और हटाने से वह नहीं हटता तो वह किसी मानसिक ग्रन्थि का प्रतीक होता है। ऐसे विचार से लड़ने से हमारी इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। यदि इस प्रकार का विचार हम अलग करने में समर्थ हों तो अच्छा ही है। इससे मानसिक दृढ़ता आती है। परन्तु बार बार मनमें आने वाले विचार का सम्बन्ध प्रायः किसी दबे मानसिक आवेग से रहता है। अतएव जब तक दबे आवेग का उपयोग या रेचन नहीं हो जाता, तब तक विचार मन को नहीं छोड़ता। उसे बाहर निकालने के प्रयत्न से वह और भी हठ करके आता है।

प्रश्न ३—इच्छा के प्रतिकूल विचारों का आना कैसे रोका जा सकता है?

उत्तर—इच्छा के प्रतिकूल विचार मनुष्य की सामान्य अवस्था में आते

हैं और वे मानसिक रोग की अवस्था में भी आते हैं। साधारण अवस्था में जो विचार इच्छा के विरुद्ध आते हैं उन्हें अपने आप को किसी विशेष काम में लगा देने से रोका जा सकता है। कोई भी भले काम में अपने आपको लगा देनेसे इच्छाशक्ति दृढ़ होती है और इससे हममें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती है। यदि काम अपनी भावात्मक मनोवृत्तियों को तृप्त करे तो और भी अच्छा है। किसी प्रकार के प्रवल विचारों के पीछे कोई मानसिक आवेग अवरोध के अवस्था में रहता है। जब इस आवेग का उपयोग किसी रचनात्मक कार्य में होने लगता है तो ये प्रबल विचार शिथिल हो जाते हैं और फिर उनका नियंत्रण करना सरल हो जाता है।

बार बार आने वाले सामान्य विचारों का निरोध योगिक विधि से भी किया जा सकता है। व्यर्थ के विचार हिंसायुक्त, कामयुक्त अथवा लोभ युक्त होते हैं। ये मनोभाव कभी कभी प्रयक्ष होते हैं, परन्तु साधारणतः ये मनोभाव विचारों के नीचे छिपे रहते हैं। जिन विचारों को हम निरर्थक समझते हैं, उनका अर्थ होता है। वे किसी प्रकार की हमारी रागात्मक वृत्तियों को छिपे रूपसे प्रकाशित करते हैं, अर्थात् वे किसी अवरुद्ध इच्छा की वृत्ति के के प्रतीक होते हैं। यदि उनका अर्थ ठीक से समझ लिया जाय और उनका उचित उपचार किया जाय तो वे फिर न आवें। हिंसा के विचारों को मैत्री-भावना के अभ्यास से, काम को वैराग्य भाव से और लोभ को संसार की अनित्यता के विचार के अभ्यास से निराकरण किया जा सकता है। फिर सभी प्रकार के विचारों के ऊपर नियंत्रण आनापान सति के अभ्यास से किया जाता है। जो व्यक्ति नित्यप्रति अपने विचारों के प्रति जागरुक भाव रखता है, सदा उन्हें भलाई की ओर लेते जाता है अथवा जो निश्चित समय पर आनापान सति का अभ्यास करता है वह मानसिक रोग का भागी कदापि नहीं होता। मानसिक रोग इच्छाओं की प्रबलता से होता है। जब कोई मनुष्य संसार की अनित्यता पर विचार करते रहता है तो उसकी इच्छाओं की प्रबलता कम हो जाती है। वह जो कुछ मिले, मान अपमान आदि में समभाव और संतुष्ट रहता है। वह भविष्य के विषय में न अधिक चिन्ता करता और भूत काल की क्षति के लिये कोई दुःख मनाता है। इस

प्रकार उसके अनेक प्रकार के विचारों का अपने आपही निरोध हो जाता है।

परन्तु यह क्षमता और यह दृष्टि भी भारी मानसिक पुण्य का परिणाम होता है। इसके लिये प्रबल मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण आवश्यक है। जिस प्रकार उक्त अभ्यास नई ग्रन्थियों का बनना रोकते और पुरानी ग्रन्थियों को ढीला करते हैं, इसी प्रकार ग्रन्थियों का निराकरण भी उक्त अभ्यास को सरल कर देता है।

मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण उनकी खोज से तथा ग्रन्थियों की शक्ति का रेचन और नये रूप से प्रकाशन से होता है। मानसिक रोगों से भी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण होता है। जब मनुष्य दुःख भोग कर अपने पाप का क्षय कर डालता है, अर्थात् जब उसके दबे आवेग का ह्रास हो जाता है तो रोग भी अपने आपही चला जाता है।

इच्छाके विरुद्ध आने वाले विचारों को कभी कभी पूरे तरह आने की छूट देने से उनका निराकरण हो जाता है। जिस विचार के आने से हमें डर रहता है उसी विचार को बार बार मन में लाने से वह फिर नहीं आता। मन उससे ऊब जाता है और फिर उसे और नहीं चाहता। कोई भी विचार बार बार हमारे मन में इसलिये आता है कि हमारा आन्तरिक मन उसे चाहता है। जब मनुष्य का भीतरी मन किसी विचार का इच्छुक रहता है और बाहरी मन उसका विरोध करता है तो विचार प्रबल आवेग के साथ आता है। वह इच्छाशक्ति के साथ संघर्ष करता है और उसे परास्त करके फिर मन में बैठ जाता है। यदि विचार की जड़ अपने आन्तरिक मन में जानकर कोई शक्ति उसके आने पर प्रतिबंध न लगाये तो वह विचार उसके मन में न आवे। कोई अभद्र कल्पना इच्छाशक्ति के विरोध के कारण प्रबल होती है और उस विरोध के हट जाने पर निर्बल हो जाती है। जब इस प्रकार अभद्र कल्पना निर्बल हो जाय तो उसका कारण खोजना चाहिये।

प्रश्न ४—पहले कहा गया है कि विचार के रोकने से मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवान होती है और उसके रोकने से हार मानने से वह निर्बल होती है। फिर विचार को रोकने का ही प्रयत्न क्यों न करना चाहिये?

उत्तर—प्रयत्न वहीं तक किया जा सकता है जहाँ तक मनुष्य में योग्यता है। अपने से प्रबल शत्रु से लड़ना मूर्खता है। जब किसी लड़ाई में हार निश्चित ही हो तो ऐसी लड़ाई न लड़ना ही बुद्धिमानी है। मनुष्य जितनी बार आत्म-नियंत्रण में असफल होता है, उतनी बार वह आत्म-भर्त्सना करता है। इस प्रकार बार बार आत्मभर्त्सना करने से मनुष्य का आत्म-विश्वास चला जाता है और उसमें कायरता की मनोवृत्ति आ जाती है। ऐसे ही लोगों को अकारण भय, चिन्ता आदि सताते हैं। वे व्यवहारिक जगत में भी किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करने से घबड़ाते हैं। जब किसी प्रकार की परीक्षा का समय आता है तो वे भयभीत हो जाते हैं। अतएव प्रबल शत्रु के साथ लड़ाई न करना अपनी शक्ति को संचित रखने का उपाय है। जिस लड़ाई में मनुष्य विजयी होती है उससे उसका बल बढ़ता है और जिसमें वह हारता है उसमें उसकी शक्ति का ह्रास होता है।

किसी विचार का बल अधिक जान लेने पर उसकी आन्तरिक शक्ति की खोज करनी चाहिये। जब आन्तरिक शक्ति का बल घट जाता है तो अवांछनीय विचार का आवेग भी घट जाता है। जिस प्रकार किसी शत्रु से लड़ने में राज्याधिकारी शाम, दाम, दण्ड भेद सभी नीति से काम लेते हैं, उसी प्रकार अपने विचारों पर विजय प्राप्त करने में भी अनेक प्रकार के उपायों को काम में लाना पड़ता है। जिस विचार को सामने लड़कर नहीं जीता जा सकता उसके जीतने के लिये पहले विचार की शक्ति के श्रोत को खोजा जाता है। इस शक्ति के कम हो जाने से विचार विवेक के नियंत्रण में आ जाता है।

आत्म-नियंत्रण प्राप्त करना सरल वस्तु नहीं है इसके लिये केवल दमन का उपयोग करना अविवेक पूर्ण है। आत्म-नियंत्रण उतावलेपन से अथवा जिद् करने से प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार केवल मानसिक रोग की वृद्धि होती है। आत्म-नियंत्रण धीरे धीरे अपने आपको समझकर ही प्राप्त होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने स्वभाव को समझता है और अपने इस ज्ञान का आत्म-नियंत्रण में उपयोग करता है वह उतना ही अधिक आत्म-

नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ होता है । अपने आपको बिना जाने ही जो अपनी किसी दबी ग्रन्थि के साथ हठ करता है वह मानसिक रोगों की सृष्टि करता है ।

आत्म-नियंत्रण का कार्य वैसा ही कठिन है जैसा बाल शिक्षा का कार्य । हमारा एक सुशिक्षित मन है और एक बालमन । जिस प्रकार बालक को कभी उसको मनकी करने देने से, कभी उसे फुसलाने से, कभी डाँटने डपटने से और कभी उसका ध्यान किसी दूसरी ओर लगा देने से उसपर नियंत्रण प्राप्त होता है इसी प्रकार हमारे मन पर नियंत्रण अनेक उपायों को परिस्थिति के अनुसार काम में लाने से प्राप्त होता है । जिस प्रकार केवल दमन का उपयोग बालकों को या तो उद्दण्ड बना देता है अथवा उन्हें दब्बू और निकम्मा कर देता है उसी प्रकार केवल दण्ड के उपाय को काम में लाने से हमारा बाल-मन यातो शक्तिहीन हो जाता है अथवा वह हमारे काबू के बाहर हो जाता है । यह मन पर नियंत्रण प्राप्त करना नहीं है, वरन् उसे खोना है । इससे आत्म-विकास न होकर मानसिक रोगों की सृष्टि होती है ।

प्रश्न ५—क्या बिना मनोविश्लेषण के मानसिक रोगों का निराकरण हो सकता है ?

उत्तर— मानसिक रोगों का निराकरण मनोविश्लेषण के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी हो सकता है । जब कभी मानसिक शक्ति का उचित उपयोग होने लगता है तो मानसिक रोग का अन्त हो जाता है । जब कोई मनुष्य किसी काम में अपने आपको पूरी तरह से लगा देता है तो उसकी दबी शक्ति का सदुपयोग होने लगता है । दबी शक्ति का इस प्रकार शोध होता है । परन्तु पूर्णरूपेण मानसिक ग्रन्थि का निराकरण न होने के कारण वह व्यक्ति के सम्पूर्ण आत्म-विकास में बाधक अवश्य होती है । वह मनुष्य की रुचियों को विशेष ओर मोड़ देती है । जब मानसिक शक्ति का शोध नहीं होता तो मानसिक रोगों की वृद्धि होती है ।

मानसिक रोगों का निराकरण अपने आपको प्राकृतिक उपचार के ऊपर छोड़ देने से भी हो जाता है । जब तक मनुष्य मानसिक रोगों से मुक्त होने के लिये उद्विग्न मन रहता है तब तक उसका रोग बढ़ते ही जाता है । कई

दिनों तक मानसिक रोग से लड़ते लड़ते जब मनुष्य थक जाता है तो वह अपने आपको भाग्य पर छोड़ देता है। ऐसा करने से ही उसका रोग हलका हो जाता है। यदि उसके विचार इस समय आशावादी बन जायें तो उसका रोग शीघ्र ही अच्छा हो जाय। मानसिक रोगों की जड़ मनुष्य के अचेतन मनमें रहती है। यही मन उनके उपचार की विधि को भी जानता है। जब मनुष्य अचेतन मन से आई भावना का विरोध चेतन मनसे अर्थात् अपने अहँकार स्वत्व से करता है तो वह इस कार्य में असफल होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने आप पर विजय प्राप्त करने का अभिमान करता है उसे उतना ही अधिक अपने मानसिक रोग से परेशानी उठानी पड़ती है। जो अभिमान को त्याग देता है और अचेतन मनके विचारों को अचेतन प्रकृति पर ही नियंत्रण के लिये छोड़ देता है वह बाध्य विचारों से मुक्त होने में समर्थ होता है

चेतन मन से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का नियंत्रण मनुष्य का चेतन स्वत्व कर सकता है और अचेतन मन से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का नियंत्रण मनुष्य का अचेतन मन ही करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार मनुष्य के चेतन मनमें दो तत्व है—एक वैयक्तिक सुख सम्बन्धी और दूसरा नैतिक अर्थात् परार्थ भावना सम्बन्धी, इसी प्रकार मनुष्य के अचेतनमन में भी दो तत्व है—एक स्वार्थी भावनाओं और इच्छाओं से सम्बन्ध रखने वाला और दूसरा व्यापक सुख और शान्ति से सम्बन्धित। अचेतन मन की स्वार्थी भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का नियंत्रण मनुष्य की सामान्य चेतना से होना संभव नहीं। इसके लिये उसे अपनी अन्तः चेतना की शरण में जाना आवश्यक है। अपने आपको एक महान चेतना में विलीन कर देने की भावना मनमें लाने से, आगे पीछे के विचारों का अन्त करने के अभ्यास से सभी प्रकार के मानसिक रोगों का निराकरण होता है। जो व्यक्ति पहले से ही इस प्रकार का अभ्यास करता है उसे मानसिक रोग होता ही नहीं। उसकी चिन्तायें शक्तिहीन हो जाती हैं और अन्त में विलीन हो जाती हैं।

मनुष्य को चिन्ता इसलिये ही होती है कि वह अपने जीवन में

सम्बन्ध रखनेवाली किसी बात में किसी विशेष प्रकार की बुराई की आशा करता है। उसे विश्वास नहीं रहता कि वह स्वयं उस व्यापक तत्व का अंग है जो सारे संसार का संचालन कर रहा है और जो भला है। यदि कोई व्यक्ति इस भावना का सदा अभ्यास करता है कि जो कुछ होता है वह सब भले के लिये होता है तो उसे मानसिक उद्विग्नता न हो और उसके पुराने मानसिक उद्वेग शान्त हो जावें।

परन्तु यह भी सत्य है कि जब तक मनुष्य के मनमें प्रबल मानसिक ग्रन्थियां रहती हैं तब तक उसकी बुद्धि किसी बात पर स्थिर नहीं रहती, उसे न किसी सिद्धान्त में विश्वास होता है और न किसी व्यक्ति पर श्रद्धा होती है। उसका मन स्थिर नहीं रहता है। किसी एक व्यक्ति पर श्रद्धा होना, किसी एक सिद्धान्त में विश्वास हो जाना, किसी एक कार्यक्रम में लग जाना बड़े भाग्य की बात होती है। यह मानसिक ग्रन्थि के शिथिल हो जाने पर ही होता है।

प्रश्न नं० ६—मानसिक ग्रन्थि का निराकरण कैसे होता है। वह ग्रन्थि शिथिल कैसे होती है।

उत्तर—मानसिक ग्रन्थि किसी प्रकार के आवेग के अवरोध के कारण बन जाती है। अवरोध करने वाला विचार कोई नैतिक भय अथवा वाह्य दुःख का भय होता है। इस भय को हटा देने से अवरुद्ध मानसिक आवेग चेतना की सतह पर आ जाता है। इस भय को हटाने के लिये नैतिक दृष्टि से ऊंचे समझे जाने वाले व्यक्ति के प्रति आत्म-स्वीकृति करनी पड़ती है और उसके द्वारा आश्वासन पाने की आवश्यकता होती है कि वह नैतिकता में नीचे नहीं गिरा। जहां मानसिक ग्रन्थि का कारण शोक, अपमान के भाव आदि रहते हैं वहाँ सभी लोगों में अपने अपमान को बातों को कह देने से उनका निराकरण हो जाता है।

मानसिक ग्रन्थि की अवस्था में मनुष्य का मन अस्थिर रहता है। उसे दुःखही दुःख सूझता है। उसे न किसी सिद्धान्त में और न किसी व्यक्ति में विश्वास रहता है। उसके आवेग पुरोगामी न रहने के कारण वह किसी व्यक्ति को पूरेमन से प्रेम नहीं कर पाता। वह जिस व्यक्ति को प्रेम करने

लगता है उसी के बारे में थोड़े ही काल में सन्देह करने लगता है। ऐसे व्यक्ति में एक विशेष प्रकार प्रकार के विकृत अभिमान का भाव रहता है। वह सोचता है कि उसके रोग को कोई नहीं समझ सकता और उसे कोई अच्छा नहीं कर सकता है। इस भावना के कारण वह पूरे मन से अपने आपको किसी व्यक्ति के समक्ष खोलता भी नहीं। जिन बातों को वह मानसिक चिकित्सक के समक्ष कहता है उनके विषय में भी अभिमान उसे रहता है। यदि उसकी भूल नैतिकता सम्बन्धी हुई तो वह अपने अभिमान की पूर्ति के लिये ही दूसरों के समक्ष उसकी आत्म-स्वीकृति करता है। ऐसी आत्म-स्वीकृति से वह अपने आप किसी प्रकार की लज्जा की अनुभूति नहीं करता। उसका साधारणतः जीवन ऊँचे स्तर का होता है, अतएव अपने से नीचे स्तर पर रहने वाले व्यक्तियों से आत्म-स्वीकृति करने से वह उनका सम्मान ही प्राप्त करता है। इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति से कोई लाभ नहीं होता। ऐसी आत्म-स्वीकृति से लाभ होता है जिससे मनुष्य अपने मान के खो जाने की अनुभूति करता है। जिस मनुष्य के प्रति यह आत्मस्वीकृति की जाती है उसका ऊँचा माना जाना आवश्यक है। ऐसे मनुष्य के समक्ष आत्म-स्वीकृति करने से उसके प्रति रोगी की श्रद्धा बढ़ती है। इस प्रकार की श्रद्धा के परिणाम स्वरूप मनुष्य के विचार स्थिर होते हैं और उसे किसी विशेष प्रकार के सिद्धान्तों में विश्वास होने लगता है। किन्हीं सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास होने से मानसिक स्थिरता आती है और फिर मानसिक शैथिलीकरण का होना संभव होता है।

मनुष्य का मन स्थूल पदार्थों में स्थिरता प्राप्त करने के पश्चात् सूक्ष्म पदार्थों में स्थिरता प्राप्त करता है। मनोविश्लेषण के परिणाम स्वरूप एकाएक आवेग पहले पहल मनोविश्लेषक के ऊपर ही आरोपित हो जाते हैं। यह होना आवश्यक है। यह मनोविज्ञान में स्थानान्तरण की क्रिया (ट्रान्सफरेन्स) कहलाती है। मानसिक रोग की अवस्था में आवेग अवरुद्ध होने के कारण किसी पुराने विषय पर आश्रित रहता है। मान लीजिये कोई महिला किसी नवयुवक को अपनी किशोरावस्था में प्यार करती थी। उसके इस प्रेम का अवरोध किसी लज्जाजनक घटना के कारण हो गया।

अब वह अपने पुराने प्रेम को भूल गई। इसके बाद उसका विवाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो गया। इस व्यक्ति ने उसे पर्याप्त प्रेम दिखाया। दोनों अवस्था में उसके पुराने प्रेम की स्मृति दबी रह गई। उसकी कामवासना की शक्ति का प्रभाव भी अब नई ओर होने लगा। पर कुछ काल के बाद उसका अपने पति के प्रति झगड़ा हो जाता है। उसे इसके कारण चिन्ता होती है। उसकी चेतना पर इतना भार हो जाता है कि वह उसे असह्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसकी कामवासना अथवा मानसिक शक्ति का प्रवाह पुरोगामी न होकर प्रतिगामी हो जाता है। वह अपनी वर्तमान परिस्थिति को भूल जाती है। उसकी चेतना उसमें इतना दुःख देखती है कि वह इसे स्मरण नहीं रखना चाहती। अब पुरानी स्मृतियाँ प्रबल हो जाती हैं। पर ये उसकी सामान्य चेतना की सतह पर आ नहीं सकती। अतएव वह महिला अचेतन अवस्था में पुरानी स्मृतियों को दुहराने लगती है। वह उनकी पूरी अनुभूति अपनी अचेतन अवस्था में करती है। उसकी सामान्य अवस्था में उसके चेतन मनमें एक बात रहती है और उसके अचेतन मनमें दूसरी बात रहती है। वह अपने अनजाने ही बड़बड़ाया करती, है अथवा विशेष प्रकार की क्रियाओं का अभिनय करती रहती है।

अब यदि कोई मानसिक चिकित्सक इस महिला के प्रति पर्याप्त प्रेम दिखावे और उसे अपनी पुरानी स्मृतियों को चेतना के तरह पर लाने के लिये प्रोत्साहित करे तो पहले पहल दबा आवेग मानसिक चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है। अर्थात् यह महिला मानसिक चिकित्सक को उसी भाव के साथ प्रेम करने लगती है जिसके साथ वह अपने पुराने प्रेमी को प्यार करती थी। इस पुराने प्रेमी के प्रति अचेतन मनकी लगन टूटजाती है और मानसिक चिकित्सक के प्रति वह लगन आरोपित हो जाती है। यह क्रिया भावों के स्थानान्तरण की क्रिया कहलाती है। अब मानसिक चिकित्सक का काम है कि वह उचित पात्र के ऊपर इस आवेग को डालदे। यह काम धीरे धीरे होता है। जब मानसिक आवेग अचेतन मनसे चेतन मन पर आ जाता है तो उसका विवेक के नियंत्रण में होना संभव होता है। मानसिक चिकित्सक समझा बुझाकर महिला को अपने कर्तव्य के प्रति शिक्षित कर सकता है।

कभी कभी अवांछनीय आवेग का आरोपण मानसिक चिकित्सक के ऊपर हो जाता है। मान लिजिये किसी व्यक्ति को आत्म-ग्लानि की भावना त्रास दे रही है अथवा कोई व्यक्ति अपने भाग्य को कोस रहा है। जब वह मानसिक चिकित्सक के सम्पर्क में आता है तो कभी कभी उसके अपने आपको कोसने का भाव चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है। इस प्रकार वह अपने कल्याण कर्त्ता को ही द्वेष भाव से देखने लगता है। इस प्रकार के आरोपण से चिकित्सक को घबड़ाना न चाहिये। धैर्य और सावधानी के साथ उसका सामना करना चाहिये। दुःखी मनका व्यक्ति पहले पहल अपने साथी को दुःखी बनाकर अपने दुःखको कम करता है। जिन व्यक्ति की दूसरों के साथ लड़ने की भावना का दमन हुआ है वे अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति से अकारण ही लड़ने लगता है। अपने आपसे लड़ने वाला व्यक्ति अपने समीपस्थ व्यक्ति से लडने लगता है। जिस व्यक्ति में प्रबल आत्म-हीनता का भाव रहता है, वह अपने ही आस पास के लोगों में अनेक प्रकार के दोष देखने लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से उसकी मानसिक ग्रन्थि शिथिल होती है। अतएव यदि कोई मानसिक रोगी किसी कारणवश उसके कल्याण कर्ता से ही द्वेष करने लगे तो उसके चिकित्सक को अपना धैर्य खोना न चाहिये। इस प्रकार के द्वेष के प्रकाशन से भीतर का मानसिक दोष कम होता है।

प्रश्न ७. क्या मानसिक रोग बुरे मनोभावों को प्रगट करने से किसी प्रकार कम होते हैं।

बुरे मनोभाव पहले पहल अपने आसपास के लोगों पर आरोपित होते हैं। बुरे मनोभावों का व्यक्ति अपने आपको भाग्यहीन समझता है। वह अपना जीवन ही भाररूप मानता है। उसके मनमें अपने नजदीक के सम्बन्धियों के प्रति द्वेष बुद्धि रहती है। जब वह अपने बुरे विचारों को उनके प्रति प्रगट नहीं कर पाता तो वह अपने आपको ही कोसने लगता है। इससे उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी ऐसे व्यक्ति को मेलेन्कोलिया (विषाद) का रोग हो जाता है। यदि यह व्यक्ति अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति से लड़े झगड़े तो उनका

रोग कम हो जाता है। लेखक के अनुभव में दो ऐसे मानसिक रोगी आये जिन्हें अपने क्रोध के विचारों को प्रकाशित न करने का अवसर न मिलने के कारण मानसिक रोग हो गया था। इनमें एक विदुषी महिला थी और दूसरा एक नवयुवक। महिला को अपने देवर के प्रति बड़ा क्रोध था, पर वह इसे प्रकाशित नहीं करती थी। जब तक उसकी यह मानसिक स्थिति रही वह मेलेन्कोलिया से ही परेशान रही। उसके रोग के कम होने की अवस्था में एक दिन अपने देवर से उसकी बड़ी लड़ाई हुई। इसके पश्चात् उसका मानसिक रोग कम हो गया।

नवयुवक को हकलाने का रोग था। इसका कारण उसका अपने भाई के प्रति अप्रकाशित क्रोध का भाव था। इस रोगी ने लेखक से हकलाने से छुटकारा पाने की सलाह मांगी। इसके लिये उससे अपने पुराने जीवन की भावात्मक घटनाओं को लिखने को कहा गया। इसके अध्ययन से पता चला कि नवयुवक के मन में अपने पिता और भाई ही नहीं, वरन् पूरे समाज के प्रति बड़ा असंतोष का भाव है। इस प्रकार के लेख से रोगी को कुछ लाभ हुआ। रोगी को दूसरों की सेवा करने की सलाह दी गई। उसने इसे भी किया। परन्तु इसके करते करते उसकी एक अधिकारी से शत्रुता हो गई। उस अधिकारी के ऊपर उसके सभी दबे भावों का आरोपण हो गया। वह उनमें स्वार्थीपन। हृदय-हीनता और ढोंग देखने लगा। जब लेखक ने उसके विचारों को सुधारने की चेष्टा की तो वह लेखक से भी असंतुष्ट हो गया। अभी हाल में उसने असंतोष से भरा पत्र भेजा है। इस प्रकार उसके मनोभावों का आरोपण होना उसके रोग के लिये लाभप्रद है। अब वह अपने आपको दूसरों से भला समझने लगा है। रोगी के भावों में इस प्रकार परिवर्तन होना उसके मानसिक रोग के नष्ट होने लिये आवश्यक है। कभी कभी मानसिक रोगी के मित्र को उसकी सेवा करने के बदले में उसकी घृणा ही मिलती है। पर रोगी के कल्याण की दृष्टि से इस प्रकार भावों का आरोपण होना भला है। अपने आप झगड़ने अथवा घृणा करने से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, दूसरों से झगड़ने अथवा घृणा करने से मनुष्य संकट में अवश्य पड़ता है, परन्तु वह मानसिक रोगों की विषमता से बचा रहता है। अतएव मानसिक स्वास्थ लाभ करने की अवस्था

में रोगी का अपने नजदीक के व्यक्ति से ही किसी कारणवश झगड़ा हो जाता है।

प्रश्न ८—मनोविश्लेषण के अनुसार मानसिक रोगों का विनाश किसी मानसिक चिकित्सक के समक्ष आत्म-स्वीकृति करने से होता है। यदि ऐसा व्यक्ति समीप न हो तो क्या करना चाहिये। क्या अपने आपही पुरानी ग्रन्थि को मानस पटल पर लाने से रोग नष्ट न होगा?

मानसिक रोगों का प्रधान कारण अपने आपके दोषों को भुला देने की चेष्टा है। मानसिक रोग मनुष्य को बाध्य करके उन दोषों को स्वीकार कराते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको निर्दोष ही मानता है। उसे अपने आप में दोष तभी दिखाई देत , जब उसका दूसरा शुभचिन्तक उन्हें उसे बताता है। मनुष्य का सबसे भीतरी मन बड़ा सच्चा और न्यायप्रिय है, वह साक्षीरूप से अहंकारी मन की सभी बातों को देखता है। इस साक्षी मन से अपने आपका एकत्व स्थापित करना ही स्वास्थ है, अपनी अन्तरात्मा के आदेशानुसार अपने दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित करने से मानसिक ग्रन्थि और तज्जनित मानसिक रोग का निराकरण हो जाता है। परन्तु जिस मनुष्य के मन मे जितनी जटिल मानसिक ग्रन्थि होती है, वह अपनी अन्तरात्मा अथवा आदर्श स्वत्व से उतना ही दूर रहता है। उसका निरपेक्ष मन क्या चाहता है, इसका उसे ज्ञान ही नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में अपने आपको किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति समर्पित करना जिसे हम सच्चा और आदर्शवान समझते हैं, अच्छा है। ऐसे ही व्यक्ति के समक्ष अपने पुराने दुष्कृत्यों को बताना लाभदायक होता है। जब वह हमें भला मानने लगता है तो हमारी भीतरी मन भी क्रियाशील मन को भला मानने लगता है। इस प्रकार भीतरी और बाहरी मन में एकत्व स्थापित हो जाता है। जब रोगी चिकित्सक के प्रति श्रद्धा करता है और उसे आदर्शवान व्यक्ति समझता है और जब वह ऐसे व्यक्ति के समक्ष अपने आपको खोलता है और फिर जब चिकित्सक उसे आश्वासन दे देता है कि वह पवित्र है तभी रोगी में सच्चा आत्म-विश्वास आता है और उसकी मानसिक ग्रन्थि खुलती है।

मान लीजिये, कोई मनोवैज्ञानिक अपने चरित्र की न्यूनता के लिये विख्यात

है और रोगी की उसके प्रति कोई भी श्रद्धा नहीं है तो ऐसा व्यक्ति यदि रोगी के उन कामों को उचित बतावे जो रोगी ने अपनी बचपन की अवस्था में किये है और जिन्हें सामान्य जनता बुरा कहती है तो इससे मानसिक रोगों का नाश नहीं होता। मनुष्य अपने नैतिक और आदर्शमय स्वत्व की अवहेलना करके मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मानसिक आरोग्य इच्छायों और अहंकारी तथा नैतिक स्वत्व में एकत्व स्थापित करने होता है। जब मनुष्य अपने आदर्श स्वत्व को धोखा देने की चेष्टा करता है अर्थात् जब वह जैसा वह भोगेच्छुक भीतर से है उससे भिन्न अपने आप को प्रकाशित करता है तभी वह मानसिक रोगों का शिकार होता है। ये मानसिक रोग उसके आवरण को अलग करके भीतरी मानसिक स्थिति को प्रगट करते हैं। यदि कोई मनुष्य इनके अर्थ को पहचान कर अपनी मानसिक स्थिति को धीरे धीरे ऊँचा बनाने की चेष्टा करे तो उसे स्थायी मानसिक स्वास्थ्य लाभ हो जाय। परन्तु जो ब्यक्ति अपने आपको ही सबसे ऊँची नैतिकता का मान चुका है उसको दूसरे लोगों के समक्ष आत्म-स्वीकृति करने से लाभ नहीं होता। इससे वह जहाँ का तहाँ रह जाता है। इतना ही नहीं अपनी आत्म-स्वीकृति से उसे अपनी सत्यता पर गर्व होता है और वह अधिक अभिमानी बन जाता है जिससे उसकी मानसिक ग्रन्थि और भी जटिल हो जाती है। मानसिक आरोग्य की दृष्टि से उस व्यक्ति के समान कोई अभागा नहीं है जो अपने से ऊँचे नैतिक आदर्श का दूसरा कोई भी पुरुष संसार में नहीं देखता। ऐसे व्यक्ति की मानसिक जटिलता का निवारण होना असंभव है। ऐसे व्यक्ति का अन्त आत्म-विनाश में होता है। जिस व्यक्ति को रोगी अपने से ऊँचा मानता है उसके द्वारा वह अपने आदर्श स्वत्व से एकता स्थापित करने में समर्थ होता है। उसके द्वारा ही वह अपने आपको पहचानता है और अपना वास्तविक सुधार करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा ही मानसिक ग्रन्थियां खुलती है। जिसे रोगी अपने आपसे बड़ा मानता है। हां, रोगी का इस व्यक्ति की रोगी के साथ सदा उपस्थित रहना आवश्यक नहीं है। अपनी कल्पना में ही आदर्श व्यक्ति अथवा शुभचिन्तक का उपस्थित रहना पर्याप्त है।

प्रश्न-९—आत्म-समन्वय क्या है और वह कैसे स्थापित होता है ?

उत्तर—आत्मा-समन्वय मनुष्य के व्यक्तिगत, अहँकारी और आदर्श स्वत्व में एकता स्थापित होने से होता है। अहँकार की वृद्धि की अवस्था में मनुष्य अपने आप को पवित्र और महान् व्यक्ति मानता है। इसके कारण वह अपने आप में वर्तमान भोग-वासनाओं को स्वीकार नहीं करता। उसकी भोगवासनायें फिर रोग के रूप में प्रकाशित होने लगती है। भोग-वासनाओं का अवरोध और उनका विकृत मार्ग से प्रकाशित होना ही मानसिक रोग है। रोग की अवस्था में मनुष्य को उसकी भोगवासनाओं को वाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है। वह जितने जल्दी ही इस आत्म-स्वीकृति को करता है उतना ही उसके लिये भला है।

भोगवासनाओं को स्वीकार करने के पश्चात् रोगी को अपने आदर्श स्वत्व से भी एकत्व स्थापित करना पड़ता है। मानसिक भ्रान्तिवाला व्यक्ति भी बड़ा आदर्शवान होता है। परन्तु उसकी यह आदर्शवादिता केवल दिखावामात्र होती है। वास्तव में उसके आदर्श स्वत्व और अहँकारी स्वत्व में एकता नहीं रहती। अतएव वह सदा मानसिक अशान्ति की अवस्था में रहता है। जिस व्यक्ति को अपनी पवित्रता, आदर्शवादिता आदि में आत्म-विश्वास नहीं होता वह समाज में कुछ ऐसे काम को करने के लिये उद्विग्न मन रहता है जो सराहनीय समझे जाते हैं। उसकी आत्मा उससे असंतुष्ट रहती है। वह उसकी भर्त्सना करती रहती है। इसके कारण ही वह बाहरी सम्मान पाने की चेष्टा में लगा रहता है। जब उसे यह नहीं मिलता तो वह जीना भी नहीं चाहता। लौकिक असफलता से झूठी आदर्शवादिता का व्यक्ति ही दुःखी होता है, सच्ची आदर्शवादिता लौकिक असफलता के प्रति ढाल का काम करती है।

जब मनुष्य अपनी वास्तविक मानसिक परिस्थिति को पहचान लेता है तभी वह अपने आप में सुधार कर सकता है। इसके लिये उसे अपने सामर्थ और गुणों को पहचानना भी उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार अपने दोषों को पहचानना आवश्यक है। अपनी वासनाओं का पहचानने के पश्चात् उनकी शक्ति का मार्गान्तरीकरण अथवा शोध किया जा सकता है। इस प्रक्रिया से ही मानसिक एकीकरण होता है। इस प्रकार आत्म-समन्वय के लिये मनुष्य को

अपने दिखावेपन को दूर रखना आवश्यक है। उसे अपने अहँकार का विनाश करना पड़ता है। इससे कभी कभी वह समाज में अपना सम्मान खो देता है। पर झूठ पर आधारित सम्मान का त्याग करना आत्म-समन्वय के लिये नितांत आवश्यक है।

मान लीजिये, कोई व्यक्ति समझ गया है कि उसमें कामवासना बहुत ही प्रबल अवस्था में है और यही उसके रोग का कारण है। परन्तु संसार में वह व्यक्ति त्यागी, तपस्वी होने के लिये सम्मानित हो रहा है। जैसे जैसे उसका सम्मान बढ़ता है वैसे वैसे उसका मानसिक खिंचाव भी बढ़ता है, क्योंकि इस प्रकार के सम्मान से उसका अहँकार बढ़ता है और इससे वह अपने आप से दूर होता जाता है। यहाँ उसका रोग उसे सही मार्ग पर जाने का निर्देश देता है। जिस व्यक्ति की भोगेच्छा प्रबल है उसे पहले उन भोगों के उपार्जन में लगना चाहिये जिन्हें व्यक्ति का अचेतन मन अथवा भोगेच्छुक मन चाहता है। जब उसकी निम्नकोटि की इच्छाओं की तृप्ति होगी तभी उसमें सच्ची साधुता और दूसरों के प्रति सेवा भाव का उदय होगा। व्यक्तिगत इच्छाओं के विकास न होने की अवस्था में मनुष्य में वास्तविक ऊँची इच्छाओं का विकास नहीं होता। ऐसा व्यक्ति यदि अपने आप को समाज सेवा में लगाता है तो उससे भी उसका अचेतन मन व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

यदि मनुष्य अपना सच्चा आध्यात्मिक विकास चाहता है तो उसे अपनी निम्न कोटि की इच्छाओं की अवहेलना न करके उन्हें स्वीकार करना चाहिये। पीछे कर्म और ज्ञान के द्वारा उनसे ऊपर उठने की चेष्टा करनी चाहिये। कर्म का ध्येय भोगेच्छाओं की समुचित तृप्ति है। कर्म से उनका विकास भी होता है। इसके लिये कर्म के साथ साथ विवेक से भी काम लेते रहना पड़ता है। मनुष्य का विवेक धीरे धीरे कर्म के हेतुओं को ऊँचा उठाता जाता है, अर्थात् उन्हें परिष्कृत करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में ठोस नैतिकता और सच्ची आदर्शवादिता आती है। इनके आने के पूर्व मनुष्य का आचरण पहले से निम्न स्तर का हो जाता है। वास्तव में अब वह मिथ्याचारिता को त्याग कर वास्तविकता को स्वीकार करता है। बिना वास्तविकता के स्वीकार किये मनुष्य का जीवन सुखी और शान्त नहीं होता और

न उसका सच्चा आध्यात्मिक विकास ही होता है। वह अपने अहँकार में पड़ा रहता है जिसके कारण वह अन्तरात्मा की शक्ति और शान्ति से वंचित रहता है। ऐसे व्यक्ति को मानसिक रोग होना ही उसके लिये सबसे बड़ी भलाई है। अहँकार की वृद्धि न केवल अपने आपके लिये वरन् दूसरों के लिये भी घातक सिद्ध होती है। अहँकारी मनुष्य समाज की सेवा के लिये उद्विग्न मन रहता है। वह बड़े बड़े काम करता भी है। परन्तु इससे अन्त में समाज को लाभ न होकर हानि ही होती है। बिना अपने आपको जाने और आत्म-स्वीकृति किये, न तो हम अपने आपका और न दूसरों का कल्याण कर पाते हैं।

प्रश्न—१० हमारे अनैतिक अथवा निद्य विचारों के प्रति हमारा रुख कैसा रहना चाहिये ?

उत्तर—उन्हें हमें अपनी चेतना के स्तर पर आने देना चाहिये। उनकी प्रेरणाओं पर विचारों करना चाहिये, फिर जो उचित हो उसे करना चाहिये। जिन विचारों को जबरन दबा दिया जाता है वे अनेक प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न कर देते हैं। वे चेतना की सतह के नीचे चले जाते हैं, पर वहां वे शान्त नहीं रहते। वे रोग में परिणत हो जाते हैं। मानसिक बेचैनी तो उनके कारण बनी ही रहती है।

जिन विचारों के पीछे कोई आवेग कार्य करता है, वे दबाने पर दबते नहीं। ऐसे विचारों के दब जाने से अनर्थ होता है। यदि वे बार बार मन में आवें तो अच्छा ही है। ऐसे विचारों को सोच डालना चाहिये। कभी कभी उन विचारों की पूर्ति के लिये कार्य भी करना पड़ता है। मान लिजिये, जब कोई विद्यार्थी पढ़ने बैठता है तो उसे सिनामा देखने की प्रबल इच्छा होती है। वह इससे बहुत लड़ता है, पर उक्त इच्छा नहीं जाती। ऐसी स्थिति में सिनामा देखना ही अच्छा है। जिस भोग को त्याज्य समझ लिया जाता है उससे मन धीरे धीरे विरत हो जाता है। मन को किसी विचार से अलग करने के लिये केवल बौद्धिक वैराग्य पर्याप्त नहीं है, हृदय से उसके प्रति अनुराग चला जाना आवश्यक है। इसलिये किसी भी भोग वासना सम्बन्धी विचार का परित्याग धीरे

होता है। जब मनुष्य केवल बुद्धि की बातों को मानकर हृदय की भावनाओं अवहेलना करता है तो वह मानसिक रोग का भागी बन जाता है।

अतएव किसी भी अप्रिय विचार को एकाएक दाबना उचित नहीं। उसका समझने की चेष्टा करना आवश्यक है। बार बार आने वाला विचार घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। विचार एक कुत्ते के समान है जो अपने मालिक स बार बार जाता है। यदि वहां से उसे कोई उसे जबरन भगाना चाहे ह उसे काट लेगा। यदि मालिक ही उस स्थान से चला जाय तो कुत्ता आप ही उस स्थान को न आवेगा। इच्छा यहां मालिक है। विचार ा कुत्ता मा ा है। सच्ची लड़ाई तो इच्छा से करना है। इच्छा केवल क ज्ञान से नहीं जाती; उसके लिये भावात्मक अनुभवों की आवश्यकता है। इच्छा में धीरे धीरे ही विकास होता है। इसके लिये प्रयत्नशील आवश्यक है। केवल दमन से मनुष्य को मानसिक रोग होते हैं। इच्छा- है। यही शक्ति मनुष्य को वैयक्तिक सुख और सामर्थ्य प्रदान करती है यही मनुष्य को परोपकार में लगात ी है। इसके चले जाने पर संसारी ा के सभी खेल ही समाप्त हो जाते हैं।

अपने विचारों के प्रति हमारा वही दृष्टिकोण होना चाहिये जो दृष्टिकोण ा देश की राज सत्ता का वहां के नागरिकों के प्रति होता है। जनतंत्र- स्वतंत्र देश में प्रत्येक नागरिक को आत्म-प्रकाशन का अधिकार रहता ऐसे देश की पार्लियामेन्ट में विरोधी पक्ष को अपनी बात कहने का अवसर जाता है। इस प्रकार का आत्म-प्रकाशन का अवसर देने से देश में राज के विरुद्ध षड़यंत्र नहीं होते। यदि देशके सभी नागरिकों को आत्म ान का अवसर दिया जाय तो उन्हीं लोगों की बात चलती है जो अधिक धिक सभी के कल्याण के लिये बात कहते हैं। स्वार्थी और अविवेकी लोगों ाय प्रकाशित होने पर अपने आपही गिर जाती है। इसी तरह यदि अपने और बुरे दोनों प्रकार के विचारों को चेतना की सतह पर आने दिया ो उचित विचार ही मनुष्य की क्रिया में प्रकाशित होगें। अनुचित ों का बल प्रकाशित होने पर घटता है और उचित विचारों बल प्रका- होने पर बढ़ता है।

प्रश्न—११—मनुष्य की नैतिकता उसके मानसिक आरोग्य को बढ़ाती है अथवा घटाती है।

उत्तर—मनुष्य की नैतिकता उसकी इच्छा शक्ति को बलवती बनाती है। जिस मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती होती है उसे मानसिक रोग नहीं होते। मानसिक रोग मन की कमजोरी की अवस्था में ही होते हैं। जिन लोगों का अभ्यास इन्द्रिय सुखों की ओर दौड़ने का हो जाता है वे अपने मन को किसी प्रकार नहीं रोक पाते। ऐसे लोगों के मन में जब कोई अभद्र कल्पना आ जाती है तो वह उनके उसे निकालने के प्रयत्न करने पर भी मन से नहीं निकलती। विषय-लोलुपता से कमजोर हुए मन वाले व्यक्ति के जीवन में जब कोई प्रबल आवेगात्मक घटना घट जाती है। तो उसकी विषय परायणता एकाएक रुक जाती है। उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। पर इस प्रकार विषय के प्रति प्रीति नष्ट नहीं होती, उसका केवल अवरोध मात्र होता है। इस अवरोध के कारण ही मनुष्य को मानसिक रोग होते हैं।

विषयवासना के अवरोध की अवस्था में मनुष्य के मन के दो भाग हो जाते हैं। उसके मनका एक भाग दूसरे भाग का विरोधी होता है। ऐसी अवस्था में वह जैसा बाहर होता है भीतर उसके ठीक प्रतिकूल होता है।

प्रश्न १२—यदि नैतिकता की अवहेलना से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं तो क्या नैतिकता को बली बनाने से मानसिक रोग का विनाश होगा? और इसके लिये क्या अनैतिक भावनाओं के प्रति कड़ी दृष्टि रखना उचित न होगा?

उत्तर—नैतिकता की अवहेलना से ही मनुष्य को मानसिक रोग होते हैं—यह सत्य है। परन्तु मानसिक रोगी के नैतिक विचार भी बढ़े चढ़े रहते हैं। उसको नैतिक बनने उपदेश देना व्यर्थ होता है। साधारण मानसिक रोगी अपने आपको नैतिक दृष्टि से ऊँचा मानता है। परन्तु उसकी नैतिकता बाहरी आडंम्बर मात्र होती है। जैसा बाहर से वह रहता है भीतर से ठीक उसके विरुद्ध होता है। दिखाऊ नैतिकता ही मानसिक रोगों को उत्पन्न करती, ठोस नैतिकता से मनुष्य की इच्छाशक्ति दृढ़ होती है और उसके मानसिक रोगों का विनाश होता है।

जो मनुष्य अपने आपको महात्मा समझता है और जो संसार के दूसरे लोगों से किसी प्रकार अपने आपको विलक्षण बनाये है उसे अपने भीतरी मन को पहचानने की अधिक आवश्यकता है। इसके लिये दबे भोग-वासना सम्बन्धी विचारों को चेतना के स्तर पर आने देना चाहिये और उनका समन्वय उसकी ऊपरी नैतिकता से होना चाहिये । इससे मनुष्य की दिखाऊ अनैतिकता कम हो जावेगी, परन्तु उसकी वास्तविक नैतिकता का विकाश होगा।

प्रश्न १३—वास्तविक और दिखाऊ नैतिकता की पहचान क्या है ?

उत्तर—वास्तविक नैतिकता मनुष्य को गंभीर और शान्त बनाती है। जिस मनुष्य ने अपने समान ही सबको जान लिया है, जिसने भौतिक सुखों की कमी को भली प्रकार समझ लिया है वह इस बात की चिन्ता नहीं करता है कि दूसरे लोग उसके बारे में क्या कहते हैं। जिसके पास रत्न हैं वह कौड़ी की परवाह नहीं करता। ऐसे व्यक्ति के आचार व्यवहार सहज भावसे होते हैं। वे दूसरे लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं करते। वे सहज रूप से ही दूसरे लोगों को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति की नैतिकता दिखाऊ होती है वह अकेले रह जाने पर उद्विग्न मन हो जाता है। वह सदा ऐसे कामों में लगा रहता है जिसके कारण संसार के लोग सदा उसकी चर्चा करते रहें। वह दूसरों से अपने आपको ऊँचा सिद्ध करने की चेष्टा करते रहता है। उसे अभिमान रहता है कि मेरे समान नैतिक व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। जब तक ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा होती रहती है वह कुछ असा-धारण काम कर लेता है, जब उसकी निंदा होने लगती है तो वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है अथवा पागल हो जाता है। वास्तविक नैतिकता के व्यक्ति का दूसरों के आचरण प्रति उदार दृष्टिकोण होता है, उसकी आलोचनात्मक मनोवृत्ति नहीं होती, दिखाऊ नैतिकता का व्यक्ति दूसरों के दोषों की खोज करते रहता है वह उनकी कटु आलोचना भी करता है।

प्रश्न—१४—वास्तविक नैतिकता कैसे प्राप्त की जाती है।

उत्तर—वास्तविक नैतिकता का विकास मनुष्य में धीरे धीरे होता है।

इस प्रकार की नैतिकता का प्रारंभ आवेगात्मक घटना से नहीं होता। जब मनुष्य की निम्न स्तर की इच्छायें तृप्त हो जाती हैं तो स्वभावतः उसमें ऊँचे स्तर की इन्छाओं का विकास होता है। जिस प्रकार वह अपने सुखों के लिये लालायित रहता है वह दूसरों के सुखों के लिये भी उसी प्रकार यत्न करने लगता है। फिर उनके सुख में ही वह अपने सुख को देखने लगता है। जब एक लड़की किशोरावस्था में रहती है तो वह अपने ही खाने पीने और पहनने ओढ़ने की इच्छा करती है, परन्तु जब वह कुछ बच्चों की माता बन जाती है तो उसे अपनी भूख इतना नहीं सताती जितना अपने बच्चों की भूख उसे सताती है और अपने शरीर के श्रंगार से उसे उतना आनन्द नहीं मिलता जितना बच्चों के श्रंगार से मिलता है। इस प्रकार का मानसिक विकास स्वाभाविक बात है। इसी प्रकार के मानसिक विकास की दृढ़ भित्ति पर सच्ची नैतिकता ठहरती है। ठोस नैतिकता के व्यक्ति को इन्द्रिय सुख से मन को अलग करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सहज भाव से ही उसका मन बौद्धिक और आध्यात्मिक सुख की ओर जाता है। उसके काम सहज भाव से होते हैं और उनसे दूसरों का कल्याण अपने आप ही हो जाता है। उसे इस प्रकार के काम करने में अभिमान भी नहीं होता।

ठोस नैतिकता की वृद्धि ज्ञान और विवेक की वृद्धि के साथ साथ होती है। जैसे जैसे मनुष्य ऊँचे मूल्यों की पहचान करता जाता है उसका मन नीचे मूल्यों से अलग होता जाता है। नैतिक मूल्य ऊँचे हैं। इन्हें पहचानने पर मनुष्य सहज भाव से ही इनकी ओर जाता है। कभी कभी मनुष्य का पुराना अभ्यास उसे अपने मन को ऊँचे स्तर पर ले जाने में बाधा डालता है। इसके निराकरण के लिये उसे प्रति-अभ्यास करना पड़ता है, अर्थात् उसे जानबूझ कर कुछ तप और त्याग करने पड़ते है। इससे मनुष्य में आत्मनियंत्रण की शक्ति आ जाती है।

प्रश्न १५—आत्म-नियंत्रण के सरल उपाय क्या हैं?

उत्तर—आत्म-नियंत्रण के लिये पहले अपने आपको जानना अर्थात् अपनी गुप्त वासनाओं को पहचानना आवश्यक है। फिर ऊँचे मूल्यों की पहचान करना आवश्यक है। ऊँचे मूल्यों के पहचानने से मनुष्य

में आदर्शों का विकास होता है। इसके बाद इन आदर्शों को प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिये व्रत, उपवास, दान और नियमित रूपसे रचनात्मक कार्य में लगे रहना आवश्यक होता है। परन्तु अपने विचारों को नकारात्मक न बना कर सदा उन्हें रचनात्मक बनाना चाहिये। अर्थात् वही व्यक्ति आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में सफल होता है जो अपनी शक्ति मानसिक अन्तरर्द्वन्द्व में खर्च न करके रचनात्मक कार्यों में ही उसे खर्च करता है। लम्बे लम्बे उपवास करना, विलक्षण व्रत करना, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने वाले दान करना मनुष्य में अभिमान की वृद्धि करते हैं। इनसे मनुष्य में सच्चा आत्म-नियंत्रण नहीं आता। अपने पुरुषार्थ के परे काम करने की योजना बनाना मनुष्य में मिथ्याचारिता लाता है। ऐसे व्यक्ति के विचार किसी समय भी ध्वंसात्मक हो जाते हैं और फिर वह अपने आप का ही विनाश कर लेता है। सम्यक् भावसे सभी काम करना लाभदायक है। "समत्वम् योग उच्यते" विषमता का त्याग करना ही कल्याण-पथ है। इसी को बुद्ध भगवान् और कृष्ण भगवान् ने दर्शाया है।

——— ——

मानसिक रोगियों की आत्म-कथाएँ

मानसिक रोग के निराकरण में रोगी के द्वारा अपनी आत्मकथा लिखाना बहुत लाभकारी होता है। मानसिक चिकित्सा का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य जितना ही अपने आपको दूसरों के समक्ष खोलता है वह अपने आपको उतना ही अधिक स्वस्थ बनाता है। दूसरों के समक्ष अपने आपको खोलना अपने आपको जानने का साधन है। अतएव जब कोई मानसिक रोगी अपनी आत्म—कथा चिकित्सक के पढ़ने के लिए लिखता है तो वह न केवल अपने गुप्त भावों को चिकित्सक को बताता है, वरन् वह अपने आप को भी जानता है। अपने आपको इस प्रकार जान लेने से मनुष्य अपने भावों का भली प्रकार से नियंत्रण भी कर सकता है।

अपनी आत्म-कथा लिखने का एक दूसरा उद्देश्य दबे भावों का रेचन है। अतएव मानसिक चिकित्सा के उद्देश्य से लिखी गई आत्म-कथायें साधारण आत्मकथाओं से भिन्न होती हैं। साधारण आत्म-कथायें अपनी सफलता और सुख की बातों से भरी रहती हैं। उनमें साधारणतः ऐसी बातें लिखी रहती हैं जिनके बारे में सोचने से लेखक को आह्लाद अथवा आत्म-संतोष होता है। उनमें कही गई बातें या तो दूसरे लोगों की शिक्षा के लिए लिखी जाती हैं अथवा उनसे प्रशंसा पाने के लिये। इस प्रकार मनुष्य अपने व्यक्तित्व की महानता का प्रचार करता है।

मानसिक रोगियों की आत्म-कथायें दूसरे ही प्रकार की होती हैं। उनमें कही गई बातों पर चिन्तन करने से लेखक को सुख और संतोष न होकर प्रायः दुःख और आत्मग्लानि होती है। वास्तवमें इनको चेतना के स्तर पर लाने के लिए ही ऐसी आत्म कथायें लिखी जाती हैं। साधारणतः ये आत्म-कथायें प्रकाशित करने योग्य नहीं होती। इनकी बातें उनके लेखक के नाम के साथ साथ प्रकाशित होने से लेखक की कीर्ति की अथवा धन सम्पत्ति की क्षति हो सकती है। उनमें कही गई बातों से दूसरों को कोई शिक्षा नहीं मिलती और न उनसे जनता में लेखक का सम्मान बढ़ता है। चोरी, दगाबाजी, व्यभिचार, कायरता, निर्दयता

के कृत्य आदि बातों से ये आत्म-कथायें भरी रहती हैं। अनेक प्रकार के निंद्य भाव इनमें चित्रित पाये जाते हैं। इन भावों को साधारणतः रोगी भुला देना चाहता है। रोग उसे इस लिए ही होता है। जब वह जान बूझकर इन अप्रिय भावों को चेतना की सतह पर लाता है तो उसका रोग हलका हो जाता है।

मानसिक रोगों के उपचार की दृष्टि से रोगी की आत्मकथा बौद्धिक न होकर भावात्मक होना चाहिए। बुद्धि के व्यापार में मनुष्य के भावों का दमन होता है। इससे उसके आत्म-समन्वयमें सहायता न मिलकर रुकावट ही होती है। अतएव मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये लिखी गई आत्म-कथा में मन में जो विचार आवे उसे जैसा का तैसा लिखना चाहिए। इस प्रकार के विचार कभी कभी मूर्खतापूर्ण दिखाई देते हैं, परन्तु उन्हें भी लिखने से रोकना न चाहिए। बहुतसे अवांछनीय मनोभाव जो मानसिक ग्रन्थियों का रूप ले लेते हैं लिखने मात्र से नष्ट हो जाते हैं।

कितने ही दबे हुए भाव अपने मित्र को पत्र लिखने से निकल जाते हैं। मानसिक चिकित्सक को लिखे गये पत्र स्वयं मानसिक चिकित्सा हैं। लेखक के पास अनेक मानसिक रोगियों के पत्र सदा आते रहते हैं। इनमें से कुछ अपनी बहुत सी कमजोरियों को स्वीकार करते हैं और अपने जीवन में होने वाली आत्मग्लानि जनक घटनाओं का वर्णन करते हैं। इस प्रकार के पत्रों के लिखने को प्रोत्साहित करना मानसिक चिकित्सा का अंग है। कोई कोई मानसिक रोगी तीस तीस पृष्ठ के पत्र लिखते हैं। इससे वे एक ओर अपने दबे मनोभावों का प्रकाशन करके उनका रेचन करते हैं और दूसरी ओर मानसिक चिकित्सक से घनिष्टता स्थापित करते हैं। मानसिक चिकित्सक से रोगी की जितनी घनिष्टता होती है रोगी को उतना ही लाभ होता है। इस प्रकार की घनिष्टता से चिकित्सक का रोगी के अचेतन मन पर कुछ अधिकार हो जाता है, जिसके कारण चिकित्सक के शुभ निर्देश रोगी के मन में अपना स्थायी प्रभाव डालने लगते हैं। जितना ही हम किसी व्यक्ति के जीवन के बारे में अधिक जानते हैं और उसकी गुप्त बातों को सुनते हैं हम उसके हृदय पर उतना ही अधिक प्रभाव जमा लेते हैं। फिर हमारी उसे आरोग्य प्रदान करने की शक्ति बढ़ जाती है। रोगी के हृदय पर अधिकार प्राप्त किये बिना, उसका प्रेम पात्र बने बिना उसकी

सफल चिकित्सा करना संभव नहीं। इसके लिये रोगी से लम्बे लम्बे पत्र व्यवहार करना, उससे अपनी आत्म-कथा लिखाना और उसे सावधानी से पढ़ना नितांत आवश्यक है।

इस प्रकार के पत्र अथवा आत्म-कथा का लिखना स्वस्थ व्यक्ति के लिये भी आवश्यक है। उसके दबे भाव इस तरह प्रकाशित होकर शान्त हो जाते हैं। जोशुआ लोथ लीब मेन ने अपनी "पीसआफ माइन्ड" नामक पुस्तक में कहा है कि यदि किसी मनुष्य को क्रोध का आवेश आ जाय तो उसे न दबा कर कल्पित पत्र में उसे प्रकाशित करना भला है। कुछ लोग इस प्रकार के पत्र लिख कर फाड़ देते हैं इससे उनका क्रोध शान्त हो जाता है।

अपने दबे मनो भावों का लिखना न केवल उन्हें दूसरों को जताने की दृष्टि से भला है, वरन् आत्म-विश्लेषण की दृष्टि से भी भला है। चार्ल्स करसे महाशय ने अपनी "प्रेक्टिकल मैथड आफ सेल्फ एनालैसिस" नामक पुस्तक में इस प्रकार अभद्र भावों को लिख डालने को उपयोगिता दर्शायी है। जिस प्रकार मानसिक रोगी अपने मनोविश्लेषण के लिए किसी मानसिक चिकित्सक के पास जाता है और बँधे समय में प्रति दिन उससे बातचीत करता है इसी प्रकार उसे बँधे समय पर अपने आपको दूसरों से अलग करके आत्म-विश्लेषण में लग जाना चाहिए। इसके लिये लिखने की सहायता लेना अच्छा है। भगवान् बुद्ध इस प्रकार का आत्म-विश्लेषण प्रति दिन करते थे और योगिराज पातञ्जलि ने इस प्रकार के आत्म-विश्लेषण की उपयोगिता दर्शायी है। अपने ही विचारों को साक्षीभाव से देखते रहने से मन के दबे भावो का रेचन हो जाता है। यदि मस्तिष्क में आये हुए विचारों को जल्दी जल्दी लिखा जाय तो बड़ा लाभ हो। इस प्रकार के लिखने से न केवल दबे भावों का रेचन हो जाता है, वरन् मनुष्य आपने अपको भली प्रकार समझ भी लेता है। इससे वह अपनी पुनःशिक्षा कर सकता है। वह अपने दृष्टिकोण का परिवर्तन करके अपना आत्म-निर्माण कर सकता है।

इस तरह के आत्म प्रकाशन का एक लाभ यह है कि मनुष्य पूर्ण सच्चाई और बिना हिचक के अपने जीवन की सभी भली और बुरी बातों को प्रकाशित कर देता है। जो व्यक्ति अपने आपको सुधारना चाहता है, उसे इस प्रकार

अपने आपको मानना नितांत आवश्यक है। मनुष्य के दूषित भाव ही उसे दुःखी बनाते हैं। वह स्वयं इन्हें नहीं मानता। वह इन्हें साधारणतः भुलाने का ही प्रयत्न करते रहता है। यदि वह इन्हें मानने का प्रयत्न करने लगे तो धीरे धीरे वे ज्ञात हो जावें और वह अपनी मानसिक ग्रन्थि को अपने आप सुलझाने में ही समर्थ हो। अपने दबे विचारोंको न जानने के कारण जो भाव हमारे नियंत्रण के बाहर रहते हैं और हमें दुःख देते हैं, वही जान लेने पर हमारे काबू में आ जाते हैं और हमारी मानसिक शक्ति को बढ़ाते तथा हमारे जीवन को सुखी बनाते हैं।

यहाँ पर हम मानसिक रोगियों को आत्म-कथाओं के कुछ उद्धरण देते हैं जिससे मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से लिखी गई आत्म-कथाओं के स्वरूप और प्रकार पर प्रकाश पड़ता है। इन आत्म-कथाओं का लिखवाना उनके रोग के उपचार का अंग था। अब ये रोगी स्वस्थ हैं और रचनात्मक कार्य में लगे हैं।

नपुंसकता और क्षय के भय से त्रस्त रोगियों की आत्म-कथायें—

(१) 'मूलो नास्ति कुतो शाखा' वाली संस्कृतउक्ति मुझपर पूर्णतः चरितार्थ होती है। मैं अपनी वर्तमान मानसिक विषमता और त्रुटियों की जड़ खोजने के प्रयास में अपने जीवन-तरु के बीजारोपण के मुहूर्तों की ओर मुड़ता हूँ।

मेरी स्वर्गीया माताजी का जीवन बड़ी दयनीय स्थिति में व्यतीत हुआ। १५ वर्ष में उनकी शादी हुई। उन पन्द्रह वर्षों में उन्हें अपने मैके की आर्थिक विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा। उन्हें आर्थिक सुविधायें प्राप्त न थीं। हमारे घर भी उनका पन्द्रह वर्ष देहात में बीता जहाँ मेरा जन्म हुआ। मेरे परिवार में मेरे एक चचा हैं। मेरे जन्म के समय मेरा और उनका परिवार सम्मिलित था। मेरे जन्म के समय भी मेरे घर की स्थिति कुछ विचित्र ही रही और जिस का मैं बुरी तरह शिकार बना। मेरे जन्म के समय मेरे पिताजी मेरे चचा के सहयोगी किरानी (नायब) के रूप में रहते थे। चचाजी आवश्यकताभर कमा लेते थे। भले ही उनका भाग्य सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। मेरी चाचीजी बड़े दुष्टस्वभाव की और एक

कर्कशा नारी हैं। सारा गाँव उन्हें बुरा मानता है। मेरे जन्म के पूर्व उन्हें चार बच्चे हो चुके थे। मेरी माताजी चाची की प्रबल शठता और क्रोध का पूर्णतः शिकार बनी रही। उन्हें मेरे जन्मस्थान के चन्द वर्षों के जीवन में बड़े कष्टों, वेदनाओं, अत्याचारों का सामना करना पड़ा। उनके कष्टों की भीषणता को दूसरा, भुक्तभोगी के सिवाय कौन समझ सकता है। मेरी माताजी आवश्यकता से अधिक सीधी थीं। अतः चाची की झिड़कियों, गालियों, और मर्मान्तक वाक्यों को सहन करना ही पड़ता था। इन सब ने मेरे जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया है।

उस समय माताजी बड़ी सन्तप्तावस्था में थीं। मेरे पूर्व एक मेरी बहन पैदा हुई थी। जिसकी मृत्यु चाची के अत्याचारों के फलस्वरूप हो चुकी थी और दूसरा अभागा मैं था। मेरे गर्भकाल में माताजी सर्वदा रोती रहती थी उन्हें खाने को कभी स्वच्छ और ताजा भोजन नहीं मिलता था मन में शान्ति नहीं थी। आर्थिक, मानसिक, सभी प्रकार की सुविधाओं से वंचित रहना पड़ा था। इसका एकमात्र हेतु मेरी चाची की कुटिल नीति रही। अस्तु। मेरे जन्म के कुछ दिन पहले माताजी बीमार हो गईं और उनका शरीर भी श्रमाधिक्य के कारण फूल गया था। भाग्य की देन कहें चाची ने पिताजी से माताजी की (प्रसव काल की) सेवा करने से इन्कार कर दिया। उनके विरुद्ध गाँव का कोई भी व्यक्ति माताजी की सेवा को तैयार नहीं था। खैर किसी तरह एक महिला जो विधवा और मेरी दूर की चाची लगती थी तैयार हुई, क्योंकि वे ही एक महिला थीं जो चाची से नहीं डरती थी। मेरा जन्म हुआ। लोगों से ज्ञात हुआ है (मेरी वर्तमान अवस्था ने मुझे इन विषयों में अधिक रुचि प्रदान की है) मैं जन्म के समय अत्यधिक कृशकाय और दुर्बल था। यहाँतक कि मैं पैदा होने के दिन पेटभर रोया। मेरा मस्तक ही एक ठोस पदार्थ दीखता था नहीं तो और सारे अङ्ग सूखे और अत्यन्त कृश थे। मुझे दूध रूई के फाहे से पिलाया जाता था जो कि मेरी दुर्बलता का प्रत्यक्ष और एक हास्यास्पद प्रमाण है। माताजी को दूध नहीं होता था अतः मुझे गोदुग्ध पर ही जीवन के लिए निर्भर करना करना पड़ता था। चार महीने तो मेरी दूसरी चाची के यहाँ अच्छी सेवा

हुई पर फिर चार महीने के बाद मैं अपने ही घर में चला आया। फिर वही कुटिलतापूर्ण वितण्डावाद। नियति का परुष विधान मुझे सहन करना पड़ा है।

६ वर्षतक मैं वहीं (देहात में) रहा। इस बीच दुर्बल तो मैं था ही' मुझे शारीरिक रोग भी सताने लगे। घाव, खुजली, बुखार और सन्निपात ये ही तो मेरे बचपन से साथी रहे। दो चार बड़े बड़े घावों का एक ही वर्ष की अवस्था में 'आपरेशन' हुआ। कई बार जोकें भी लगायी गयीं। मेरी रुग्णावस्था में भी गड़बड़ी रही। गोदुग्ध मुझे मिलता तो था पर आवश्यक परिमाण में स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं। जब मेरा अन्नप्राशन संस्कार हुआ तो अन्नप्राप्ति की भी वही दुरावस्था थी। खेद, नियति का चक्र चलता गया और मैं अपनी जीवन सरणी पर चढ़ता गया। इस सम्बन्ध में पिताजी चाहते तो विद्रोह कर सकते थे पर वे भी थे बड़े अग्रजभक्त और आज्ञापालक।

इसी बीच पिताजी की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। क्योंकि उन्होंने कुछ दिन तक दीवान रहने के उपरान्त अपने मालिक के यहाँ उन्हीं के पास "कारपरदाज़" की पदवी पाई। आर्थिक अवस्था पर्याप्त अच्छी हुई।

खैर न जाने कैसी क्रान्तिकारी मनोभावनाओं ने पिताजी को उत्साहित किया और वे अपना डेरा शहर में अपने पास ही ले आये। माताजी के उक्त पन्द्रह वर्ष इतनी दुरावस्था में बीते थे कि वे अत्यधिक श्रम के कारण बीमार रहने लगीं उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया। इन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता और सुविधा तो मिली पर शारीरिक ह्रास के मूल्यपर—बड़ा महँगा दाम चुकाना पड़ा था उन्हें इसके लिये। उन की जीवनीशक्ति नष्ट हो चुकी थी। अब इनका रुग्णावस्था का युग प्रारम्भ हुआ।

चाची का अत्याचार अभी भी कम नहीं था। वे शहर भी आकर तंग किया करती थीं और रुपये झूँसा करती थीं। खैर माताजी के जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ भले ही यह अधिक कष्टकर और भीषणतर था। मेरा भी एक नया युग ही समझिये।

हाँ तो यहाँ मेरा शैक्षणिक विकास आरम्भ हुआ। पिताजी ने अपनी बुद्धि के अनुसार मेरे विकास के सारे साधन जुटा दिये पर जड़ तो सूख चुकी थी

पत्तों के सिंचन से क्या लाभ। पिताजी मनोवैज्ञानिक तो थे नहीं। साधारण बालकों की तरह मेरा भी पोषण हुआ। पर वस्तुतः मैं साधारण नहीं असाधारण बालक था—बड़ा त्रसित और व्यथित।

खेल में मेरी विशेष रुचि न थी। मेरे जीवन में खेल का बहुत थोड़ा स्थान रहा। खेल से सम्बन्धित रचनात्मक आनन्द की प्राप्ति मुझे नहीं हुई। कुछ साथी मिले उन के साथ खेला कुछ तो जरूर पर आवश्यकतानुसारन हीं।

बचपन से ही मैं बड़ा भीरु और डरपोक था। कोई भी जटिल परिस्थिति आने पर मैं घबरा जाता था। मेरे मन में और शरीर में न जाने कैसी शिथिलता कीप्रतिक्रिया होने लगती थी। मैं बड़ा दुर्बल और कृश तो था ही। साधारणबालकों से भी पिट जाया करता था। थोड़ी सी विषम परिस्थिति आई और मैं विफल हुआ तथा आवश्यकता से अधिक निराश और हतोत्साहित हो जाया करता था। विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर आवश्यकता से अधिक घबरा जाना मुझमें अभी भी वर्तमान है, इतना बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने पर भी।

मुझमें सामाजिकता का विकास पर्याप्तरूप में न हुआ। मैं नये लोगों के सामने अधिक झेंपता था। मैं हिम्मत ही नहीं कर सकता था। कुछ दिन घरपर पढ़ने के उपरान्त मैं स्कूल का विद्यार्थी बना। यहाँ भी मैं पूरा भोंदू और असामाजिक बना रहा। क्लास में न किसी से बोलना न चालना। न क्लास के सहपाठियों के साथ खेलकूद में भाग लेना। चुपचाप अशान्त स्थिति में टुकुर-टुकुर ताकता रह जाना। उसपर बुरा तो यह कि घर में मैं अधिक क्रोधी था। माताजी पर मैं अधिक क्रुद्ध हो जाया करता था। असामाजिक होने के कारण मुझे अपनी बाल्यावस्था में अपने साथियों से एवं शिक्षकों से काफी डाँटफटकार सुननी पड़ी। मेरी इच्छाओं का अत्यधिक दमन हुआ। मेरा चित्त सर्वदा भीतर से अशान्त रहा करता था। यह मुझे भलीभाँति याद है।

खैर इस तरह १० वर्ष बीते। १० वर्ष की अवस्था में हाईस्कूल में नाम लिखा दिया गया। फिर भी पुरानी सारी बातें जैसी की तैसी रहीं। बल्कि भीरु-णता और जटिलता कुछ और बढ़ गई। वर्ग के बहुत थोड़े से लोग ही मुझे

जानते थे। क्योंकि मैं तो सर्वथा असामाजिक था और एक कोने में सटा सबों से अलग एकान्तचिन्तना में व्यस्त रहा करता था।

पढ़ने में मैं भोंदू नहीं था। सभी परीक्षाओं में बिल्कुल अच्छे तो नहीं पर साधारण अच्छे नम्बर आया करते थे। घरपर मैं बहुतसी पुस्तकों विशेषतः 'बालसखा' जमकर पढ़ा करता था। कुछ दिन के बाद 'कल्याण' पढ़ने लगा जिससे मुझे कुछ आलोक मिला।

इस सम्बन्ध में दो एक बातें उल्लेखनीय हैं जो कि बड़ी हास्यास्पद हैं। क्लास में मैं आवश्यकता से बहुत ज्यादा संकोचशील और लजाऊ था। शिक्षकों के प्रश्न पूछे जाने पर निर्वाक् खड़ा रह जाया करता था। सच तो यह कि मैं ऐसी परिस्थितियों से अपने को बचाने में सतत प्रयत्नशील रहा करता था। शिक्षक पास में आते तो मैं छिपने की अधिक चेष्टा करता। भय तो रहता कि कहीं शिक्षक मुझसे न पूछ लें।

जोर में पेशाब और पाखाना की हाजत मालूम होने पर भी संकोचाधिक्य के कारण मैं उसे रोक कर बैठा रह जाता था। बड़ी मजेदार बात तो यह है कि कई बार लगभग ५-६ बार तो अवश्य पाखाना रोके रहने के कारण क्लास के बाहर, कभी पाखाना जाने के रास्ते में, तो कभी घर जाने के रास्ते में पैंट में भी पाखाना हो गया था। डर था कभी क्लास में न हो जाय नहीं तो शायद आत्म ग्लानि से मेरीं स्थिति और भी दुस्तर हो जाती।

देहात में जब कभी मैं जाता तो अधिक लोगों से मिलता जुलता नहीं लोगों के घर जाने में मैं अधिक शरमाता था।

इसी अवस्था में एक दो रचनात्मक शक्तियों का मुझमें विकास हो सका था। मेरा यहाँ दुर्गापूजा के अवसर पर ड्रामा होता था। मेरे पिताजी दुर्गाजी घर पर बनवाया करते हैं। मैं बचपन से ही ड्रामा में भाग लिया करता था। मन में तो मैं अपने को एक अच्छा अभिनेता समझता था पर स्टेज पर जाने पर अधिक नरभस हो जाया करता था। अतः अपना अभिनय-कौशल पूर्णतया न दिखा सकता था। मैंने जितनी भी गलती कीं अथवा मुझमें जितनी भी त्रुटियाँ थीं मैं सभी की आत्म-स्वीकृति कर लिया करता था; बल्कि मैं आवश्यकता से अधिक निराशावादी था।

मेरे स्कूल जीवन के अन्तिम दिनों में मेरा सौभाग्य सूर्य उदित हुआ। मेरी हिंदी बचपन से ही कुछ अच्छी थी। दसवें वर्ग में जाने पर मुझमें रचनात्मक शक्तियों और आत्मविश्वास का विकास हुआ।

मैं घर में कल्याण पढ़ा करता था। अतः महाभारत का संक्षिप्त ज्ञान मुझे था। दसवें वर्ग में कुछ आसपास बैठने वाले विद्यार्थियों पर प्रभाव जमा सका। मैं इन विषयों पर बहस भी करने लगा। हिन्दी में मुझे अच्छे नम्बर प्राप्त होते थे। अतः मेरे सहपाठी मेरे वाक्चातुर्य, महाभारत और अच्छी हिन्दी योग्यता का आदर करने लगे। इन लोहा मानने वालों की संख्या में धीरे धीरे विकास हुआ। लेकिन स्कूल-जीवन के अन्तिम दिनों में मेरा सभी से सम्पर्क नहीं हुआ।

मेरी सामाजिकता की भावना में वृद्धि अब भी नहीं हुई थी। अवसर विशेष पर ही मैं अपनी योग्यता दिखा पाता था। दूसरे विद्यार्थी जब कि जमकर क्लास में और सारे स्कूल में इधर,उधर घूम सकते थे, सभी से बातचीत कर सकते थे, हास परिहास कर सकते थे मैं बड़े अभागे व्यक्तियोंमें से था। इन गुणों का विकास स्कूल जीवन के बिलकुल अन्तिम दिनों में बहुत थोड़ा हुआ।

मेरी हिन्दी की योग्यता के कारण प्रवेशिका वर्ग में मुझे स्कूल के सरस्वती पूजन के अवसर पर एक धार्मिक अभिनय में भाग लेने का सौभाग्य मिला। मैं अपने घर से ही अभिनय की अधिकांश सामग्रियां ले गया था। इससे खासी धाक थी।

मैंराष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सदस्य दसवें वर्ग में ही हो गया था। पर प्रारम्भ के दिनों में मैं वहाँ जाने से हिचकता और भागता था। मैं खेलकूद में भाग लेना अपनी रुचि के विपरीत समझता था। आठवें नवे क्लास में मैं कभी कभी फुटबाल खेल लिया करता था और लूडो, पचीसी आदि घरेलू खेल खेला करता था। प्रवेशिका वर्ग में जब कि मैं एक अच्छा स्वयंसेवक हुआ मुझमें खेलने कूदने की योग्यता आई। प्रवेशिका वर्ग में मैं अच्छे नम्बर से पास कर गया। यह मेरी सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सातवें क्लास में मैं एक साधारण मास्टर से ड्राइंग भी पढ़ता था। इससमय लिपी का जमकर अभ्यास करने पर भी न जाने कौन सी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता

के कारण अभी अच्छी तरह नहीं लिख सकता हूँ । आठवें, नवीं क्लास में मुझे अच्छे नम्बर नहीं मिलते थे, क्योंकि मेरा ट्यूशन पढ़ना बिलकुल छूट गया और मैं घर पर भी बहुत ही थोड़ा पढ़ता था। दसवें और ग्यारहवें वर्ग में मैं पढ़ना तो चाहता था पर जी नहीं लगने के कारण भली भाँति नहीं पढ़ सकता था। बाहरी किताबों की बात और है उन्हें मैं जमकर पढ़ता था।

स्कूली जीवन में जो सर्वप्रधान बात रही वह है काम सम्बन्धी मेरी बुरी आदतें। १४ वर्ष की अवस्था में कुछ देहात के साथियों से उनकी प्रेमसम्बन्धी चर्चाओं के सुनने के बाद मुझे स्वप्नदोष होने लगा। दुर्बल तो मैं था ही शायद मेरी दुर्बलता के कारण और कुछ मानसिक स्थिति के कारण इस रोग ने मुझे अत्यधिक जर्जर कर दिया। मैं इससे अधिक सन्तप्त रहने लगा। बहुत छोटी अवस्था से ही मैं काम उत्तेजना का अनुभव किया करता था। मेरे सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों और लड़कियों सेमैं कामातुरता के कारण बुरा सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। इसमें मुझे कुछ के साथ सफलता और कुछ साथ विफलता मिली। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मेरा जितनी महिलाओं साथ बुरा सम्बन्ध रहा (उनकी इच्छा से नहीं मेरे जोर से) सभी की सभी असुन्दर रही हैं। शायद असुन्दर महिलाएं ही मेरे सम्पर्क में थीं भी। इस प्रकार मैं रचनात्मक आनन्द के अभाव में विकृत आनन्द प्राप्त करने लगा।

अब मेरी दुर्बलता दिनों दिन अधिकाधिक बढ़ती गई। १४-१५ वर्ष की अवस्था में इतनी बुरी अवस्था हो गई कि बहुत सी दवाओं का सेवन करना पड़ा जिनसे कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। थोड़ी सी भी मानसिक उत्तेजना होने पर वीर्य स्खलित होना कल्पना मात्र से ही वीर्य स्खलन, किसी स्त्री को देखने या बातचीत करने मात्र से ही वीर्य स्खलन होने लगा। बहुत दिनों तक स्मरण शक्ति का ह्रास, सर में चक्कर मानसिक अशान्ति आदि रोग सताते रहे। इसी बीच में गुप्तमैथुन सम्बन्धी आदतें भी मुझमें बुरी तरह और खूब रहीं।

अब मैं बहुत परेशान रहने लगा था। मैंने बहुत सी अच्छी पुस्तकें

(२) मेरा जन्म सन् १९०३ ई में जनवरी महीने में हुआ। पिता जी × × × के यहाँ नौकरी करते थे। इस समय घर पर रहते हैं, खेती करते हैं। १९३७ ई में मैंने वरना क्यूलर मिडिल की परीक्षा पास की। पश्चात् बनारस चला आया और × × × विद्यालय से १९४१ ई० में १० वीं श्रेणी उत्तीर्ण की। × × × में प्रवेश हुआ। सन् १९४७ ई० में × × × परीक्षा एवं सन् १९४९ ई० में × × × परीक्षा उत्तीर्ण की।

पारवारिक परिचयः—मेरे पिता जी दो भाई है। और उनके चचेरे भाई ४ हैं। ये सभी लोग साथ ही रहते थे। सन् १९४१ ई० में अलग हो गये। इस समय पिता जी अपने छोटे भाई के साथ रहते हैं। मैं चार भाई हूँ। बड़े भाई की आयु इस समय ३३ वर्ष की है। × × × में पिता जी काम करते हैं। दूसरे भाई की आयु ३० वर्ष की है तीसरा भाई मैं हूँ। चौथा भाई मुझसे छोटा है। मेरी आयु इस समय २५ वर्ष है। उसकी आयु इसी जनवरी में १७ वर्ष की पूर्ण हुई है। हम सभी लोग एक साथ ही रहते हैं। बड़े भाई साहब को तीन बच्चे, दूसरे भाई साहब को दो बच्चे, मुझे एक लड़की है। छोटे भाई की शादी हो चुकी है। इस प्रकार परिवार में कुल २० सदस्य है। मेरे चाचा तथा सभी भाई नौकरी करते हैं तथा पिता जी घर पर खेती करते हैं। कुल करीब १७ बीघे खेती होगी तथा कुल १५०) मासिक की आय। मेरे तीन भाई तथा चाचा घर से बाहर रहते हैं। अतएव परिवार को वर्ष में किसी कदर ९ महीने खेती पर निर्भर करना पड़ता है।

घटना— —सन् १९४२ ई० के ८ अगस्त की घटना है। देश में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी थी-मैं × × में पढ़ता था-यहाँ पर भी सरकारी ताला लग चुका था। सभी लोग गुप्त रुप से आन्दोलन में भाग ले रहे थे-मुझे भी उत्कण्ठा हुई मैं भी अपने चार साथियों के साथ × × × पहुँचा। वहाँ पहले से ही सात आठ विद्यार्थी मौजूद थे। वहाँ पर तोड़ फोड़ के साधनों को एकत्र करने की गुप्त मंत्रणा हो रही थी। मालूम हुआ कि × × × को पुलिस ने घेर लिया है-क्योंकि वहाँ के सभी विद्यार्थी भाग

ले रहे थे-मेरा हृदय भयभीत होकर बड़ा ही घबड़ा रहा था- मगर क्या करता अपने साथियों में मैं अपनी इस कमजोरी को कैसे प्रकट करता- दबाये रखा। रात भर सभी लोग सामान इकठा करते रहे मैं अपने दो समर्थकों के साथ तोड़ फोड़ के सामानों की देख रेख तथा बाहरी लोगों के आने की सूचना देने के लिए नियुक्त किया गया। उस समय मैं अपने भय से बड़ा परेशान था। यह कार्य खतम होने पर मैं वापस चला- सुबह हो गई। ऐसा मालूम हुआ कि मैंने नया जीवन पाया- तब तक × × बंद हो चुका था- फिर भी मैं हिम्मत बांधे रखा। अपने सभी साथियों के साथ बनारस में विभिन्न जगहों में छिप छिपकर कार्य करता रहा- × × आदि कई चीजों की प्रतियाँ ले लेकर एक्के पर इधर उधर पहुँचाया करता था इस तरह हजारों प्रतियों का गट्ठर खुले आम इधर उधर पहुँचाते समय भी हृदय की गति पूर्ववत थी- मगर मैं उसका बराबर दमन करता-क्योंकि प्रकट करने से लोग दब्बू और कायर कहते और मुझे निकाल देते अतएव मैंने अपनी इन भावनाओं को गुप्त रखा। इसके बाद सभी लोग पकड़गये या अपने जिलों को चले गये। मैं भी घर चला आया- उस समय मेरे बड़े भाई टाईफाईड से बीमार थे उनकी सेवा में लगा रहा। और एक प्रकार से मेरी इस प्रकार की सक्रियता समाप्त प्राय हो गई। फिर इसके बाद मैंने नौकरी करली।

सन् १९४४ ई० में मेरी शादी हुई। १९४३ ई० में मैं टाईफाईड से बीमार था- दिसम्बर में मैं स्वस्थ हो गया और काम करने लगा। मेरी शादी के लिए × × × एक सज्जन आये हुए थे। मालूम हुआ था कि वे काफी धनी हैं तथा लड़की भी काफी सुन्दर है। ये सज्जन ६ महीने से दौड़ रहे थे। होली भी अपने ही यहाँ उन्होंने मनाई। शादी तै हो गई। तिथि तै करना बाकी था--कि इसी बीच × × × आ गये और कहने लगे कि मैंने इनका विवाह करना सोचा है। इनके नाना साहब से तथा पिता जी से बड़ी घनिष्ठता थी। पिता जी अब निरुत्तर होने लगे। मैंने अपनी असहमति प्रगट कर दी थी। फिर भी बड़े लोगों द्वारा मेरे ऊपर दबाव डाला जाने लगा। मैंने एक लम्बा पत्र लिखकर नाना साहब को खरा खोटा सुनाया × × ×की स्त्री का देहान्त हो गया था। × × ×स्वयं उस लड़की से शादी

करना चाहते थे--और वह लड़की मेरी मौसी लगती थी। मैं इसके लिए कत्तई तैयार नहीं था। १३ अप्रैल को शादी की तिथि का निर्णय होने वाला था। × × × वाले सज्जन भी नाना साहब के कोई सम्बन्धी लगते थे। उन्होंने × × × लोगों पर दबाव डालकर हटा दिया और कहला भेजा कि देखें कि ये कैसे विवाह करते हैं। पिता जी ने तुरन्त दूसरी जगह शादी तै कर दी। मुझे इस तरह के व्यवहार से बड़ा ही खेद रहा। दूसरी जगह शादी हुई मगर मेरा हृदय उदास सा रहता था। वहाँ शादी में बहुत सी चीजें देने का वादा किया था। मगर सब कोरे ही वादे निकले। किसी ने कहा कि स्त्री भी सुन्दर नहीं है। इन सब बातों ने काफी मानसिक अघात पहुँचाया। शादी के बाद लौट कर जब घर आया तब माता जी और पिताजी पर बड़ा नाराज रहा। पिता जी को बराबर कोसता था। मगर मेरे साथियों ने कहा कि विवाह तो भाग्य से होता है--जहाँ संयोग होता है वहीं होता है। प्रयत्न करने से नहीं होता है। मैंने इन्हीं सब बातों के आधार पर धैर्य बाँधा। अपनी बड़ी साली को देखकर मुझे स्त्री के असुन्दर होने का सन्देह नहीं था, मगर मैं किसी प्रकार भी स्त्री को देख न सका था। अतएव सन्देह का निरावरण नहीं हो सका। गाँव के पास के एक साथी जो इनका कोई सम्बन्धी था, वहाँ वालों की बराबर शिकायत किया करता था। यही सब धारणा मेरी पहले से बन गई थी। मगर मैंने इस शादी के पीछे अपने माँ बाप को बहुत कोसा। दिल में यह भाव बराबर आ जाता कि जिससे मेरा सम्बन्ध हो गया है। उसके प्रति जरा भी अनिष्ट का भाव दिखलाना बड़ा भारी पाप होगा। वह तो अब मेरी हो चुकी है। मेरी बातों को सुनकर मेरी स्त्री को कितना दुःख होगा। अतएव स्त्री के सम्बन्ध में जो विचार आते तुरन्त उन्हें भुलाने की चेष्टा करता। इस प्रकार एक साल गुजरा। गौना आया। स्त्री के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ सुन रखा था--सभी असत्य निकला। हृदय को संतोष हुआ। मगर मेरी भाभी ने मेरी शादी के समय की मेरी सारी बातें मेरी स्त्री से कह दीं। स्त्री बार बार मुझसे पूछा करती थी। मैं बराबर उसका खण्डन ही करता रहता था। कभी और किसी सूरत में मैंने अपनी स्वीकृति नहीं दी। लेकिन इस तरह के प्रश्नों से मुझे इस बात का बोध होता था कि उसे मेरे विचारों से बहुत

कष्ट हुआ। मैं सदा अपने को इस बात से छिपाता रहा। यद्यपि हम दोनों का दाम्पत्य जीवन बहुत ही सौहृद पूर्ण रहा फिर भी उसकी बातों से मुझे आभास मिलता मानों उसका मेरे ऊपर सच्चा प्रेम नहीं है। वह सदा अपनी कमजोरियों तथा बेबशी पर अफसोस जाहिर करती कि पुरुष कितना निष्ठुर होता है।

पाँच छः महीने की बात है कि मैं डेरे से घर आने वाला था। दोपहर में मेरे एक साथी पहुँच गये। उन्होंने कहा कि मैं जाने का खर्च दूँगा और मुझे भी आशा थी। मगर उन्होंने मुझे वैसा नहीं किया। कोई घर पर जरूरी काम था। खर्चे की आशा से मैं भी और वे भी चले। करीब एक मील तक मेरे साथ चलते आये। मुझे काफी देर हो चुकी थी और उनके इस व्यवहार से बहुत क्रोध आ रहा था। मैं घर न जा सका। वहाँ से वापस चला आया। मगर उन्होंने इसकी ज़रा भी परवाह न की। वे अपने घनिष्ट मित्रों में से थे। मगर उनके उस दिन के व्यवहार से बड़ा रुष्ट रहा। उनके मजाक से मेरा काम ढीला रहा।

सन् ४५ तथा सन् ४७ की बात है कि मेरी स्त्री के भाई तथा उसके भतीजे की मृत्यु हो गई। बस उसने रोना शुरू किया। रोते रोते सप्ताह बीत जाते। यह क्रम महीनों चला करता था। मैं यह देखकर भीतर ही भीतर अपने क्रोध को दबा लेता था। घर के सभी लोग चुप कराने के लिए परेशान रहते। परन्तु वह सबकी उपेक्षा करती। मैं अपना गुस्सा पीकर बाहर चला आता। (यह लिखते समय मुझे मृत्यु का भय Death wishes, परेशान कर रही है और नाना प्रकार के विचार मस्तिष्क में आ रहे हैं। क्योंकि यहां सम्बन्ध से ये बातें दिमाग में आ गईं।)

जब वह फिर घर आई तब वह बहुधा मजाक किया करती। मुझेकाफी मानसिक उत्तेजना होती। एक बार आँगन में मजाक की सीमा पार हो गई। मेरी किसी बात पर वह तमतमा उठी। उसका चेहरा लाल हो गया। वह आँगन में एक ओर चुप होकर बैठ गई। मैं बड़ा दुःखी हुआ। मजाक करना एकदम बन्द कर दिया और उस घटना को विस्मृत कर दिया। फिर जब उसने बोलना शुरू किया तभीं उससे बोला। उनको देखते

ही मेरे सामने उसका तमतमाया हुआ चेहरा सामने आ जाता था जिससे मुझे बड़ी ग्लानि हुआ करती थी। बहुधा उसके मजाक काम जीवन सम्बन्धी हुआ करते थे।

सन् १९३५ ई० में मैं मिडिल स्कूल में पढ़ने गया उस समय मेरी आयु १३ वर्ष की थी। मेरी कक्षा के मास्टर साहब मेरे गाँव के करीब के थे। घर वालों का वे काफी सम्मान करते थे। इन्हीं के भतीजे ने मुझे प्राइमरी पास कराया था, अतएव वे भी मुझे बहुत मानते थे। बहुधा मास्टर साहब मुझे अन्य विद्यार्थियों के सम्मुख एक आदर्श विद्यार्थी के रूप में रखते और मेरी सभी से प्रशंसा किया करते थे। मेरी कक्षा में और मेरे दो साथी थे जो कि मुसलमान थे उर्दू पढ़ते थे। हम तीनों लड़कों को हेड मास्टर साहब उर्दू पढ़ाते थे। मेरे ऊपर उनकी विशेष कृपा रहती थी—ऐसा लोग समझते थे। स्कूल में रात्रि के समय भी पढ़ाई होती थी मगर मुझे कक्षा में तेज होने के कारण मुक्ति मिल गई थी। मेरा हेड मास्टर साहब से और किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। दो विद्यार्थी हेड मास्टर साहब के साथ रहते थे—अतएव लोग उनके चरित्र पर संदेह करते थे। मैं सदा उनके पास पढ़ने जाने से घबड़ाता था; परन्तु मजबूरी थी और किसी से मैं अपनी इस कमजोरी को कह भी नहीं सकता था। किसी प्रकार वर्ष गुजरा। ६ वीं कक्षा में प्रवेश हुआ। हेड मास्टर साहब ही पढ़ाते थे। कुछ दिन के पश्चात् हेड मास्टर साहब ने आत्महत्या कर ली। सारा वातावरण देखकर स्तब्ध रह गया। मुझे कुछ राहत मिली; हृदय का भार जैसे हलका हुआ। अब अध्ययन सुचारू रूप से चलने लगा।

मुझसे एक बड़ी बहन थी। उसकी शादी बड़ी धूम धाम से हुई थी। पिताजी घर के मालिक थे। वे काफी पैसा कमा रहे थे। घर का सारा भार उन्हीं पर था—उस समय परिवार में ४० सदस्य थे। १९३५ ई० में बड़े भाई की शादी हुई। इनकी भी शादी बड़ी धूम धाम से हुई। १९३७ ई० में इनका गौना हुआ। मैं उस समय सातवीं कक्षा में पढ़ता था। मैं १६ वर्ष का हो गया था। घर सर्व प्रथम बहू आई थी। अतएव लोग में काफी उत्साह था। चौथा भाई बहुत छोटा था। अतएव उनकी हँसी मजाक का मैं ही निशाना बना करता था। मार्च में परीक्षा समाप्त हो गई। घर पर ही रहता

था। घर पर मैं मानसिक एवं शारीरिक उत्तेजनाओं के कारण काफी डाँवाडोल हो गया था। अज्ञानवश हस्थमैथुन की ओर प्रवृत्ति हुई। मगर "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तक पढ़ने को मिली। मुझे ऐसा बोध हुआ कि मुझे जीवन मिला। कई बार पढ़ गया। मानों गिरते हुए सँभल गया। अपने को उच्च आदर्शों की ओर लगाने की अभिलाषा पैदा हुई। पुस्तक को अपन उद्धार समझा, क्योंकि हस्थमैथुन की भयंकरता से मैं काँप उठा। यह जून की घटना थी। जुलाई में मैंने मेरा नाम × × × विद्यालय में लिखाक। छात्रवास में मुझे रक्खा गया। यहां का वातावरण ही कुछ और प्रकार का था। घर से बाहर रहने का पहला अवसर था, अतएव मेरा जी नहीं लगता था। मैं छिपे छिपे रोता और घर भाग जाता था। मुझ से छोटे छोटे लड़के विहार से आकर रहते थे। मैं अपने को ऐसी अवस्था में पाकर कभी कभी अपने को धिक्कारता था। परन्तु फिर भी ढाढ़स न बँधता था। माता जी की विशेष कृपा थी। अतएव मुझे अधिक परेशानी न उठानी पड़ती थी।

कठोर नियंत्रण:—घर के सभी लोग राष्ट्रीय विचार के हैं। × × १९३०, ३१, ३२, के राष्ट्रीय आन्दोलन में कई बार जेल जा चुके थे--१९३२ ई० के तथा १९३० ई० के आन्दोलन इस मंडल का केन्द्र अपना गाँव हो था। कार्य कर्त्ताओं की हमेशा जमघट लगी रहती थी--इनकी सेवा करने क भार अपने ही परिवार वालों पर रहता था अतएव अपेक्षतया पिता जी के चाचा जी का निमंत्रण कठोर रहता था--घर के मालिक भी एक प्रकार से यही थे। हम लोग हमेशा इनसे भयभीत रहते। मेरे ऊपर भी इनका रोब खूब रहा।

मैं पिता जी के साथ डेरे पर रहता था। उस समय हम लोग × × × ४ व्यक्ति थे। डेरे के सामने ही एक × × साहब रहते थे। × × साहब से और पिता जी में बड़ी घनिष्ठता थी। दिन में कई बार आकर मेरी कोठरी में उठते बैठते। उनके दोनों लड़कों से बराबर सम्बन्ध रहा। छोटे लड़के को मैं पढ़ाया करता था। × × साहब की दो पुत्रियाँ और एक भतीजी १० वीं, ९ वीं, और ८ वीं श्रेणी में पढ़ती थी। × × साहब की भतीजी बड़ी चंचल थी। अक्सर वह × × पर बैठी रहती थी। कुछ समय बाद वह अपने घर

चली गई। दूसरी पु ी काफी सुन्दर थी दोनों अविवाहित थी। × × अक्सर ध्यान आकर्षित किया करती थी। मैं अक्सर उनके घर आता जाता था। हर प्रकार का घरेलू व्यवहार था। मैं जब कभी मैं उनके घर जाता, अथवा वह कहीं भी दिखाई पड़ती मेरा दिल खिंच जाता था एक द्वन्द्व मन में चला करता था। जिसका पिता मुझे तथा मेरे पिता को इतना मानता है मेरी किसी प्रकार की हरकत उसके पिता के प्रति बहुत बड़ा विश्वास-घात होगा। अतएव मैं अपने को बड़ा संयमित रखता था--यद्यपि मैं अपनी मानसिक और शारीरिक उत्तेजनाओं से काफी परेशान रहा करता था। साथ ही कभी कभी उससे बातचीत तथा न मिल सकने के कारण अपनी दुर्बलता पर बड़ा खेद भी होता। १९४२ के आन्दोलन के समय भी बराबर ×× साहब से मिलने जाया करता था--जिसका एकमात्र कारण उसके दर्शन एवं सम्भाषण का रहता। १९४१ ई० तक मैं जब कभी जाता इसी उद्देश्य से जाता। मगर वह एकाएक × × की बीमारी से मर गई। सुनकर दुःख हुआ। उसका अन्तिम दर्शन न हो सका।

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो लोग मुझे सुन्दर कहते थे। परन्तु मुझे सुन्दर होने का लेशमात्र भी दिखावा न था। जब मैं आठवीं श्रेणी में पढ़ता था--संस्कृत की एक पुस्तक सटीक नहीं थी। मैं वापस करना चाहता था--मेरे एक साथी ने कहा कि मेरे यहाँ आना मैं चलकर वापस करा दूँगा। मैं पुस्तक लेकर उसके यहाँ गया। × × × रास्ते में ही वह मिला कहा कि मेरे घर चलिए--मगर उसके दुर्विचार का मुझे आभास मिल गया--मैं शीघ्र ही उसके घर के दरवाजे से चला आया--बहुत क्रोध भी आया और उससे बोलना तक बन्द कर दिया। अन्त में वह स्कूल छोड़कर चला गया। मैंने अपने को अब मुक्त समझा। मुझे शुरू से ही ऐसे लोगों से बड़ी घृणा होती थी।

जब मैं स्पेशल में पढ़ता था × × नामक विद्यार्थी ८वीं में पढ़ता था। उसका शरीर एकदम पीला हो गया था--कुछ लोगों का कहना था कि उसे क्षय हो गया है। मेरे ऊपर 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' की पूरी छाप थी अतएव उसे हेय दृष्टि से देखता था. योंतो उससे मित्रता थी ही। इसने कुछ दिन बाद अध्ययन करना छोड़ दिया। हम लोग दस बारह विद्यार्थियों में एक बिहार का था, जो

बहुत अच्छा गाता था। मुझे गाना सुनाता भी था उसकी मृत्यु काला जार से या क्षय से होगई--ठीक याद नहीं--इसी वर्ष मुझे शीर्षासन की पुस्तक मिली--इसकी योगी जीने अत्यधिक महत्ता बतलाई थी--मुझे उस समय कुछ नज़ला हो गया था--तुरन्त योगी जी की बताई विधि के अनुसार शुरू कर दिया--ठीक होने को कौन कहे--सीने में जलन पैदा हो गयी। पिताजी हकीम जी की दवा करने लगे--३,८ माह तक दवा की--इस बीच में भी मुझे क्षय का भय और झक सवार हो गयी थी--और पुस्तकों में जो जो लक्षण पढ़ा था--वही सब लक्षण अपने में पाने लगा। इस तरह उस समय आजकल की ही तरह मुझे मानसिक परेशानी थी। मगर तबीयत ठीक होते ही सब ठीक हो गया--मेरी इस झक से पिताजी तथा चिकित्सक दोनों परेशान थे। स्वस्थ होने के बाद जिस किसी से मैं सुन लेता कि अमुक व्यक्ति क्षय से मर गया--मैं बहुत ही भयभीत हो उठता। मेरे ×× का लड़का जो मेरे समवयस्क था--पढ़ने में, तथा व्यवहार में मैं उसके साथ प्रति द्वन्दता करता था- उसकी मृत्यु भी क्षय से हो गई थी। कहने का तात्पर्य यह कि कहीं भी क्षय शब्द, या रोगी, या समाचार सुन लेता मेरा हृदय कंप उठता था। ठीक यही अवस्था इस समय की है।

